उराँव संस्कृति : परिवर्तन एवं दिशाएँ

डॉ० शान्ति ख़लख़ो



उराँव संस्कृति : परिवर्तन एवं दिशाएँ

डॉ० शान्ति ख़लख़ो

कुड़ुख़ विकास समिति
राँची

प्रकाशक – कुड़ुख़ विकास समिति

लेखिका – डॉ० शान्ति ख़लख़ो

प्रथम संस्करण – 2009

ISBN - 978-81-906293-1-7

मूल्य - पुस्तकालय संस्करण - 400 /-

- सामान्य --------- - 250 /-

मुद्रक – काथलिक प्रेस राँची

पुस्तक मिलने का स्थान –

'मधुकुंज'
कार्तिक उराँव
कुड़ुख़ लूरकुड़िया,
करमटोली चौक,
मोराबादी रोड,
राँची - 834008

फोन नं० - 0651-2550599/2552459
मो० - 9905328984

समर्पण

चिरस्मरणीय पूजनीया



फूवा स्व० हीरामनी

एवं



सासु माँ स्व० हेमांगिनी

की पुण्य स्मृति में सादर
समर्पित

शान्ति

पुरोवाक्

आदिवासी मामलों की जानकार विदुषी डॉ॰ शांति ख़लख़ो के द्वारा रचित पुस्तक 'उराँव संस्कृति : परिवर्तन एवं दिशाएँ' के अध्ययन एवं विश्लेषण से यह तथ्य उभर कर सामने आया कि उक्त पुस्तक सघन शोध कार्य के द्वारा संग्रहित सूचनाओं के आधार पर एक मौलिक रचना है । यद्यपि यह पुस्तक उनके पीएच॰ डी॰ डिग्री प्राप्ति हेतु लिखित शोध प्रबन्ध 'उराँव जनजाति में सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा' के सार सामग्रियों पर आधारित है अपितु उराँव संस्कृति एवं उनके विभिन्न पहलु तथा सामाजिक विन्यास, सांस्कृतिक परिवेश तथा आर्थिक गतिविधियों की बेजोड़ प्रस्तुति है ।

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान संकायों से जुड़े अध्ययनरत छात्रों, शोधार्थियों, शिक्षकों एवं आदिवासी मामलों के विशेषज्ञों के लिए यह पुस्तक अत्यंत लाभकारी होगा, इसमें लेसमात्र का संदेह नहीं है । मेरी समझ में डॉ॰ शांति ख़लख़ो की यह कीर्ति उनके सामाजिक एवं बौद्धिक वयस्कता का पुख्ता सबूत है । विषय व्यापकता के साथ-साथ वैज्ञानिक एवं तकनीकी रूप से दुरुस्त होना किसी भी पुस्तक के लिए अपेक्षित प्रसंग हैं, वे इस पुस्तक में समाविष्ट एवं सन्निहित हैं ।

यह कथन सही है कि पुस्तकें संस्करणों की श्रृंखला में ही उमदा और परिपक्व होती हैं जिनकी गुंजाइश सर्वथा बनी रहती है, यह अवसर इस पुस्तक की लेखिका के साथ भी उपलब्ध है । पुस्तक की प्रशंसा पाठक अवश्य करेंगे, इसका मुझे पक्का विश्वास है । लेखिका अपने प्रयास में सफल हुई हैं इस पर हम सभी पाठक एक मत होंगे । लेखिका डॉ॰ शांति ख़लख़ो की बौद्धिक क्षमता एवं सामाजिक प्रखरता और अधिक कर्मठ हो इसकी मैं कामना करता हूँ ।

डॉ॰ करमा उराँव
विश्वविद्यालय आचार्य एवं पूर्व अध्यक्ष
मानव विज्ञान विभाग
राँची विश्वविद्यालय, राँची
दिनांक 11/5/2008

शुभकामना

उराँव जनजाति की अपनी खास गौरवमयी परंपरा रही है । किसी जमाने में ये रोहतास के 'राजा' थे । इनकी अपनी शासन-व्यवस्था थी जिसे पड़हा-पंचायत कहा जाता है । यह व्यवस्था सामाजिक स्तर पर आज भी कायम है ।

झारखण्ड में इनकी शिनाख्त प्रथम शताब्दी से मिलती है । 83 ई० में झारखण्ड के 'राजा' मदरा मुंडा ने अपने पाल्य फणिमुकुट राय को राज्यभार सौंपने के इरादे से पड़हा-पंचों, मानकी-मुंडाओं की जो सभा आहूत की थी, उसमें उराँवों के भी प्रतिनिधि शामिल थे । वेणी राम महया कृत 'नागवंशावली' में इसका उल्लेख है । आर० आर० दिवाकर द्वारा संपादित 'बिहार थ्रू एजेज' के अवगाहन से यह भी पता चलता है कि बख्तियार खिलजी के गौड़-अभियान (1206 ई०) के समय उसकी सेना के साथ उराँवों का दूसरा जत्था रोहतास से झारखण्ड आया और कालक्रम से सोन-घाटी और राजमहल के इर्द-गिर्द बस गया । मांडर के निकट 'मुड़मा' नामक गाँव में जो मेला लगता है, वह योगेन्द्रनाथ तिवारी के अनुसार उसी ऐतिहासिक अवसर का स्मृति-शेष है । आज भी वहाँ प्रतिवर्ष उराँवों के सभी पड़हा विजय-मुद्रा में उत्सव मनाते हैं ।

झारखण्ड की सभी जनजातियों में कमोवेश इसी तरह के अनेक स्मृति-शेष हैं । मुंडा इलाकों में यह 'इन्द मेला' की शक्ल में आयोजित होता है जो संभवत: मदरा मुंडा और फणिमुकुट राय की संधि तथा मानकी मुंडा और पड़हा-पंचों द्वारा उसकी स्वीकृति की निशानी है ।

झारखण्ड के दूरस्थ गाँवों में यहाँ प्राचीन गणतंत्रात्मक व्यवस्था और स्वायत्तता किसी हद तक आज भी कायम है । झारखण्ड की इतर जातियों में इसके अवशेष आज भी मौजूद हैं । हाल-हाल तक गाँव के मुंडा, महतो, पाहन, दीवान, चौधरी, प्रधान, मांझी, परगनइत आदि इसके संचालक हुआ करते थे ।

लेकिन कालक्रम से इस परंपरा की शक्ति क्षीण होती गयी । इसका मूल कारण औपनिवेशिक शासन और शोषण है । प्रतिरोध की अनवरत चेष्टा और निरंतर विद्रोह के बावजूद यहाँ के मूलनिवासी (आदिवासी और सदान) अपनी स्वायत्तता की रक्षा नहीं कर सके । देश की आजादी और झारखण्ड राज्य के गठन के बाद भी यह प्रक्रिया जारी है ।

वस्तुत: हमारे देश में विकास के नाम पर जिस पूंजीवादी मॉडल को अंधवेग से लादा गया, वह बेहद घातक सिद्ध हुआ है । नयी अर्थनीति उसका सबसे जहरीला विषदंत है । इसके कारण हमारी परंपरागत सुख-शांति नष्ट होती जा रही है विस्थापन, विघटन, प्रदूषण, अवमूल्यन, भ्रष्टाचार इसके अनिवार्य परिणाम हैं । मुट्ठी भर अभिजनों के विकास के लिए बहुजनों का विनाश किया जा रहा है ।

उराँव जनजाति के अतीत और वर्तमान की शिनाख्त करते हुए डॉ० शांति ख़लख़ो ने अपने इस शोध-प्रबंध में उराँव समाज के ह्रास के कारकों की बारीक तलाश की है । डॉ० ख़लख़ो देश-विदेश के प्रत्यक्ष अनुभवों से समृद्ध हैं । उन्होंने प्रामाणिकता के तथ्यों के मर्म का उद्‌घाटन किया है । अपने विभाग की छात्रा की इस उपलब्धि से मुझे संतोष हो रहा है । मेरी शुभकामना उनके साथ है । आशा है, इस ग्रंथ का सर्वत्र स्वागत होगा ।

विसेश्वर प्रसाद केशरी
ता० 18/3/2008
पिठोरिया, राँची -834006

आभार प्रतिवेदन

आपके समक्ष प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध ईश्वरीय कृपा का फल है जिन्होंने मुझे तन-मन से स्वस्थ रखा और इस शोध-प्रबन्ध को यथावत् पूरा करने में सहायता प्रदान की। सबसे पहले मैं उनको विनती, अपनी भक्ति और धन्यवाद अर्पित करती हूँ।

मेरे शोध-प्रबन्ध के निर्देशक डॉ० हरदेव नारायण सिंह, पूर्व प्राध्यापक जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग, राँची विश्वविद्यालय राँची जो मेरे गुरु भी हैं। जब मैं एम० ए० षष्ठ वर्ष में पढ़ रही थी उसी समय मैंने "उराँव जनजाति में सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा" में अपना लघु-शोध तैयार किया था। उस समय से मेरी प्रबल इच्छा थी कि मैं इस पर शोध-प्रबन्ध लिखूँ। मेरे लघु-शोध को देखकर डॉ० सिंह ने मुझे इसी विषय पर शोध कार्य करने की प्रेरणा दी। फलतः मैंने भी उपर्युक्त विषय पर शोध-प्रबन्ध तैयार करने का निश्चय किया। इस शोध-प्रबन्ध में सभी प्रकार की अशुद्धियों पर उनकी पैनी दृष्टि बरकरार रही। इनके साथ अनवरत विचार-विमर्श से मेरे इस दुरूह विषय को सुगमता मिली। उनके परिवार के अपनत्व से मैं अभिभूत हूँ। उन्होंने मुझे कभी निराश नहीं किया। उनके स्नेहिल मार्ग-दर्शन एवं निर्देशन में यह शोध सार्थक हो सका। मैं अपने हृदय की गहराइयों से उनके प्रति अपना आभार प्रकट करती हूँ। मैं इनके प्रति नमतस्तक हूँ।

प्रस्तुत शोध-कार्य करने की प्रेरणा मुझे प्रकाण्ड भाषाविद् एवं संस्कृतिविद् डॉ० रामदयाल मुण्डा, पूर्व कुलपति राँची विश्वविद्यालय, राँची तथा इसी विश्वविद्यालय में जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग के पूर्व विभागाध्यक्ष के सान्निध्य में रहकर प्राप्त हुई। दुनिया भर में आदिवासी संस्कृति की पहचान कराने वाले डॉ० मुण्डा का व्यक्तित्व मुझे सदा प्रेरित करता रहा कि मैं भी संस्कृति से जुड़ी जड़ों को नजदीक से जानूँ और समझूँ। इन्हीं की छत्रछाया और सीख ने मुझे विदेशों में भ्रमण कर कई सेमिनारों में भाग लेने का मौका दिया। मैं उन्हें किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ। उनके प्रति आभार प्रकट करना एक औपचारिकता ही होगी।

नागपुरी भाषा-साहित्य के मूर्धन्य विद्वान डॉ० बी० पी० केशरी (पूर्व कार्यकारी विभागाध्यक्ष) मुझे शोध-कार्य के लिए हमेशा प्रोत्साहित करते रहे हैं। इनके द्वारा पिठोरिया में स्थापित नागपुरी शोध-संस्थान के पुस्तकालय से सहायता लेने की इन्होंने पूरी छूट दी। कई एक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें उक्त शोध-संस्थान में मिली जिनका मैंने अपने शोध-प्रबन्ध में भरपूर उपयोग किया। मैं उनके प्रति हार्दिक आभार अभिव्यक्त करती हूँ।

जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग के विभागाध्यक्ष प्रो० इन्द्रजीत उराँव को मैं हृदय से धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने उराँव जनजाति के अनेकानेक सांस्कृतिक पहलुओं पर विशेष जानकारी दी है। इनके साथ विचार-विमर्श कर मुझे अनेक नवीनतम जानकारियाँ मिली है। मैं इनके प्रति आभार व्यक्त करती हूँ।

जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग, राँची विश्वविद्यालय राँची के प्राध्यापक डॉ० गिरिधारी राम गौंझू 'गिरिराज' ने समय-समय पर शोध-प्रबन्ध से सम्बन्धित बहुमूल्य विचारों से सदा मेरी उल्लेखनीय सहायता की। उनके प्रति मैं आदर के भाव रखते हुए हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती हूँ।

विभागाध्यक्ष डॉ० कुमारी बासन्ती के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मुझे अनेक प्रकार से सहायता प्रदान की है। मेरे विभाग के पूर्ववर्ती शोधार्थी श्री गणेश मुर्मू के सहयोग को मैं कभी भूल नहीं सकती। उनके प्रति मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ।

इस विभाग के पुस्तकालय-प्रभारी डॉ० राजाराम महतो, लिपिक श्री अशोक उराँव, रात्रि प्रहरी श्री धर्मा मुण्डा को भी मैं धन्यवाद देना चाहूँगी जिन्होंने मुझे इस शोध-कार्य को पूरा करने में सहायता पहुँचायी है। इसी विभाग में कार्यरत बूनी दीदी जिन्होंने मुझे मातृत्व-सा प्यार दिया अब वह इस दुनिया में नहीं रही, उनके प्रति मैं श्रद्धांजलि अर्पित करती हूँ। छात्र किशुन उराँव और ठाकुर प्रसाद मुर्मू को मैं कैसे भूल सकती हूँ। उनके सहयोग के लिए हार्दिक धन्यवाद एवं शुभकामनाएँ देती हूँ।

प्रस्तुत शोध-कार्य में प्रारम्भ से अन्त तक सहयोग करने वालों में मुख्य रूप से डॉ० जे० एच० आनन्द, थियोलॉजिकल कॉलेज जबलपुर, मध्यप्रदेश, इनके अथाह स्नेह और आशीर्वाद के लिए मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देती हूँ। फादर लीनुस कुजूर, संत अलबर्ट कॉलेज राँची, रेव० मनमसीह एक्का, गोस्सनर थियोलॉजिकल कॉलेज, राँची, डॉ० विरजिनियस खाखा पूर्व विभागाध्यक्ष समाजशास्त्र विभाग, दिल्ली युनिवर्सिटी, भाषाविद् डॉ० शामलाल प्राध्यापक भारतीय भाषा संस्थान मैसूर के प्रति मैं अति कृतज्ञ हूँ।

झारखण्ड के सम्मानित नेता श्री प्रभाकर तिर्की ने भी मुझे उराँव संस्कृति के जमीन से जुड़े पहलुओं पर अनेक जानकारियाँ दीं। उनके प्रति मेरी कृतज्ञता मात्र औपचारिकता ही होगी।

मेरी मित्र अपर्णा लांजेवार प्राध्यापिका, अंग्रेजी विभाग, मुम्बई युनिवर्सिटी को मैं हृदय से धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने मेरे शोध-विषय से सम्बन्धित कई पुस्तकें देकर समय-समय पर मेरी मदद की है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को पूरा करने में मेरे परिजनों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इन्होंने मुझे गृह कार्य के झंझटों से मुक्त रखा और मेरे शैक्षिक कार्य को प्रशस्त किया। मेरी फूफू स्व० हीरामणि और मेरी सास स्व० हेमांगिनी ख़लख़ो ने मुझे पुत्री का प्यार दिया है मेरे प्रति दोनों ने बड़ी आत्मीयता दिखाई। किसी भी स्थिति में मैं उनसे उऋण नहीं हो सकती। उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए मेरे पास उपयुक्त शब्द नहीं है। उनके आशीर्वाद का प्रतिफल ये शोध-प्रबन्ध है। काश! आज वे दोनों जीवित होती तो कितनी खुश होती। यह शोध-प्रबन्ध मैं उन्हें श्रद्धांजलि के रूप में अर्पित करती हूँ।

मेरे पति की असीम सहायता और प्रेरणा से ही मैं आज यहाँ तक पहुँच सकी हूँ। वे सदैव मुझे उच्च शिक्षा के लिए प्रेरित करते रहे हैं। उन्होंने मुझे कभी भी अर्थ की कमी महसूस होने नहीं दी। यही नहीं, शोध-प्रबन्ध के क्रम में उन्होंने मुझे गृह कार्य के दायित्व से मुक्त किया। मैं उन्हें कैसे कृतज्ञता अर्पित करूँ ये मेरे लिए कठिन हो रहा है। डॉ० राजू को मैं हृदय से धन्यवाद देती हूँ। इस शोध प्रबन्ध को पुस्तक का रूप देने में इनके सहयोग को मैं कभी नहीं भूल सकती।

अपनी प्यारी पुत्री मनीषा, नीतिशा और प्यारे पुत्र रोहित रीझा को इस अवसर पर मैं कैसे स्मरण न करूँ। इन्होंने शोध-क्रम में वर्षों तक बड़े उत्साह और उल्लास के साथ मेरे कार्य में सहयोग दिया। कई बार मेरी जिम्मेदारियों का भी निर्वाह किया। मेरी छोटी पुत्री नीति को मैं विशेष रूप से स्नेहिल धन्यवाद देती हूँ जिसने मेरे शोध-प्रबन्ध लेखन से सम्बन्धित प्रत्येक कार्य में मेरी सहायता की है।

मेरी प्यारी बहन सोमारी मेरी अनुपस्थिति में भी गृहकार्यों को सफलता पूर्वक निभाती रही और मेरे बच्चों का पूरा-पूरा ख्याल रखा। इस योगदान की कीमत मैं उसे कभी नहीं चुका सकती वह धन्यवाद की पात्रा है।

इस शोध-प्रबन्ध को पूरा करने में जिन पुस्तकालयों का उपयोग मैंने किया। उनके पदाधिकारियों को मैं समवेत रूप में कृतज्ञता अर्पित करती हूँ।

क्र० सं०	पुस्तकालय	पता	सम्बन्धित व्यक्ति
1	जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग राँची विश्वविद्यालय राँची-8	जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग राँची विश्वविद्यालय राँची-8	डॉ० राजाराम महतो
2	झारखण्ड जनजातीय शोध संस्थान	मोराबादी राँची,	डॉ० प्रकाश उराँव (निदेशक)
3	रामकृष्ण मिशन लाइब्रेरी	टैगोर हिल, राँची	–
4	संत अलबर्ट कॉलेज पुस्तकालय	पुरूलिया रोड राँची-1	फा० लीनुस कुजूर
5	तरूणोदय, पुस्तकालय	अरसन्डे, काँके राँची	फा० अमृत तिर्की (निदेशक)
6	सेन्ट्रल युनिवर्सिटी पुस्तकालय	हैदराबाद, आन्ध्र प्रदेश	–
7	राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्	अरविन्दो मार्ग, नई दिल्ली	डॉ० नीरजा शुक्ला
8	जवाहरलाल नेहरू युनिवर्सिटी	नई दिल्ली	–
9	नेहरू मेमोरियल लाइब्रेरी	दिल्ली	–
10	इन्डियन सोशल इन्स्टीच्यूट	लोधी रोड, नई दिल्ली	–
11	भारतीय भाषा संस्थान पुस्तकालय	मानसगंगोत्री, मैसूर, कर्नाटक	डॉ० फ्रांसिस एक्का, डॉ० शामलाल
12	नेशनल लाइब्रेरी	कोलकाता, पश्चिम बंगाल	–
13	गार्गी कॉलेज	नई दिल्ली	श्रीमती आशा लीलिमा बाखला

इस शोध-प्रबन्ध की तैयारी में कई ग्रामीणों एवं रिश्तेदारों का भी सहयोग मिला। मैं उन सभी को हार्दिक धन्यवाद देती हूँ। इन्होंने मुझे गाँव के रीति-रिवाज, धर्म-संस्कार तथा संस्कृति के सम्बन्ध में विविध जानकारियाँ दी हैं। इनमें प्रमुख है :-

क्र० सं०	नाम	पता
1.	स्व० बिगा उराँव	ग्राम पलमा, पो० इटकी, जिला- राँची
2.	स्व० लोहरा उराँव	ग्राम सिसई, गुमला
3	प्रो० गोरा उराँव	सिसई कॉलेज, सिसई गुमला
4.	श्री रामदयाल उराँव	ग्राम हनहट, जिला- लोहरदगा
5.	स्व० बाँदो उराँव	फुलसूरी, लोहरदगा
6.	श्री मँगरा कुजूर	वैद्यावाटी, आदिवासीपाड़ा, कोलकाता
7.	श्रीमती सीता टोप्पो	करमटोली, राँची
8.	श्रीमती कृष्णा उराँव	करमटोली, राँची
9.	श्रीमती लखमनी कुजूर	खिजुरिया टोली, राँची
10.	श्री थियुदुस लकड़ा	छिछवानी, गुमला
11.	श्रीमती जीतन कच्छप	पीड़ी करमटोली
12.	श्रीमती फुलमनी कच्छप	पीड़ी करमटोली

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध जो अब पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो रहा है, को पूरा करने में अनेक विद्वानों के ग्रन्थों, अप्रकाशित लघु शोध-प्रबन्धों, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों तथा शोध पत्रों से पर्याप्त सहायता मिली है । मैं उन सबों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ।

मेरे उन शुभचिन्तकों को मैं धन्यवाद देती हूँ, जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मेरी सहायता की है ।

शान्ति ख़लख़ो
स्नात्तकोत्तर जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग,
राँची विश्वविद्यालय, राँची ।

भूमिका

आदिकाल से रहते आ रहे भारत वर्ष के मूल निवासियों में एक प्रमुख आदिवासी (जनजातीय समूह) है – उराँव । उराँव भारत वर्ष के मूल निवासी हैं। इनका मूल नाम कुड़ुख़ है इनकी अपनी भाषा है जिसे 'कुड़ुख़' कहते हैं ।

झारखण्ड इनका मूल निवास स्थान है । इसके अलावा पूरे भारत वर्ष में इनका भौगोलिक वितरण है । जैसे- बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, पंजाब, उत्तर प्रदेश, असम इत्यादि । अलग-अलग प्रदेशों में इन्हें अलग-अलग नामों से जाना जाता है । अण्डमान द्वीप समूह, नेपाल, भूटान, बर्मा आदि जगहों में भी इन्हें अलग कई नामों से जाना जाता है जैसे-किसान, कोड़ा, धांगर इत्यादि । कई नामों से पुकारे जाने के कारण इनकी आबादी का सही आकलन नहीं हो पाता है और इसका असर इनके जीवन पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ता है ।

सन 1981 की जनगणना के अनुसार पूरे भारत वर्ष में कुल जनजातियों की आबादी 51,628,638 थी 1981 की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार बिहार में उराँव जनजाति की कुल आबादी 10,54,066 थी ।

लम्बे संघर्ष के बाद सन् 2000 में आदिवासियों को नये राज्य के रूप में झारखण्ड मिला । झारखण्ड में कई आदिवासी समुदाय निवास करते हैं जिसमें मुण्डा, हो, संताल, उराँव, खड़िया, बिरहोर, कोरवा, असूर, नगेशिया, पहड़िया, लोहरा, महली इत्यादि प्रमुख हैं । संताल आदिवासियों की आबादी सबसे अधिक है । इसके पश्चात् उराँवों की आबादी है । कुछ आदिवासी बहुत कम हैं जिन्हें सरकारी खाते में आदिम जनजाति कहा जाता है ।

उराँव परम्परा के अनुसार इनका प्रवर्जन कोंकण से होता हुआ नर्मदा किनारे-किनारे हड़प्पा एवं सिन्धु सभ्यता को इंगित करता है । वहाँ आर्यों का आगमन एवं उनके हस्तक्षेप से वे धीरे-धीरे रोहतासगढ़ पहुँच गये एवं वहाँ उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया । वहाँ से भागकर ये छोटानागपुर के पठारी क्षेत्र में आ बसे यहाँ पहले से मुण्डाओं का राज था । मुण्डाओं ने इन्हें आश्रय दिया छोटानागपुर की उबड़-खाबड़ पथरीली जमीन एवं जंगलों को साफ करके उराँवों ने अपने गाँव बसाये एवं जीविका के लिए कृषि कार्य करना प्रारंभ किया। साथ ही जंगल के फल-फूल एवं कंद मूल से अपना पेट भरते थे । इन्होंने अपने सामाजिक एवं राजनीतिक दल का पूर्व रूप में ही प्रयोग किया । इनके राजनीतिक संगठन का नाम 'पड़हा' कहलाता है ।

झारखण्ड क्षेत्र खनिज एवं वन-सम्पदा से भरा पड़ा है । खनिज सम्पदा एवं वनों की भरमार के कारण सरकार एवं पूँजी-पतियों की गिद्ध नजर यहाँ गड़ी हुई है । आजादी के बाद बढ़ते हुए औद्योगीकरण एवं बड़े-बड़े पूँजी-पतियों का उपनिवेश यहाँ कायम हुआ । तत्पश्चात इस क्षेत्र में बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों की स्थापना से शहरीकरण का विकास हुआ जो झारखण्ड राज्य अलग होने के पश्चात अंधाधुंध बढ़ता गया । शहरीकरण के प्रभाव ने उराँव जनजाति एवं इनके जीवन को काफी प्रभावित किया । शहरी संस्कृति ने उराँव समाज एवं इनकी संस्कृति तथा इनके धार्मिक स्वरूप को रौंद दिया । शहरों में विभिन्न समुदाय के लोगों के साथ रहने के कारण वे विभिन्न संस्कृति के सम्पर्क में आये और वे अपनी परम्परा तथा रीति-रिवाजों से दूर हटते गये । शहरी सभ्यता ने इनके जीवन स्तर को नये ढंग से सँवारने का प्रयास किया है । कई संस्कृतियों के सम्पर्क में आकर वे स्वयं को हीन अनुभव करने लगे । वे हिन्दुओं व ईसाइयों को अपने से ऊँचा समझने लगे । परिणाम स्वरूप धार्मिक विश्वास बदलने लगे । कहीं स्वेच्छा से, कहीं लालच से और कहीं जबर्दस्ती उन्हें धर्म परिवर्तन करना पड़ा और इस तरह इनकी संस्कृति का विघटन होने लगा । क्योंकि उनके सामने अब रोजी-रोटी, रहन-सहन, सोच-विचार तथा तौर-तरीकों के परम्परागत स्वरूपों के अतिरिक्त वैकल्पिक तरीके भी आ गये । उराँवों ने भौतिक-अभौतिक दोनों संस्कृतियों को पड़ोसी अन्य जातियों से ग्रहण किया । इन्होंने उनकी भाषाओं को भी अपनाया । इससे इनकी अपनी भाषा कुड़ुख़ का ह्रास हुआ एवं इनके मानसिक विकास में अवरूद्धता आयी ।

इनके आध्यात्मिक जीवन में सांस्कृतिक सम्पर्क का दोहरा हानिकारक प्रभाव पड़ा है । इनके पूर्वजों की पूज्य स्मृति ससन, 'हड़गड़ी', 'कुण्डी', 'देव स्थान', 'देसावली' तथा 'सरना' से भी उन्हें वंचित किया जा रहा है । कुछ आदिवासी हिन्दुओं की नकल कर रहें हैं, कुछ ईसाई धर्म ग्रहण कर रहे हैं । इस तरह नये धर्म एवं विश्वास ने नये-नये संस्कार दिये, लेकिन उनकी जीवन सम्बन्धी समस्याओं को हल करने के लिए नये साधन नहीं दिये । इस तरह धर्म परिवर्तन के कारण उराँव अपनी सही जनसंख्या नहीं दे पाते । इससे आदिवासी एकता पर बुरा असर पड़ा है । इसका बुरा असर यह भी है कि आदिवासियों के विकास सम्बन्धी योजनाओं में सही आँकड़ें न मिलने के कारण कई विकास योजनाओं से ये वंचित हो जाते हैं या फिर कम हिस्सा मिलता है ।

इन सभी कारणों से आदिवासियों के बीच लम्बे समय से असंतोष सुलग रहा है । झारखण्ड राज्य की स्थापना 15 नवम्बर 2000 को की गयी है । नये राज्य

मिले 8 वर्ष पूरे हो रहे हैं लेकिन आज भी इनकी स्थिति पुनः विस्फोटक बनी हुई है । सरकारी विवेकहीन नीति से आदिवासियों में एक और उलगुलान सुगबुगा रहा है । इससे विघटनकारी तत्त्वों को मदद मिल रही है । फलतः नये राज्य मिलने के बाद विकास की गति तीव्र होती, जो ठंढे बस्ते में डाल दरकिनार कर दी गयी है । इसका दुष्परिणाम सिर्फ आदिवासी भुगत रहे हैं। इन सभी समस्याओं को उजागर करना ही प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य है ।

कुछ पूर्व प्रकाशित पुस्तकों का परिचय

वन प्रदेश झारखण्ड में स्थापित औद्योगीकरण, शहरीकरण, आधुनिकीकरण, पश्चिमीकरण तथा संस्कृतीकरण के प्रभाव से उत्पन्न उराँव जाति की सामाजिक समस्याओं एवं सांस्कृतिक परिवर्तन को लेकर विभिन्न विद्वानों द्वारा अनेक कार्य किये गये हैं एवं तत्सम्बन्धित कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित हुई है । इनमें से कुछ उपलब्ध प्रासंगिक पुस्तक एवं शोध-कार्य का विवरण नीचे प्रस्तुत है ।

राय, शरत चन्द्र (1915, 1928) - इन्होंने सबसे पहले अपनी पुस्तक 'द उराँव ऑफ छोटानागपुर' जिसमें छोटानागपुर के उराँवों के धर्म, विश्वास एवं परम्परा के बारे में संक्षिप्त जानकारी दी गई हैं । उन्होंने अपनी दूसरी पुस्तक 'उराँव रिलीजन एंड कस्टमस (1928)' में लिखा । इस पुस्तक में इन्होंने उराँवों के धर्म, विश्वास, लौकिक शक्ति, धर्मेस, (सूर्य देवता) भूत-प्रेत तथा जादू- टोना सम्बन्धी जानकारी विस्तृत रूप से दी है । साथ ही उराँवों का अन्य धर्मों के साथ सात्मीकरण तथा धर्म परिवर्तन, परम्परा के विपरीत किस परिस्थिति में हुआ, इत्यादि बातों को लिखा है ।

नन्दीं एस० बी० (1960) - 'कल्चर चेंज इन एन उराँव भीलेज' वन्य जाति वोल्यूम 8, पेज न 12-20 में अपना वैयक्तिक अध्ययन प्रस्तुत किया है ।

सहाय, के० एन० (1964) - 'दी इमपेक्ट ऑफ क्रिसच्येनिटी एमोंग दी उराँव ऑफ दी थ्री भीलेज इन छोटानागपुर' नामक अपने पीएच०डी० शोध-प्रबन्ध में तीन उराँव गाँवों का अध्ययन करके यह बताया है कि सांस्कृतिक परिवर्तन का कारण ईसाई धर्म है । इन्होंने अपने एक लेख, 1962 'ट्रेन्डस् ऑफ सांस्कृतायजेशन एमोंग दी उराँव' बिहार ट्रायबल रिसर्च बुलेटिन, वोल्यूम IV नं०-2 सितम्बर 1962 में लिखा है कि उराँव जनजाति के बीच संस्कृतीकरण की कुछ विशेष प्रवृति पायी जाने लगी हैं । उसने अपनी दूसरी पुस्तक, 1976 'अण्डर दी सेडो ऑफ दी क्रास',

कलकत्ता यूनिवर्सिटी, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित, में लिखा है कि पाँच प्रकार की विशेष संस्कृति पद्धतियों के द्वारा छोटानागपुर के उराँव जनजातियों पर ईसाई धर्म का प्रभाव पड़ा है : 'ओसिमिलेसन', 'स्क्रुटिनायजेशन', 'कम्बीनायजेशन', 'इन्डीजीनायजेशन', और 'रेट्रोभरशन' ।

सचिदानन्द (1965) – 'कल्चर चेंज इन ट्रायबल बिहार, मुण्डा एण्ड उराँव', में उराँव और मुण्डा का ईसाई धर्म में परिवर्तन हो जाने के विभिन्न कारकों की चर्चा की है । उन्होंने अपनी पुस्तक के पृष्ठ संख्या- 96 में उराँव के बीच हिन्दू धर्म के प्रचलन को लेकर विस्तार से चर्चा की है ।

राय, एम० (1967) – 'चेजींग पेटर्न ऑफ लीडरशिप इन एन उराँव भिलेज' इनकी यह पुस्तक एल०पी० विद्यार्थी के द्वारा सम्पादित है, इन्होंने गाँवों के पाहन के नेतृत्व परिवर्तन के सम्बन्ध में विशेष रूप से चर्चा की है ।

चौधरी, जी० एन० (1978) – 'सोसियो कल्चर, इमपेक्ट ऑफ इण्डस्ट्रीलाईजेसन ऑन दी ट्राइबल भीलेज एराउण्ड एच०ई०सी० कम्पलेक्स' का यह पीएच०डी० शोध प्रबन्ध है जो राँची विश्वविद्यालय के अन्तर्गत किया गया है । इनके द्वारा ही लिखी गयी पुस्तक 1981 – 'ट्राइवस इन ट्रानजिसन' जिसमें कहा गया है कि एच०ई०सी० जैसे बड़े उद्योग की स्थापना से अब आदिवासियों की संस्कृति समाप्त हो रही है, उसमें परिवर्तन हो रहे हैं । एच०ई०सी० के निकट बसे हेसाग गाँव के अध्ययन में इसकी विस्तृत चर्चा की गयी है । इसमें सांस्कृतिक परिवर्तन की नई दिशा दिखाई गई है ।

उराँव, करमा, (1988) – 'दी स्पेक्ट्रम ऑफ ट्राइबल रिलीजियन इन बिहार' नामक इनकी पुस्तक छोटानागपुर के उराँव का क्षेत्रीय सर्वेक्षण पर आधारित है। इसमें धर्म से सम्बन्धित विषय वस्तु पर बहुत अधिक चर्चा की गयी है तथा हिन्दू और ईसाई के प्रभाव को विस्तार से दर्शाया गया है । विस्तृत संस्कृति के संदर्भ में सरना धर्म की सक्रियता तथा विभिन्न प्रकार के सामाजिक, धार्मिक एवं परिवर्तन की पद्धति को भी दिखाया गया है ।



झारखण्ड राज्य का गठन	:	15 नवम्बर 2000
झारखण्ड राज्य का क्षेत्रफल	:	79714 वर्ग कि० मी०
झारखण्ड राज्य में जिलों की संख्या	:	24 (चौबीस)
झारखण्ड की राज भाषा	:	हिन्दी
झारखण्ड राज्य की प्रचलित भाषाएँ	:	कुड़ुख़, संथाली, मुंडारी, खड़िया, हो, नागपुरी, कुरमाली, पंचपरगनिया, खोरठा आदि

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

उराँव जनजाति का सामान्य परिचय

नामकरण – झारखण्ड क्षेत्र में कई प्रकार की जनजातियाँ (आदिवासी जातियाँ) निवास करती हैं । यथा जिनमें 'उराँव' एक प्रसिद्ध जनजाति है । अब तक उराँव जनजाति को कई नामों से अभिहित किया जाता रहा है ।

साधारणतः 'कुड़ुख़' को उराँव का पयार्यवाची माना जाता है । लेकिन सूक्ष्म अध्ययन एवं विश्लेषण करने पर इन दोनों शब्दों में अर्थान्तर है । उराँव जनजाति स्वयं को अपनी भाषा में कुड़ुख़ कहते हैं। जिस तरह 'संताल' लोग स्वयं को अपनी भाषा में 'होड़' कहते हैं ।[1]

इसी तरह डॉ० हॉन ने 'आग्नेय' भाषाओं के 'होड़ो' शब्द से कुड़ुख़ की तुलना की है । होड़ो का अर्थ है – मनुष्य ।[2]

"रामनारायण उपाध्याय ने 'कोरकू जनजीवन' में लिखा है – 'कोर' याने आदमी । 'कू' याने बहुवचन 'जमात' इस तरह कोरकू का अर्थ है 'आदिवासियों की जमात' ।"[3]

"इसी पुस्तक में अशोक पाटिल लिखते हैं "– कोरकू और कोल शब्द भी समानार्थी है । कोरकू शब्द दो शब्दों 'कोरो' और 'कू' से मिलकर बना है । कोरो शब्द का कोरकू बोली में शाब्दिक अर्थ है 'मनुष्य' जबकि 'कू' बहुवचन बोधक है । इस प्रकार कोरकू का अर्थ है 'मनुष्यों का समूह' । कोरकू के समान ही कोल का अर्थ भी मनुष्य ही है ।"[4] उन्होंने सम्भावना व्यक्त किया है कि कोल शब्द ही प्रचलन की प्रक्रिया में कोर के रूप में अपभ्रंशित हुआ है ।

परन्तु कुड़ुख़ शब्द भाषा और जाति दोनों के लिए प्रयुक्त होता है जैसे – "नाम कुड़ुख़त तलदत" – हमलोग कुड़ुख़ जाति के हैं। यहाँ पर कुड़ुख़ शब्द जाति के लिए प्रयुक्त हुआ है । इसी प्रकार – "नम्है भखा कुड़ुख़ तली" – में कुड़ुख़ शब्द भाषा की ओर संकेत करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपयुक्त कथन में कुड़ुख़ शब्द का प्रयोग भाषा और जाति दोनों के लिए हुआ है । 'उराँव' शब्द का प्रयोग भाषा के लिए प्रयुक्त नहीं होता । यह शब्द सिर्फ जाति के लिए प्रयुक्त होता रहा है । वस्तुतः भाषा के लिए 'उराँव' शब्द का प्रयोग उराँव समाज में प्रचलित नहीं है । इस सम्बन्ध में डॉ० प्रकाश उराँव का कथन है कि "उराँव जनजाति के लिए कुड़ुख़ शब्द का प्रयोग भी होता है, परन्तु आज वह उनकी भाषा के लिए ही रूढ़ हो गया है ।"[5]

अत: प्रजातीय नाम 'उराँव' और भाषा के नाम 'कुड़ुख़' दोनों की व्युत्पति के सम्बन्ध में लोकबुद्धि, विद्‌बुद्धि दोनों ने बड़ी मनोरंजक कल्पनाओं का सहारा लिया है ।[6]

इस सम्बन्ध में पुन: त्रिगुणायत जी लिखते हैं कि 'उराँव' के 'ओरांव', 'ऊरंग', अवरंग आदि अनेक रूप मिलते हैं ।[7]

उराँव शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अंग्रेज विद्वान डॉ० हॉन की मान्यता है कि 'उराँव कुड़ुख़ जाति के गोत्रों में से एक गोत्र है ।'[8]

सामान्यत: उराँव शब्द का अर्थ उराँव जाति के रूप में ही होता रहा है परन्तु 'उराँव' शब्द उराँव जनसमुदाय की भाषा का नहीं है उराँव शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई, इस विषय में विद्वानों ने अलग-अलग विचार अभिव्यक्त किया है ।

उराँव शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जगदीश त्रिगुणायत ने 'उराँव भाषा और साहित्य' शीर्षक में लिखा है – ''मुंडा लोग हमें चिढ़ाने के लिए 'उरंग' कहते हैं 'उरंग' का अर्थ है घोंघी, अर्थात घोंघी खानेवाला ।''[9]

आगे उन्होंने लिखा है ''एक शिक्षित उराँव ने बताया कि हम हनुमान जी के वंशज हैं । उराँव का अर्थ है – 'वानर'। उराँव हनुमान जी के गोत्र का नाम है''।[10]

इसी लेख में त्रिगुणायत जी ने एक मुंडा लोककथा की चर्चा की है । लोककथा के अनुसार ''पाप की धरती को जलाने के बाद भगवान नीचे उतरे । एक चट्टान के नीचे छिपे हुए दो छोटे बच्चे (लड़का-लड़की) उन्हें दिखाई पड़े । भगवान को दया आ गयी उन्होंने बच्चों से कहा कि तुमलोग खेत बनाओ मैं बीज और पानी लाने जाता हूँ । बेचारे रात भर भूखे-प्यासे खेत कोड़ते रहे । जब भगवान बीज लेकर पहुँचे तब सवेरा हो रहा था । फिर भी बच्चे खेत कोड़ते जा रहे थे । बस उनका नाम 'उर-अंग' अर्थात सबेरे तक कोड़नेवाला हो गया।'' [11A]

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'उराँव' शब्द मुंडा जनजाति का दिया हुआ है और आज यही शब्द सर्वाधिक प्रचलित है ।

उराँव लोककथा में भी इस प्रकार की चर्चा है । उराँव नाम मुंडाओं के द्वारा दिया गया नाम है । उराँव जब छोटानागपुर में आये यहाँ मुंडाओं का राज था । छोटानागपुर में मुण्डा लोगों ने उराँवों को शरण दिया था । यह एक ऐतिहासिक तथ्य है । ''मुण्डा लोगों ने उन्हें जमीन दिया जो घने जंगलों से आच्छादित था । उराँवों ने उस जंगल को साफ किया और खेती लायक जमीन बनाया । इस क्रम में उन्होंने लगातार सुबह तक काम किया। उनके काम को देखकर मुण्डा लोग अचम्भित रह गये, अनायास ही उनके मुँह से निकली 'उर-अंगे' ! अर्थात उरांग जिससे उराँव शब्द

बना। मुंडारी में 'उर' का अर्थ है 'कोड़ना' और 'अंगे' का अर्थ है 'सुबह होना' अर्थात ऐसे व्यक्ति को उरांग कहा गया जो कोड़ते-कोड़ते सुबह कर देते हैं। [11B]

जो अब तक निर्वाध गति से प्रचलित है। इसी तरह उराँव मुण्डा के सम्बन्धों को लेकर एक अन्य कथा प्रचलित है जिसकी चर्चा त्रिगुणायत जी ने अपनी पुस्तक पंचदश लोकभाषा में की है। "एक बार मुण्डा लोग सरना में पूजा कर रहे थे कि एक आदमी भागता हुआ वहाँ (पूजा स्थल) में पहुँचा और उसने शरण देने की प्रार्थना की। उसे खदेड़ते हुए कुछ 'तुड़ुक' वहाँ आ पहुँचे थे। मुण्डाओं के नेता ने दया करके तुरंत एक जनेऊ आगन्तुक के उपर फेंक दिया और उसे मुण्डा बना लिया। 'तुड़ुक' उस आदमी को नहीं पाकर लौट गये। 'हुरंग' का अर्थ है 'फेंकना'। इसी क्रम में जनेऊ को ग्रहण करने वाले आदमी के वंशज 'हुरंग' या उरंग, उराँव है।" [11C]

इसी संदर्भ में मिखाएल कुजूर ने अपनी पुस्तक 'उराँव संस्कृति' में लिखा है - "कुड़ुख़ को मुसलमान से बचाने के क्रम में, बातचीत के दौरान 'इ' रंग या 'उ' रंग कहा गया जो बाद में धीरे-धीरे 'उरंग' उराँव नाम से प्रचलित हुआ।"[12]

उराँव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में डॉ० दिवाकर मिंज का विचार बिल्कुल भिन्न है। उन्होंने अपने शोध-प्रबंध 'मुण्डा एवं उराँव का धार्मिक इतिहास' में लिखा है कि उराँव शब्द हिन्दुओं या विदेशियों के द्वारा दिया गया वह नाम है जिसमें उराँव जनजातियों के लिए आदर की अपेक्षा हीनता का बोध होता है।'[13]

अन्यत्र डॉ० मिंज लिखते हैं कि 'ये मुनि के 'उर' से निकले थे। अतः उराँव कहलाये।'[14]

अंग्रेज विद्वान ई० टी० डाल्टन ने उराँव जाति को एक उड़ने वाली जाति के रूप में चित्रित किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'डिस्क्रीप्टिव एथनोलॉजी ऑफ बंगाल' में लिखा है 'उराँव लोगों को एक निश्चित जगह न टिकनेवाले स्वभाव के कारण हिन्दुओं ने इन्हें 'उड़नेवाला' या 'उड़न' या 'उरन' की संज्ञा से संबोधित किया है। क्योंकि ये कभी एक स्थान कभी दूसरे स्थान पर दिखायी पड़ते हैं।'[15]

ई० टी० डाल्टन की तरह ही एस० सी० राय का भी कहना है कि "हिन्दुओं ने इन्हें रावणपूत कहना प्रारंभ किया जो कालांतर में 'पूत' शब्द निकल गया तथा संबोधन का 'ओ' शब्द प्रारंभ में संयुक्त होकर 'ओ रावण' बना जो क्रमशः उराँव शब्द में स्थिर हो गया।"[16]

पुनः मानवाशास्त्री एस० सी० राय की एक अन्य मान्यता है कि - "परंपरा के अनुसार उराँव के प्रथम पूर्वज तपस्वी की छाती के खून से पैदा हुए थे। इन्हीं

से उराँव जाति की वंश परंपरा कायम है । छाती से पैदा होने के कारण ये 'उरागन ठाकुर' के नाम से जाने जाते थे । संस्कृत और हिन्दी में 'उर' शब्द का अर्थ छाती होता है जिससे उराँव शब्द की उत्पत्ति हुई ।''[17]

उराँव शब्द के नामकरण के सम्बन्ध में अंग्रेज विद्वान प्रो० स्टेन कोनो ने 'हॉन कुड़ुख़ ग्रामर' में अलग ही तर्क प्रस्तुत किया है । इनके अनुसार ''उराँव शब्द द्रविड़ भाषा समूह के 'काईकादी' और 'बरगांडी' बोली के शब्द 'उरापाई' 'उरापों से उराँव (आदमी) शब्द की उत्पत्ति हुई है ।''[18]

डॉ० प्रकाश चन्द्र उराँव की पुस्तक 'बिहार के उराँव' के अनुसार "यह भी कहा जाता है कि 'रामायण काल में राम-रावण' की लड़ाई में इन्हीं के पूर्वजों ने रामजी का साथ दिया था जिन्हें रामायण में वानर शब्द से संबोधित किया गया है । रामचंद्र जी ने इसी वानरी सेना की सहायता से लंकाधिपति रावण को पराजित किया । लंका विजय के बाद जब रामचंद्र जी उत्तर भारत को चले गये और उनका स्वर्गवास हो गया तब शोक संवाद पाने पर वे वानर जाति के लोग 'ओ राम' 'ओ राम' कह कर विलाप करने लगे और इसी विलाप शब्द से उस जाति का नाम 'ओ राम' पड़ा जो कि बिगड़ कर 'उराँव' हो गया । आज उराँव शब्द ही इस जनजाति के लिए अधिकतर प्रचलित है और इसकी उत्पत्ति में 'उरजन' या 'ओ राम' वाला सिद्धांत ही अधिक उपयुक्त बैठता है ।''[19]

इस सम्बन्ध में उराँव सामाजिक कार्यकर्ता श्री मंगरा कुजूर का कहना है कि उराँव शब्द 'ओ रम्फ' से बना हैं

उराँव लोककथा के अनुसार एक बार 'धर्मेस' मनुष्यों से नाराज हो गए । नाराजगी के कारण पानी बरसाना बंद कर दिया और सूर्य की रोशनी तेज कर दी । इससे धीरे-धीरे पानी की कमी होने लगी और पेड़ पौधों सूखने लगे । अंत में एक दिन ऐसा आया कि पूरी दूनिया में आग लग गयी और सब कुछ जलकर नष्ट हो गया । इसके बाद 'धर्मेस' नीचे पृथ्वी पर आए । पृथ्वी का दृश्य देखकर उन्हें दया आयी । वे पश्चाताप कर रहे थे । तभी उन्होंने दो बच्चों (एक लड़का एक लड़की) को एक गुफा/बिल में छिपे हुए पाया जो उन्हीं को याद कर रहे थे, उनसे विनती कर रहे थे 'ओ रम्फ' ये आपने क्या किया, ओ रम्फ, हमारी रक्षा करें, सृष्टि का पुनः निर्माण करें आदि । 'धर्मेस' ने उन बच्चों की विनती सुन ली, उन्हें बच्चों पर दया आ गई । उन्होंने बच्चों को खेत बनाने को कहा और स्वयं बीज लाने चले गये । बीज लेकर आने के बाद भगवान ने उन्हें कृषि कार्य का विधि भी बताया । उन्हें पशु-पक्षी भी दिया और स्वयं लुप्त हो गए । यही बच्चे उराँव के प्रथम पूर्वज

थे । अभी भी अनावृष्टि होने पर उराँव लोगों में डर समा जाता है कि पेड़-पौधे सूख रहे हैं और कहीं कोई अनिष्ट होनेवाला है । वे तरह-तरह के विधि-विधान करते हैं । 'ओह रम्फ' हमारी रक्षा करो ।, हमारी मदद करो । इस तरह विनती करते हैं । इस 'ओह रम्फ' के उच्चारण को दूसरे लोग नहीं समझ पाते हैं उन्हें यह शब्द 'ओह राम' सुनाई पड़ता है । तब दूसरे (बाहरी) लोगों ने इन्हें 'ओ राम' व्यक्ति कहा, यही 'ओराम' से 'उराँव' शब्द बना ।''[20]

उराँव नाम की चर्चा के पश्चात 'कुड़ुख़' शब्द पर भी चर्चा करना समुचित प्रतीत होता है । 'उराँव' और 'कुड़ुख़' दोनों ही पर्यायवाची शब्द के रूप में व्यवहृत होते रहे हैं । इस संबंध में ई० टी० डाल्टन ने लिखा है 'कुड़ुख़' शब्द 'कोंकण' शब्द का अपभ्रंश रूप है । कोंकण उनका निवास स्थान था, इसलिए कोंकण से ही कुड़ुख़ शब्द का निर्माण हुआ ।'[21]

डॉ० प्रकाश उराँव के अनुसार "कुड़ुख़ शब्द की उत्पत्ति 'कोरकुई' 'कुरूष' या 'कुरूक्षेत्र' से माना जा सकता है ।"[22]

उनका एक अन्य कथन है महाभारत के युद्ध में कुड़ुख़ जनजाति ने दुर्योधन का पक्ष लिया था और यह युद्ध कुरूक्षेत्र में लड़ा गया था । कुड़ुख़ शब्द ऐसी स्थिति में कुरूक्षेत्र का अपभ्रंश माना जा सकता है ।[23]

श्री शांति प्रकाश प्रबल बखला ने अपनी पुस्तक 'कुड़ुख़ कत्था खीरी' में उराँव जाति के निवास स्थान के बारे कई स्थानों का जिक्र किया है जिसमें अमेरिका, एशिया एवं भारत के कई स्थानों का जिक्र है ।''[24]

भाषा वैज्ञानिक दृष्टिकोण में कुड़ुख़ द्रविड़ भाषा के शब्द से उत्पन्न हुआ है ।[25]

अंग्रेज विद्वान गैट महोदय लिखते हैं कि ''द्रविड़ भाषा में 'कोरख' शब्द का अर्थ मनुष्य होता है ।''[26]

ब्राहुई भाषा कुड़ुख़ की नजदीकी भाषा है । यह द्रविड़ियन परिवार से सम्बन्धित है । उसमें क्रिया के अक् प्रत्यय जुड़ता है जिससे 'कुड़ुक', 'कुड़ुख़', कड़ोक शब्द हो सकता है । जिसका अर्थ बोलनेवाला है ।[27]

कुड़ुख़ की व्युत्पत्ति द्रविड़ शब्द 'करूग' से माना है करूग का अर्थ 'चील्ह' है जो उराँव के वंश का टोटेम है । इसी टोटेम के आधार पर कुड़ुख़ का नामकरण हुआ ।[28]

कुड़ुख़ शब्द 'कुर' या 'कुरचईना' से हो सकता है । जिसका अर्थ चिल्लाना अथवा हकलाना है ।[29]

कुड़ुख़ के दूसरे शब्द 'कुरगी' अथवा 'कुरखी' से हो सकता है जिसका अर्थ झाड़ी से घेरा लगाना या निवास स्थान से हो सकता है ।[30]

प्रसिद्ध मानवशास्त्री एस० सी० राय ने उनके व्यवसाय की चर्चा करते हुए लिखा है ''कुड़ुख़ शब्द का विकास 'कृष' शब्द से हुआ है । कृष शब्द का अर्थ 'कृषक', यानि कृषि कार्य करने वाले लोग, इसी से कुड़ुख़ शब्द का विकास हुआ ।''[31]

इसी तरह जियाउद्दीन अहमद अपनी पुस्तक बिहार के आदिवासी में लिखते हैं । - इनका पेशा काश्तकारी था, इसलिए इन्हें कुड़ुख़ कहा गया ।[32]

पुन: जियाउद्दीन अहमद ने अपनी पुस्तक में लिखा है - "कारख एक राजा का नाम था जिसके नाम पर उसकी प्रजा अपने को कारक एवं धीरे-धीरे कुड़ुख़ कहने लगे ।''[33]

संत अलबर्ट कॉलेज राँची में कार्यरत फा० लीनुस कुजुर ने अपने शोध-प्रबंध में लिखा है कि ''उराँव जाति स्वयं को कुड़ुख़र कहते हैं ।''[34]

लेकिन उराँव लोक कथा के अनुसार कुड़ुख़ शब्द की उत्पत्ति 'कुड़आ अख़ना' शब्द से हुआ, जिसका अर्थ 'पकाने जानना' (सीखना) है । कथा इस प्रकार है - प्रारंभिक काल में बहुत घने जंगल थे । तेज हवा आने पर पेड़ों की डालियाँ आपस में टकराने, रगड़ाने लगा । इससे 'चीं-चीं' एक प्रकार का आवाज होने लगा । रगड़ाने के कारण गर्म होकर इससे आग निकली और जंगल जलने लगा । इस आग से जंगल के जीव-जन्तु जल गए । जब आग बुझी तो लोगों ने जीव-जन्तु को आग में पका हुआ (जला हुआ) अवशेष पाया । जिसे वे पहले कच्चा ही खा जाते थे । आग में पका हुआ, जला हुआ मांस उन लोगों ने खाया । यह उन्हें खाने में बहुत ही स्वादिष्ट लगा । उस समय से लोग मांस को आग में पका कर खाने लगे । 'कुड़ुख़' भाषा में आग को 'चिच्च' कहा जाता है । निश्चित ही चीं-चीं से चिच्च शब्द बना तथा डंडे में मांस को गुंथ कर आग में पकाने की क्रिया को 'कुड़आ अख़ना' कहते हैं । इसी 'कुड़आ-अख़ना', क्रिया शब्द से 'कुड़आ अक्खर', 'कुड़खर' तथा 'कुड़ुख़' शब्द का निर्माण हुआ ।"[35]

उराँव एवं कुड़ुख़ नाम के अलावा इन्हें अन्य कई नाम से जाना जाता है । इन नामों की चर्चा करना भी अति आवश्यक है ।

डॉ० करमा उराँव का विचार है कि ''भारत के अन्य भाग एवं नेपाल के बार्डर क्षेत्र में इन्हें 'धांगड़' के नाम से जाना जाता है । यह उनका मुख्य नाम नहीं है ।"[36]

मानवशास्त्री डॉ० के० एस० सिंह ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि "मध्य प्रदेश में उराँव को 'ढांका' और 'धांगड़' कहा जाता है ।"[37]

इसी तरह श्री एच० बी० रौनी लिखते हैं – "उराँव को धांगड़ और पहाड़ी आदमी के नाम से जाना जाता है ।"[38]

ए० बी० शरण ने बिहार की जनजातियों पर काफी कार्य किया है । इनका मत है उराँव को 'काडु' और 'धांगड़' के नाम से भी जाना जाता है ।[39]

अंग्रेज विद्वान एफ० हॉन ने उराँव एवं कुड़ुख़ शब्द के अलावा इनके अन्य नामों को भी स्वीकार किया है । उनका कहना है – "उराँव को धांगड़, किसान और कोड़ा भी कहा जाता है :-

क – धांगड़ का अर्थ है – वह आदमी जो मजदूरी का काम करता है ।

ख – हिन्दी में इसे किसान कहा गया जिसका अर्थ खेती करने वाला व्यक्ति है ।

ग – इसी तरह से कोडा या कोड़ा कहा गया जिसका अर्थ कोड़नेवाला व्यक्ति होता है ।[40]

रसैल एवं हीरालाल, जिन्होंने भारतीय आदिवासियों का अध्ययन किया है, का विचार है कि "मध्य भारत के छोटानागपुर में धांगड़ का अर्थ खेत में काम करनेवाला मजदूर से है जिसको एक विशेष परम्परा के अनुसार काम पर लगाया जाता है । उड़ीसा में उराँव को 'कुड़ा' कहा गया है जिसका अर्थ कोड़नेवाला होता है ।"[41]

पुन: ई० टी० डाल्टन कहते हैं कि 'डांग' या 'ढांग' से 'धांगड़' शब्द बना है । दक्षिणी तराई के गाँवों में आदिवासी लोग युवक के लिए 'धांगड़' और युवती के लिए 'धांगड़ी' शब्द का प्रयोग करते हैं ।[42]

छोटानागपुर के उराँव जनजाति को अन्य कई नामों से जाना जाता है जिसके कारण लोगों को समझने में कठिनाई हो जाती है । झारखण्डी अन्य आदिवासियों की तरह इनका भी परंपरागत नाम है, जो अक्सर गुप्त रहता है । साधारणत: उराँव व्यक्ति जब आपस में बातचीत करते हैं तो वे अपने परंपरागत गुप्त शब्द का ही प्रयोग करते हैं जो उनकी मातृभाषा में निहित है । अपनी भाषा में बात–चीत के दौरान वह भावात्मक रूप से उस गुप्त शब्द से जुड़ जाता है जो अनायास ही बातचीत के दौरान प्रस्फूटित होता है ।

उस समय वे बाहरी व्यक्तियों द्वारा दिया गया नाम को बिल्कुल ही भूल जाते हैं जैसा कि संताली भाषा के विद्वान श्री डोमन साहू 'समीर' एवं अंग्रेज विद्वान डॉ० हॉन का कहना है कि जिस तरह आग्नेय भाषा परिवार के संताल, हो, मुण्डा स्वयं को होड़ कहते हैं एवं मध्यप्रदेश के निमाड़ अंचल में निवस करने वाले कोरकू जनजाति स्वयं को 'कोरो' 'कू' शब्द से कोरकू बनना मानते हैं । कोरकू का अर्थ वे मनुष्यों के समूह से बताते हैं । वे स्वयं को मुण्डा जनजातियों में से ही एक मानते हैं । ठीक उसी तरह उराँव लोग स्वयं को कुड़ुख़ कहते हैं । लेकिन यहाँ उराँव और मुण्डा के इस प्रयोग में किंचित् अंतर पाया जाता है । मुण्डा भाषा परिवार

में होड़ का अर्थ मनुष्य है । लेकिन कुड़ुख़ भाषा में कुड़ुख़ शब्द का अर्थ मनुष्य नहीं है । कुड़ुख़ शब्द का प्रयोग उदाहरण स्वरूप पहले दिया गया है । कुड़ुख़ भाषा में 'मनुष्य' के लिए एक अलग शब्द 'आल' है । जिसका प्रयोग ऊपर के उदाहरण पर किया जा सकता है या नहीं भी किया जा सकता है । दोनों में ही वाक्य सही है । इस सम्बन्ध में डॉ० प्रकाश उराँव का यह विचार सही प्रतीत होता है कि कुड़ुख़ शब्द उनकी भाषा के लिए ही रूढ़ हो गया है । इस तरह उराँव जनजाति के सम्बन्ध में अभी तक जो भी अध्ययन हुआ है उसमें समाजशास्त्री, मानवशास्त्री या अन्य विद्वानों ने उनके बाहरी नामों पर ही अधिक जोर दिया है । उनके आंतरिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, भाषायिक और धार्मिक पक्षों को नामकरण का विश्लेषण करते समय अनदेखा किया गया है, फलतः उनका मुख्य नाम विलुप्त हो गया है । कई विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से या तो दूसरे के साथ सम्बन्ध जोड़ते हुए 'उराँव' के नामकरण को प्रमाणित करने की चेष्टा की है । इस सम्बन्ध में जगदीश त्रिगुणायत का कथन बिल्कुल सत्य प्रतीत होता है कि विद्वानों ने मनोरंजक कल्पनाओं का सहारा लिया है । उनके अनुसार 'ओराँव', 'उरंग', 'अवरंग' आदि अनेक रूप निश्चित ही क्षेत्र विशेष और भाषा विशेष के उच्चारण के कारण हुआ है । पुनः त्रिगुणायत ने डॉ० हॉन के विचार का समर्थन करते हुए कहा है कि उराँव कुड़ुख़ जाति का गोत्र है लेकिन इसे सही नहीं माना जा सकता क्योंकि गोत्र और जाति दो अलग-अलग चीजें हैं । उराँव की सामाजिक व्यवस्था के अनुसार अपनी ही जाति के अंदर दूसरे गोत्र में विवाह करने की परम्परा है । अतः उराँव शब्द को गोत्र नहीं कहा जा सकता है ।

ऐसा लगता है कि उराँव के नामकरण में स्वयं त्रिगुणायत जी ने कई मनोरंजक कल्पनाओं का सहारा लिया है तभी तो उनके द्वारा ही कहीं उरंग का अर्थ घोंघी तो कहीं उराँव का अर्थ वानर इत्यादि बातें लिखी गई हैं ।

पहली बात तो यह है कि मुंडारी में उरंग का अर्थ घोंघी नहीं होता है । मुंडारी में घोंघी को 'सुटी' या घुंघी कहा जाता है । दूसरी बात यह है कि उराँव का अर्थ वानर भी नहीं होता है । जिसने जैसा चाहा वैसी कल्पना करके नाम दे दिया । कभी हनुमान के वंशज तो कभी रावण के वंशज । इन सभी कथनों को उपयुक्त नहीं माना जा सकता । आगे विद्वान त्रिगुणायत जी ने मुंडा लोककथा के अनुसार उराँव के नामकरण को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है । यह कथा उराँव जाति के सृष्टि कथा से मिलती-जुलती कथा में भी पाई जाती है स्व० लोहरा उराँव ने मुंडा एवं उराँव के बीच सामाजिक सम्बन्ध पर जोर देते हुए कहा है कि उराँव शब्द मुण्डाओं द्वारा ही दिया गया नाम है । वर्तमान में उराँव जाति का सामाजिक क्रियाकलाप, स्वभाव, आचरण, गुण आदि को देखते हुए स्व० लोहरा उराँव के तर्क

को उपयुक्त माना जा सकता है । इस सम्बन्ध में उदाहरण स्वरूप - संताल जनजाति में अभी भी एक परम्परा जीवित है । वे जब भी कुआँ या तालाब आदि खोदते हैं तो इसका शुभारंभ 'उराँव' व्यक्ति के द्वारा ही कराते हैं संताली परंपरा के अनुसार कुआँ खोदने के प्रारंभिक क्रिया में पहला कुदाल उराँव व्यक्ति द्वारा ही चलाया जाता है । उनका यह विश्वास है कि जिस लगन और मेहनत से उराँव लोग काम करते हैं उससे यह काम जल्दी पूरा हो जाएगा । उराँव नाम को प्रमाणित करने के लिए त्रिगुणायत जी मुण्डाओं की दूसरी अनुश्रुति प्रस्तुत करते हैं। तुड़ुक से बचाने के क्रम में मुण्डाओं ने उराँव को जनेऊ पहनाकर मुण्डा बनाया और उनकी रक्षा की थीं । तुड़ुक का अर्थ कुड़ुख़ भाषा में बाहरी लोग या दुश्मन होता है । इस कथा में कुछ बातें तो सत्य प्रतीत होती है कि मुण्डा लोगों ने उराँव की रक्षा की, उन्हें शरण दिया लेकिन जनेऊ वाली बात की सत्यता पर संदेह है क्योंकि उराँव लोगों में जनेऊ का प्रचलन नहीं है न ही इससे सम्बन्धित कोई विधि-विधान ही है । यदि प्राचीन जमाने में रहा भी होगा तो यह आगे और खोज का विषय है । अभी तक किसी अन्य विद्वान का विचार इस सम्बन्ध में नहीं मिला है ।

इसी तरह एक अन्य विद्वान ब्रदर मिखाएल कुजूर एस० जे० का मत है कि मुसलमानों से बचाने के क्रम में 'इ' 'रंग' या 'उ' 'रंग' कहा जिससे 'उरंग' शब्द बना, लेकिन इनका यह तर्क भी उपयुक्त नहीं लगता क्योंकि । जब उराँव का आगमन छोटानागपुर में हुआ उस समय यहाँ मुण्डाओं का राज्य था। 'ई' 'रंग' 'उ' 'रंग' सादरी शब्द है जिसका प्रचलन संभवतः उस राज्य में नहीं था। मुण्डा राज्य में सादरी या अन्य भाषा का होना संभव नहीं लगता है । डॉ० बी० पी० केसरी ने अपनी पुस्तक 'छोटानागपुर का इतिहास' कुछ सूत्र : कुछ संदर्भ, पृष्ठ 14 में लिखा है कि नागवंशियों के आक्रमण के पूर्व छोटानागपुर मुण्डाओं के आधिपत्य में था और उराँव जब छोटानागपुर आए तब यहाँ मुण्डाओं का राज्य था। इसलिए निश्चय ही मुण्डा राज्य में मुण्डा भाषा का प्रचलन था इसका प्रमाण आज भी इस (राँची) क्षेत्र में देखा जा सकता है । उराँव की भाषा कुड़ुख़ है लेकिन राँची क्षेत्र के उराँव अभी भी मुण्डारी भाषा का व्यवहार करते हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुण्डा जनजाति में धार्मिक और भाषायिक जड़ें बहुत मजबूत है । यही कारण है कि आज भी इनके बीच अपनी भाषा के अलावे अन्य भाषा का समावेश नहीं हो सका। ऐसी स्थिति में 'ई' 'रंग' 'उ' 'रंग', से 'उरंग' शब्द का बनना संभव नहीं है । अतः इसे स्वीकारने योग्य नहीं कहा जा सकता।

आगे एक अन्य विद्वान डॉ० दिवाकर मिंज ने अपनी पुस्तक 'मुण्डा और उराँव का धार्मिक इतिहास' में लिखा है कि उराँव शब्द हिन्दुओं या विदेशियों के द्वारा

दिया गया नाम है । जो आदर की अपेक्षा हीनता का बोध कराता है । लेकिन यह विचार उपयुक्त नहीं लगता है क्योंकि उराँव शब्द इन जनजातियों का बहुत ही पुराना नाम है । इस नाम के साथ इनका ऐतिहासिक पृष्ठभूमि छुपा हुआ है । इस नाम से इनकी जातीय पहचान बनी है उसे कैसे भुलाया जा सकता है । एक बात उल्लेखनीय है इस शब्द के पीछे जो भी गलत धारणाएँ या विकृतियाँ जाने-अनजाने उत्पन्न की गई है, वैसी बातों को सही तर्क प्रस्तुत करते हुए दूर करना है और उस तर्क को स्थापित करना है जिसे उराँव जाति और समाज मानता है एवं वर्तमान में जो उनके परम्परा में देखने सुनने को मिलती है । डॉ० मिंज आगे लिखते हैं कि उराँव जाति मुनि के 'उर' से जन्मे हैं इसलिए उराँव कहलाए । उनका यह तर्क भी सार्थक नहीं लगता है । उराँव परंपरा में ऋषि-मुनि का कोई स्थान या महत्त्व नहीं है और न ही उनके गोत्र व्यवस्था में मुनि को पूर्व पूर्वज या टोटेम के रूप में स्थान है । अत: उर से उराँव होना बिल्कुल ही निरर्थक लगता है ।

अंग्रेज विद्वान ई० टी० डाल्टन जिन्होंने भारत के विभिन्न आदिवासियों के बारे में अध्ययन प्रस्तुत किया है । उनका कहना है कि लगातार स्थान बदलने के कारण हिन्दुओं ने इन्हें 'उड़नेवाला', उड़न कहा है जिससे उराँव शब्द बना । डाल्टन महोदय का यह तर्क उपयुक्त नहीं लगता क्योंकि देश में और भी बहुत सारे समुदाय हैं जिनका भौगोलिक वितरण देश-विदेश में लगातार हुआ है और अभी भी हो रहा है । इसलिए यह तर्क जबर्दस्ती शब्दों को मिला कर, तोड़-मरोड़ कर उराँव शब्द बनाने की कोशिश मात्र है ।

इसी प्रकार शरतचंद्र राय जिन्हें मानव विज्ञान का पिता कहा जाता है इन्होंने उराँव जनजाति के सम्बन्ध में गवेष्णात्मक कार्य किया है तथा कई पुस्तकें भी लिखीं हैं, का विचार है कि उराँव शब्द हिन्दुओं द्वारा दिया गया नाम है । उनका तर्क है कि उराँव को हिन्दुओं ने 'रावणपूत' कहा जिसका 'पूत' प्रत्यय हटा और 'ओ' उपसर्ग आगे जुटा जिससे 'ओ रावण' हुआ और 'उराँव' बना । यहाँ स्व० राय के मंतव्य को किसी भी स्थिति में ग्रहण नहीं किया जा सकता है क्योंकि उराँव जाति का रावण से सम्बन्ध का कोई उल्लेख उनकी परम्परा लोक कथा और लोकगीत में नहीं मिलता है इसलिए 'ओ रावण' से उराँव हो जाना संभव नहीं है । आगे स्व० राय लिखते हैं कि उराँव के पूर्वज तपस्वी के छाती के खून से पैदा हुए थे जिसके कारण वे उरागन ठाकुर कहलाए और उराँव शब्द की उत्पत्ति हुई । यहाँ उराँव शब्द को लेकर स्व० राय का विचार अपने में ही स्पष्ट नहीं है । उनका पहला तर्क - रावणपूत से 'ओ रावण' और उराँव बना । उनका दूसरा तर्क है - 'छाती' या 'उर' से पैदा होने के कारण उराँव शब्द बना । लेकिन उराँव प्रथा,

परम्परा, लोककथा, विधि-विधान, नृत्य-गीत कहीं भी उरागन ठाकुर का उल्लेख नहीं मिलता है । अत: इस तर्क को उपयुक्त नहीं माना जा सकता । इस तरह से विद्वानों के द्वारा उराँव शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर और भी कई तर्क दिये गये हैं लेकिन कहीं भी स्पष्ट नहीं लगता । केवल समान शब्दों को जोड़-तोड़ कर उराँव शब्द बनाने की कोशिश की गई है । अत: उराँव नाम की सही जानकारी के लिए उनके विभिन्न सामाजिक पहलुओं पर गहन विचार और शोध कार्य करने की आवश्यकता है । उराँव जाति के सम्बन्ध में सबसे पहले अंग्रेज विद्वानों ने कार्य किया है । इसी संदर्भ में एक अंग्रेज विद्वान प्रो० स्टेन कोनो ने 'हॉन कुड़ुख़ ग्रामर' नामक पुस्तक लिखी है जिसमें उन्होंने उराँव शब्द की उत्पत्ति पर एक अलग तर्क प्रस्तुत किया है । उनका कहना है कि द्रविड़ भाषा समूह के शब्दों से उराँव शब्द बना । लेकिन यहाँ हॉन और स्टेन कोनो के विचारों को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उराँव जाति का उन समुदायों से सीधा संपर्क नहीं है और न ही सांस्कृतिक समानता है, जबकि भाषा और संस्कृति में गहरा सम्बन्ध माना जाता है । उराँव जाति की जितनी समीपता मुण्डा संस्कृति और धर्म से है उतना दूसरे से नहीं है । इसलिए इस तर्क को भी उपयुक्त नहीं माना जा सकता । नामकरण के क्रम में ही डॉ० प्रकाश चंद्र उराँव का कथन है कि राम-रावण युद्ध में उराँवों ने राम की सहायता की थी । यहाँ उन्हें वानर शब्द से संबोधित किया गया है । बाद में राम की मृत्यु की खबर पाकर विलाप में 'ओ राम' सिद्धांत को ही उपयुक्त माना है, लेकिन मेरे विचार से यह उपयुक्त ही नहीं अनुचित भी है । वानर जाति ने मनुष्यों (राजा राम) को युद्ध में साथ दिया और वही वानर जाति राम के मरने के बाद 'ओ राम', 'ओ राम' करके विलाप करने लगा ? यह किसी भी पशु के लिए संभव ही नहीं है । किसी जमाने में अगर इसे संभव मान भी लिया जाय तो वह वानर जाति कितनी महान् थी जिसने किसी जरूरतमंद को सहायता की और उनके मरने पर विलाप भी किया । लेकिन उसे क्या मिला ? उराँव की परम्परा में उनके लिए उपहास, उपेक्षा और तिरस्कार की कड़ी हमेशा के लिए जोड़ दिया गया । अत: डॉ० उराँव के इस कथन 'उरजन' और 'ओ राम' शब्द से उराँव शब्द का बनना तर्कसंगत नहीं लगता है ।

लेकिन ओराम शब्द से उराँव शब्द की उत्पत्ति पर श्री मंगरा कुजूर का एक अलग ही तर्क है । श्री कुजूर उराँव समाज के कर्मठ सामाजिक कार्यकर्ता एवं उराँव धर्म एवं संस्कृति के सम्बन्ध में गहन चिंतन मनन करने वाले विद्वान हैं । उनके द्वारा प्रस्तुत उराँव लोककथा में सत्यता प्रतीत होती है । क्योंकि अभी भी यह प्रथा परंपरा

उराँव जाति में प्रचलित है । उराँव जाति के मुख्य पर्व सरहुल में सूर्यदेव एवं धरती माँ की आराधना की जाती है जिससे संपूर्ण सृष्टि की रचना हुई है । यह पर्व इनके धर्म का मुख्य आधार है कुड़ुख़ भाषा में 'रम्फ' का अर्थ 'सूर्य की किरण' होता है । सूर्य की किरण (रम्फ) से सृष्टि हुई है । अपनी सृष्टि को समाप्त करने के लिए धर्मे बाबा ने दुनिया में आग लगा दी । जिससे सब कुछ जल कर नष्ट हो गया । आग जलकर समाप्त होने पर पाया कि दो बच्चे बिनती कर रहे थे । ये प्रक्रिया बाद में भी विपत्ति आने पर चलता रहा । यही 'ओ रम्फ' शब्द बिगड़ कर 'ओ राम' बना । श्री कुजूर के तर्क को उपयुक्त माना जा सकता है । इस तरह 'ओ राम' शब्द का रामायण वाले कथा से कोई सम्बन्ध नहीं माना जा सकता बल्कि 'ओ रम्फ' से सुनने - बोलने में गलती के कारण 'ओ राम' और उराँव शब्द का निर्माण हुआ ।

'उराँव' शब्द की चर्चा के बाद इसके पर्याय 'कुड़ुख़' शब्द पर भी प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है । उराँव शब्द की तरह ही कुड़ुख़ शब्द को लेकर भी कई विद्वानों ने अपना-अपना तर्क प्रस्तुत किया है ।

'कुड़ुख़' शब्द के सम्बन्ध में डाल्टन महोदय का मानना है कि उराँव का कोंकण नामक स्थान पर निवास था । जिसके कारण इनका नाम कुड़ुख़ हुआ । लेकिन इनके निवास स्थान के बारे में कई जगहों का उल्लेख मिलता है जैसे कोकरा, कुरूक्षेत्र, सिन्धु, रोहतासगढ़ इत्यादि । इन शब्दों से भी कुड़ुख़ शब्द की उत्पत्ति हो सकती है लेकिन ऐसा नहीं कहा गया, इसलिए डाल्टन का कथन भ्रमात्मक है ।

डॉ० प्रकाश चन्द्र उराँव के विचार 'कोरकुई', कुरूष या कुरूक्षेत्र से कुड़ुख़ शब्द का बनना उपयुक्त नहीं लगता । यहाँ डॉ० उराँव ने जिन शब्दों का प्रयोग किया है इन शब्दों का उराँव जातियों से कोई सम्बन्ध नहीं है सिर्फ कुरूक्षेत्र से कुड़ुख़ नहीं हो सकता । क्षेत्र हिन्दी शब्द है । अत: यहाँ डॉ० उराँव का तर्क भी मानने योग्य नहीं कहा जा सकता । आगे डॉ० उराँव ने विचारों की दृढ़ता के लिए महाभारत के युद्ध में उराँव जाति को दुर्योधन का पक्ष लेने की बात कही है । मुख्यत: ये सभी बातें सिर्फ शब्दों को मिलाकर कुड़ुख़ शब्द बनाने के लिए किया गया है । रामायण, महाभारत हिन्दू धर्म ग्रंथ है तथा मिथक पर आधारित हैं । उससे उराँव जाति (आदिवासी) का कोई सम्बन्ध नहीं है । ये सभी काल्पनिक कथायें हैं जिससे उराँव जाति को मनमाने रूप से दिखाया गया है । अत: इन बातों को तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता है ।

इसी तरह निवास स्थान को लेकर श्री शान्ति प्रकाश प्रबल बाख़ला ने भी अपनी पुस्तक 'कुड़ुख़ कत्था खीरी' में कुरूक्षेत्र और महाभारत तथा कई अन्य स्थानों की चर्चा की है । लेकिन सिर्फ कुरू से ही कुड़ुख़ शब्द का निर्माण संभव नहीं लगता है क्योंकि इनके निवास स्थान के बारे में स्वयं बाख़ला जी ने विदेशों के अलावा भारत के कई स्थानों का उल्लेख किया है । यदि स्थान को ही आधार माना जाता है तो सभी स्थानों के नाम को विश्लेषण करने की आवश्यकता है । अत: यह भी स्वीकार योग्य नहीं है ।

कुछ भाषा वैज्ञानिकों ने उराँव जाति की भाषा कुड़ुख़ पर विशेष काम किया है । एफ० हॉन एवं डब्ल्यू० क्रूक ने 'इन्सायक्लोपीडिया ऑफ रीलिजन एंड एथिक्स' में लिखा है कि भाषा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कुड़ुख़ द्रविड़ भाषा के शब्द से उत्पन्न हुआ है । यह बात भी स्वीकार योग्य नहीं कहा जा सकता । क्योंकि पहले ही कहा जा चुका है कि भाषा और संस्कृति में अटूट सम्बन्ध है । फिर उराँव जाति के साथ भाषा और संस्कृति का सम्बन्ध कैसे अलग-अलग है ।

एक अन्य अंग्रेज विद्वान ई० ए० गैट का विचार है कि द्रविड़ भाषा में 'कोरख' का अर्थ मनुष्य होता है । यहाँ गैट महोदय का विश्लेषण है कि जिस तरह से मुण्डा, हो, संताल में होड़ का अर्थ मनुष्य होता है उसी तरह से कुड़ुख़ का अर्थ मनुष्य होता है । यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि उपयुक्त आस्ट्रिक भाषा परिवार में मनुष्य के लिए और अलग शब्द शायद नहीं है लेकिन कुड़ुख़ भाषा में है । इस भाषा में मनुष्य के लिए 'आल' शब्द है । उराँव जाति कुड़ुख़ शब्द को जाति एवं भाषा दोनों के लिए प्रयुक्त करते हैं, साथ ही 'आल' शब्द का भी प्रयोग जाति के अर्थ में किया जाता है जैसे - ये हमारा ही आदमी है - ईस नम्है आलस दिम तलदस ।

इस वाक्य में 'हमारा ही आदमी' जाति को इंगित करता है ।

जिस तरह मुण्डा, हो, संताल में 'आबु होड़' जाति को इंगित करता है । इसलिए कुड़ुख़ शब्द ज्यादातर भाषा के लिए ही प्रयुक्त होता है । कई विद्वानों ने इसकी पुष्टि भी की है । जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है । इस सम्बन्ध में सुधांशु शेखर मिश्र एवं विलियम एक्का ने अपनी पुस्तक 'मुड़मा जतरा: एक परिचय' में लिखा है "उराँव वस्तुत: द्रविड़ हैं । जिनकी भाषा कुड़ुख़ है ।" कुड़ुख़ शब्द जाति को इंगित करता है, उसे स्वीकार किया जा सकता है । आगे 'कुड़ुख़' ग्रामर के लेखक एफ० हॉन ने ब्राहुइ भाषा की नजदीकी भाषा बताते हुए द्रविड़ियन भाषा के व्याकरणिक विशेषता की चर्चा की है, लेकिन द्रविड़ियन भाषा के अन्तर्गत कई भाषायें हैं ।

जिसमें सबकी कुछ अलग-अलग विशेषताएँ हैं। कुड़ुख़ भाषा में कुड़ुख़, कुड़ुक, कुड़ोक शब्द का अर्थ बोलने वाला नहीं होता है । बोलने वाला के लिए 'कच्छनखरना', 'कच्छनखरउस' शब्द का प्रयोग किया जाता है । अत: इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है ।

इसी तरह का विचार डॉ० ग्रियर्सन ने व्यक्त किया है कि कुड़ुख़ 'करूग' शब्द से बना है। ग्रियर्सन ने भारतीय भाषाओं का विस्तृत अध्ययन एवं सर्वेक्षण का कार्य भी किया है जो कई भागों में प्रकाशित भी हुई है। इन्होंने कुड़ुख़ भाषा को द्रविड़ परिवार का माना है और भाषायी विशेषता के अनुसार उसने द्रविड़ शब्द करूग को कुड़ुख़ का मूल रूप माना है। आगे उसने सांस्कृतिक पक्ष पर चर्चा करते हुए कहा है कि करूग का अर्थ 'चील्ह' होता है जो उराँव का एक टोटेम है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उराँव जाति का गोत्र कई टोटेमों पर आधारित है। जैसे - कछुआ, कुजरी पौधा, लकड़ा, ख़ेस, केरकेट्टा आदि। इन सबसे भी कुड़ुख़ शब्द की उत्पत्ति हो सकती थी लेकिन ऐसा नहीं हुआ। अत: डॉ० ग्रियर्सन का यह तर्क भी उपयुक्त नहीं लगता है ।

पुन: एफ० हॉन का मन्तव्य है कि 'कूर' या 'कुरचइना' शब्द से कुड़ुख़ शब्द की उत्पत्ति हो सकती है जिसका अर्थ चिल्लाना या हकलाना होता है । लेकिन एफ० हॉन महोदय का यह तर्क यहाँ उपयुक्त नहीं लगता है। इनके दिये गये शब्द 'कुर' या 'कुरचइना' का विश्लेषण भी सही नहीं माना जा सकता क्योंकि कुड़ुख़ भाषा में 'कुर', 'कुरचइना' शब्द का कोई अर्थ नहीं है। कुरचइना से मिलता-जुलता शब्द 'कुरचारना' है जिसका अर्थ डॉ० ख्रीस्त मिखाएल तिग्गा ने अपनी पुस्तक 'तीगा चाल खोजा' पृ० 53 में लिखा है - चमड़ा, पंख या बाल का बदलना। इसके अलावे कुड़ुख़ भाषा बोलनेवालों में ऐसी कोई भी विशेषता दिखायी नहीं पड़ती जिससे उनके हकलाने की बात को प्रमाणित किया जा सके। वे अपनी भाषा शब्द को सहज और स्पष्ट तरीके से उच्चारण करते हैं। अत: यह तर्क भी स्वीकार्य नहीं है । एफ० हॉन का एक और तर्क है - 'कुरगी' अथवा 'कुरखी' शब्द से कुरूख शब्द बना जिसका अर्थ घेरा लगाना या निवास स्थान हो सकता है। लेकिन कुड़ुख़ भाषा में 'कुरगी', 'कुरख' का अर्थ जानवरों को रखने का घेरा है । (डॉ० ख्रीस्त मिखाएल तिग्गा की पुस्तक तीगा चाल खोजा, पृ० 52)। अत: जानवरों के घेरे में जाति का बोध होना संभव नहीं लगता है । इस तरह की उल-जलूल बातों को अगर हम उपयुक्त मान लें तो कुड़ुख़ की उत्पत्ति की बात को निश्चित करने में बहुत कठिनाई हो जायेगी । आदिवासियों में नाम रखने की जो परम्परा है वह बिल्कुल ही अलग है । उराँव समाज में नाम केवल कर्णप्रिय

और सुन्दर शब्दों को मिलाकर ही नहीं रखा जाता बल्कि उसमें कुछ विशेष तथ्य छिपे होते हैं जो उनके सामाजिक विधि-विधान और धर्म से जुड़े होते हैं । इसलिए उराँव या कुड़ुख़ के नामकरण में भी इनके रीति-रिवाज, प्रथा, परम्परा, विश्वास आदि अन्य पहलुओं पर दृष्टिपात करने की आवश्यकता है ।

प्रसिद्ध मानवशास्त्री एस० सी० राय का मन्तव्य है कि कुड़ुख़ शब्द का विकास 'कृष' शब्द से हुआ है । कृष शब्द का अर्थ 'कृषक'। यानि कृषि कार्य करने वाले लोग । थोड़ी देर के लिए इस तर्क को उपयुक्त मान लिया जाय तो प्रश्न यह उठता है कि छोटानागपुर के और भी आदिवासी कृषि का कार्य करते हैं और उनकी भी जीविका का मुख्य साधन कृषि है । ऐसी स्थिति में सभी को कुड़ुख़ कहा जाना चाहिए लेकिन ऐसा नहीं हुआ । इसलिए कृष शब्द से कुड़ुख़ शब्द बनना उपयुक्त नहीं लगता ।

'बिहार के आदिवासी' नामक पुस्तक में जियाउद्दीन अहमद लिखते हैं कि पेशा काश्तकारी था । यहाँ अहमद जी का तर्क भी उपयुक्त नहीं लगता है क्योंकि आदिवासी शुरू से ही स्वावलंबी थे । वे अपना सभी काम स्वयं करते थे । क्या प्रत्येक काम के लिए उन्हें अलग-अलग नाम दिया जाय ? अब तक तो उराँव जाति के साथ यही होता आया है, मजदूरी करता है तो धांगड़, मिट्टी कोड़ता है तो मोदी, कोड़ा, खेती करता है तो किसान एवं काम की तलाश में कहीं जाता है, तो उड़नेवाला इत्यादि । इसलिए इस विचार को सही नहीं कहा जा सकता ।

आगे फिर लेखक जियाउद्दीन अहमद लिखते हैं कि 'कोरख' नाम के एक प्रसिद्ध राजा थे, इन्हीं के नाम पर 'कारख' रखा गया । परन्तु अब तक के अध्ययन में या उराँव समाज के प्रचलित लोक कथा, लोक गीत या पौराणिक कथा में कहीं भी 'कोरख' नाम के राजा का उल्लेख नहीं है । इसलिए इसे गहन ऐतिहासिक अध्ययन एवं शोध कार्य के लिए रखा जा सकता है ।

संत अलबर्ट कॉलेज, राँची में कार्यरत फा० लीनुस कुजूर ने 'सेवार्थम' पत्रिका में लिखा है कि उराँव अपने आप को 'कुड़ख़र' कहते हैं यहाँ पर अन्तिम शब्द 'र' कुड़ुख़ भाषा के व्याकरणिक विशेषता को इंगित करता है । कुड़ुख़ मूल शब्द है । कुड़ुख़ भाषा के अनुसार 'कुड़ख़र' शब्द अन्य पुरुष बहुवचन को दर्शाता है । उदाहरण देते हुए उन्होंने बताया कि हमलोग भी जगह या भाषा के अनुसार किसी का नाम लेते हैं जैसे अमेरिका के लोगों को अमेरिकी, ब्रिटेन के लोगों को ब्रिटिश, जर्मनी इत्यादि । इसलिए किसी समय 'कुड़ुख़' देश अवश्य ही रहा होगा । इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने, शोध करने की आवश्यकता है ।

उराँव जनजाति का सामान्य परिचय

उराँव सामाजिक कार्यकर्ता श्री मंगरा कुजूर ने उराँव लोक कथा के अनुसार कुड़ुख़ शब्द की उत्पत्ति का वर्णन किया है । उनका कहना है कि 'कुड़आ अख़ना' शब्द से कुड़ुख़ शब्द की उत्पत्ति हुई है । इस कथा को सुनने, जानने एवं विश्लेषण करने पर यह सत्य प्रतीत होता है क्योंकि यह शब्द कुड़ुख़ भाषा का है । आग का आविष्कार, आग का कुड़ुख़ भाषा में नामकरण, मांस का जलना तथा उसके बाद पकाकर खाने, सीखने इत्यादि कथा क्रमानुसार है एवं किसी काल को इंगित करता है । यह सही भी है । आदिकाल में मानव इसी स्तर से गुजरा है । इसलिए इस पर विचार मंथन करने से यह कथा सत्य की तह तक आदि काल की सैर कराता है । अभी भी ग्रामीण क्षेत्रों में इस तरीके से बनाया गया खाद्य पदार्थ का एक अलग ही स्वाद है, जिसे लोग बड़े चाव से खाते हैं। इस तरह से श्री मंगरा कुजूर के तर्क को सही माना जा सकता है, क्योंकि कथा कुड़ुख़ भाषा, संस्कृति सभ्यता को क्रमानुसार दिखाता है । इसमें किसी तरह की कल्पना बनावटी या भ्रमात्मक बातों का समावेश या शब्दों को जबर्दस्ती जोड़-तोड़ करने का आभास नहीं मिलता है ।

उराँव और कुड़ुख़ नाम के अलावे इन्हें और कई नाम से जाना जाता है । जैसे - धांगर, ढंका, पहाड़ी आदमी, काडु, कोल, किसान, कोड़ा, नागपुरिया, गाँगपुरिया, बेरगा, मोदी तथा डीगर ।

अब इनके इन नामों की भी चर्चा एवं विश्लेषण करना आवश्यक है । उराँव जाति के सम्बन्ध में विचार मनन करने वाले डॉ० करमा उराँव अपनी पुस्तक 'द स्पैक्ट्रम ऑफ ट्राइबल रीलिजन इन बिहार' में लिखा है कि भारत के अन्य भाग एवं नेपाल के बॉडर में इन्हें धांगर के नाम से जाना जाता है । आगे उन्होंने लिखा है कि यह उनका असली नाम नहीं है । प्रवर्जन के दौरान वे छोटानागपुर से दूसरे क्षेत्र में गये जहाँ उनके पेशे के आधार पर यह नाम दिया गया। अन्य विद्वानों ने भी धांगर शब्द की चर्चा की है जो बिल्कुल गलत है । प्रवर्जन सिर्फ उराँव जनजाति का ही नहीं अन्य जातियों का हमेशा होता रहा है ! ऐसे में उराँव जाति के लिए ही इस तरह के उपहासात्मक शब्दों का प्रयोग क्यों किया गया ? धांगड़ और धांगड़ी मुण्डारी शब्द है जिसका अर्थ युवा लड़का एवं युवा लड़की होता है । लेकिन आर्य भाषा-भाषियों ने इसका अर्थ घरेलू नौकर के रूप में लिया यही गलत परम्परा अब तक चलता रहा जो आज इनके लिए जाति के रूप में प्रचलित हो रहा है । कुछ विद्वानों का तर्क है कि धांगर शब्द का अर्थ आदमी है । यदि यह कथन सत्य है तो सिर्फ उराँव जाति के लिए ही धांगर न लिखकर सभी मनुष्यों

के लिए यह शब्द प्रयुक्त होना चाहिए था। इस तरह कई बड़े विद्वानों जैसे – के० एस० सिंह, एच० बी० रोनी, ए० बी० शरण, एफ० हॉन, रसैल एवं हीरालाल आदि विद्वानों ने उराँव जाति को किसान, कुड़ा, कोड़ा, कोल, धांगर जैसे – नामों से अभिहित किया है। वस्तुतः इन भोले लोगों के लिए जिसने जैसा चाहा वह नाम दे दिया जो सर्वथा गलत है। इन विद्वानों का तर्क है कि किसान का अर्थ खेती करने वाला और कोड़ा का अर्थ कोड़नेवाला के लिए प्रयुक्त हुआ है। सर्वविदित है कि अन्य जाति के लोग भी सभी कार्य करते हैं। उन्हें यह नाम क्यों नहीं दिया गया ? प्रत्येक मनुष्य के जीवन में अनेक क्रियाकलाप है। उसके आधार पर व्यक्ति विशेष को किसान, नौकर, ड्राइवर, मजदूर, डॉक्टर इत्यादि कहना तो ठीक है, लेकिन जाति विशेष के लिए इस तरह कई नाम स्थिर करना संभवतः उन्हें अपमानित करना ही है। साधारणतः लोग बोल-चाल की भाषा में एक दूसरे को बहुत सारे अच्छे-बुरे नामों से इंगित करते हैं लेकिन साहित्य रचना में विद्वानों द्वारा ऐसा लिखना अशोभनीय कार्य है। उराँव और कुड़ुख़ छोड़कर अन्य शब्द उराँव जनजाति के लिए अपमानजनक शब्द है। इसी सम्बन्ध में ई० टी० डाल्टन का विचार है कि डाँग या ढाँग से धांगड़ शब्द बना है। लेकिन डॉल्टन महोदय का यह तर्क भी बेसिर-पैर की बात लगती है। 'डॉग' या 'ढांग' से 'धांगड़' शब्दों का कोई सम्बन्ध नहीं है न ही इन दोनों शब्दों का कोई सम्बन्धित अर्थ है। दक्षिण बिहार (छोटानागपुर) के आदिवासी दो भाषा परिवार की भाषायें बोलते हैं जिसमें द्रविड़ भाषा परिवार में 'धांगड़' और 'धांगड़ी' शब्द नहीं है। आस्ट्रिक भाषा परिवार में युवक के लिए 'धांगड़' और युवती के लिए 'धांगड़ी' शब्द का प्रयोग होता है। इस शब्द से युवा लड़का और युवा लड़की का बोध होता है न कि नौकर का। उराँव जब पहली बार इस क्षेत्र में आये तो मुण्डाओं ने उन्हें शरण दिया। उनकी रोजी-रोटी के लिए उन्हें क्षेत्र (खेत) जमीन दिया गया। वे उस पर कृषि कार्य करने लगे। वे उनका अच्छा कार्य देखकर दंग रह गये। इस तरह वे इनके कार्य से प्रभावित हुए। युवा लड़का या लड़की ही अधिक अच्छा कार्य कर सकता है। इसलिए सम्पन्न मुण्डाओं ने उन्हें अपने यहाँ काम पर भी रखा। जिसे युवा के अर्थ में धांगड़ कहा गया न कि नौकर के अर्थ में। आर्यो के आगमन के पश्चात इस शब्द को समझने में भ्रान्ति हुई। आर्यो ने समझा धांगड़ का अर्थ नौकर होता है और धीरे-धीरे यही शब्द प्रचलित हो गया। कुछ विद्वानों ने सही जानकारी के बिना इसी धांगड़ शब्द को एक जाति के रूप में लिख दिया जो बिल्कुल अग्राह्य है।

डॉ० दिवाकर मिंज ने अन्यत्र लिखा है कि मिट्टी की दीवार खड़ा करने तथा बांध बांधने या मिट्टी के मेड़ बनाने में काफी कुशल हैं और इस पेशे के अनुरूप वे मोदी नाम से विख्यात हुए। आगे इनका कथन है कि इनकी संख्या अच्छी है। अत: मोदी जाति उराँवों की एक उपजाति के रूप में अपना स्थान बनाती जा रही है। इस बात का समर्थन डॉ० प्रकाश उराँव ने भी अपनी पुस्तक 'बिहार के उराँव' में की है। अगर यह मान लिया जाय कि अन्य विद्वानों ने जाने-अनजाने इस तरह का नाम दे दिया और किसी जाति विशेष को मजाक बनाया लेकिन कुछ विद्वान जो उसी जाति, समाज से सम्बन्ध रखते हैं, उन्होंने इस बात का समर्थन कैसे कर लिया ? इस तरह प्रत्येक काम के लिए एक-एक नाम दिया जाय तो इनके सौ रूप मिलेंगे जो असंभव है। डॉ० मिंज ने अन्यत्र उराँवों की उपजाति की बात कही है। लेकिन उराँव जाति सिर्फ एक है। उसकी कोई उपजाति की कहीं किसी परम्परा या रीति-रिवाज में चर्चा नहीं है फिर ये उपजाति का यहाँ निर्माण कैसे और किस आधार पर किया गया ? वस्तुत: ये सभी उराँव हैं इनकी कोई उपजाति नहीं है। अत: विभिन्न नामों के द्वारा उन्हें संबोधित करना ही भ्रमात्मक है।

इसी तरह ए० ग्रिगर्नाड (1931) ने अपनी पुस्तक में उराँव के तीन नामों की चर्चा की है जो जन्म स्थान, वेशभूषा तथा उनके बात व्यवहार पर आधारित है। वर्तमान में उराँव जनजाति का निवास पूरे भारत वर्ष में है।

उराँव जनजाति का भौगोलिक वितरण पूरे भारत वर्ष में हुआ है। वर्तमान में उनका मूल निवास स्थान दक्षिण बिहार का झारखण्ड क्षेत्र है। यह सही है कि जाति की पहचान उनके मूल निवास स्थान से जुड़ा होता है। लेकिन यह सिर्फ व्यवहारिक स्थिति तक ही सीमित है। विद्वानों को लिखित या पुस्तक का स्वरूप देने के लिए यह बिल्कुल उपयुक्त नहीं है कि किसी जाति विशेष को कोई क्षेत्र या स्थान विशेष के नाम से जोड़कर 'नागपुरिया', गांगपुरिया' या अन्य नाम दिया जाय। इससे उराँव जाति की एकता में बिखराव पैदा हो रहा है। यह बहुत ही अनुचित और अव्यवहारिक है। उसी तरह समयानुसार प्रचलित वेषभूषा या श्रृंगार से सभी लोग प्रभावित होते हैं। सिर्फ उराँव जनजाति के पहनावे और श्रृंगार को देखकर उसे अलग नाम 'ढंका' देना बिल्कुल तथ्यहीन एवं उसका उपहास करना ही है। वैसे ही क्षेत्र विशेष की भाषा से सभी भाषा भाषी प्रभावित होते हैं। इसलिए क्षेत्र विशेष में बोली जानेवाली भाषा की किसी विशेषता उच्चारण या शब्द के आधार पर उसे एक अलग नाम 'बेरगा' दे देना न्यायसंगत नहीं है। बातचीत तक तो ठीक है लेकिन इसे लिखने या किताबी रूप देना उचित नहीं है।

उराँव जाति को विभिन्न नामों के द्वारा संबोधित किया गया । कई विद्वानों ने उराँव जाति पर अध्ययन किया और कई पुस्तकें भी लिखी गयी । लेकिन उनके नाम की सार्थकता के लिए कोई विशेष समीक्षा नहीं की गयी अधिकतर विद्वानों ने मनोरंजक, काल्पनिक तथ्यों का सहारा लिया है तथा सिर्फ शब्दों को मिलाकर नाम रखने की कोशिश की है । किसी भी जाति के विकास (सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक उत्थान) के लिए नाम का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसलिए नाम की सार्थकता और उपयोगिता पर ध्यान देने की आवश्यकता है ।

हमने विद्वानों के विभिन्न विचारों को देखा जिसमें तरह-तरह का अनुमान लगाया गया है । किसी ने रामायण का वानर कहा, किसी ने रावण का वंशज कहा । किसी ने महाभारत के दुर्योधन का सहयोगी, किसी ने भाषा से जोड़ा । किसी ने पेशे से जोड़ा । इसके बावजूद भी नामकरण के लिए दिया गया कोई भी विचार सही प्रतीत नहीं होता है । कई विद्वानों ने आदिवासियों को निम्न हिन्दू की श्रेणी में रखा है । यहाँ 'उराँव' को रामायण, महाभारत से सम्बन्ध बताना इसी ओर संकेत करता है जिसे स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

आदिवासियों में वर्ण व्यवस्था नहीं है । जाति में ऊँच-नीच जैसी व्यवस्था नहीं है । सभी आदिवासी समान है, एवं वे अपना सभी काम स्वयं करते हैं । इसलिए पेशा के आधार पर भी इनका वर्गीकरण संभव नहीं है । विद्वान एस० सी० राय के तर्क रामायण की कथा जिसमें वानरों ने राम की सहायता की थी । यदि इसे थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय तो यह कितनी दुखद बात है कि जिस मनुष्य ने राजा राम को विपत्ति में साथ दिया उन्हें मनुष्य का दर्जा न देकर पशु की श्रेणी में रखा गया और उन्हें वानर कहा गया । उनके उपकार का यही बदला चुकाया गया ? यह सामन्तवादी प्रथा का द्योतक है । किसी जाति, किसी मनुष्य के लिए हीन अपशब्द का प्रयोग किया गया । राजा राम के जमाने में शिक्षित या नगर में रहने वाले नागरिक वानर और मनुष्य में फर्क नहीं समझते थे ऐसा लगता है । यही कारण है कि परोपकारी को वानर कहा गया । पुनः वही वानर जाति ने राम की मृत्यु पर शोक व्यक्त भी किया । लेकिन फिर भी शिक्षित, नागरीय, विद्वानों को वानर और मनुष्य में फर्क नजर नहीं आया । इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए एक वानर, एक जानवर 'ओ राम' कहकर विलाप कर सकता है ? ये संभव नहीं हो सकता । अतः 'ओ राम' से उराँव शब्द की उत्पत्ति सिर्फ एक गढ़ी गयी कहानी प्रतीत होती है ।

उराँव जनजाति का सामान्य परिचय

महापंडित और विद्वानों ने रामायण, महाभारत से जोड़कर उराँव जाति को तरह-तरह से अपनी ओर (हिन्दू धर्म की ओर) आकर्षित करने की कोशिश की है । इसलिए रामायण के मुख्य पात्र राम से जोड़ने की कोशिश की । उसी तरह महाभारत से भी जोड़ा गया। लेकिन ध्यान देने योग्य बात यह है कि विद्वानों ने इन्हें निम्न स्तर के समुदायों के रूप में ही प्रस्तुत किया । रामायण में वानर बनाकर या रावण का वंशज बताकर। महाभारत में दुर्योधन का सहयोगी बनाकर। इनके उपकार का यही फल इन्हें (उराँव को) अपनी उपहास के रूप में मिला। वही परम्परा आज तक चली आ रही है ।

संपूर्ण मानव जाति की सभ्यता, भाषा, संस्कृति और धर्म से गहरा सम्बन्ध होता है । इन सभी चीजों को मनुष्य से अलग करना बहुत ही कठिन कार्य है। उराँव जाति की भी अपनी सभ्यता, भाषा, संस्कृति और धर्म है भले ही इनका क्रमवार अध्ययन नहीं किया गया हो । इन्हें इन सबसे दूर रखकर उनके विकास या हित की बात नहीं सोची जा सकती है । उराँव का अपना धर्म है जिसे 'सरना' या 'आदि धर्म' के नाम से जाना जाता है । हिन्दू धर्म से उनका सम्बन्ध पड़ोसी रूप में ही है। 'ओ रम्फ' से उराँव शब्द की उत्पत्ति पर चर्चा पिछले पन्ने पर की जा चुकी है। उराँव जाति के धर्म 'सरना' में सूर्य को सृष्टिकर्त्ता माना जाता है । सूर्य की किरण से धरती में सृष्टि होती है । सृष्टि की इसी विशेषता को देखते हुए उराँवों ने 'ओ रम्फ' 'ओ रम्फ' कहकर उसकी विनती की थी । जब दूसरे लोगों ने इन्हें इस तरह विनती करते सुना तो उन्होंने 'ओ रम्फ' को 'ओ राम' सुना, जो गलत है ।

इनके पर्व-त्यौहारों में सरहुल इनका मुख्य त्यौहार है । सरहुल पर्व में सूर्यदेव एवं धरती माँ की आराधना की जाती है । जिससे संपूर्ण सृष्टि की रचना होती है। सृष्टि के लिए दृष्टि होना अतिआवश्यक है और सूर्य देव की कृपा के बगैर यह चक्र संभव नहीं है ।

इसी तरह भाषा और संस्कृति में अटूट सम्बन्ध माना जाता है । लेकिन यह कथन उराँव जाति के साथ लागू नहीं होता। क्योंकि उनकी भाषा कुड़ुख़ द्रविड़ भाषा परिवार के अन्तर्गत आती है एवं प्रजातीय और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से ये झारखण्डी आदिवासी से समानता रखते हैं । कहीं पर गहन विचार मंथन और शोध कार्य में अवश्य कमी रह गयी है जिससे उराँव जाति को आज इस स्थिति का सामना करना पड़ रहा है । इसलिए इन विद्वानों के विचार को उराँव जाति की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, भाषायिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक विशेषता को

देखते हुए उपयुक्त नहीं कहा जा सकता । कुछ विद्वानों ने कारख राजा एवं कारूष देश की बात लिखी है । दिये गये इन तर्कों में यदि ऐतिहासिक सत्यता है तो इन बातों को ऐतिहासिक प्रमाण के साथ रखना चाहिए और तब इसे स्वीकार किया जा सकता है ।

यदि हम इनकी भाषा, संस्कृति, परम्परा, रीति-रिवाज आदि को देखें तो जगदीश त्रिगुणायत श्री मंगरा कुजूर, स्व० लोहरा उराँव एवं फा० लीनुस कुजूर के तर्क को सही माना जा सकता हैं जगदीश त्रिगुणायत एवं स्व० लोहरा उराँव का तर्क उराँव मुण्डा के सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकता को एक सूत्र में बांध ता है, जिससे उनमें और अधिक सौहाद्रता की भावना आयेगी । उसी तरह श्री मंगरा कुजूर का तर्क मानव सभ्यता के विकास के पहले चरण को दर्शाता है । फा० लीनुस कुजूर का तर्क ऐतिहासिक पक्ष को प्राथमिकता देते हुए 'उराँव' और 'कुड़ुख़' शब्द की उत्पत्ति को ढूंढने का प्रयास करता है । फा० के अनुसार 'उराँव' और 'ओराँव' रचना में बहुत अन्तर है । इसे अंग्रेजी में दो तरह से लिखा जाता है । 'O' और 'U' से । लेकिन अंग्रेजी में लिखते समय हमें 'U' का ही प्रयोग करना चाहिए। यहाँ पर फा० लीनुस कुजूर के तर्क को सही माना जा सकता है क्योंकि हिन्दी में हम 'उराँव' लिखते हैं, 'ओराँव' नहीं। लिखते-लिखते या सुनने में थोड़े अन्तर से ही नाम बिगाड़ कर बिल्कुल बदल दिया जाता है । उराँव के साथ यही होता रहा है । यही कारण है कि उड़ीसा के कुछ क्षेत्रों में 'उराँव' को 'ओराम' लिखा और बोला जाता है । उसी तरह भारत के पूर्वी क्षेत्रों (राज्यों) में उराँव के स्थान पर 'उरांग' शब्द का प्रचलन है । आगे फा० लीनुस कुजूर का तर्क है कि हमारे देश में भाषा के आधार पर राज्यों का गठन हुआ है । आदिवासियों के लिए भी यही बात लागू होना चाहिए । उराँव जाति को उनका अलग राज्य दे दिया जाय ताकि वे उसे अपने तरीके से चलायें और विकास का कार्य कर सके । उराँव बहुल क्षेत्र में उराँवों को 'कुड़ुख़ राजी (राज्य) मिलना चाहिए जिससे उनकी जाति, भाषा, संस्कृति एवं धर्म को बचाया जा सके । किसी जमाने में कहीं पर कुड़ुख़ नाम का राज्य अवश्य रहा होगा तभी तो उनकी भाषा कुड़ुख़ अभी भी जीवित है । कुड़ुख़ शब्द उनमें भावनात्मक रूप से जुड़ा हुआ है जिसे अलग नहीं किया जा सकता है । भाषा किसी व्यक्ति जाति की पहचान होती है । इसलिए फा० लीनुस कहते हैं कारूष देश, कारख राजा और उनकी कुड़ुख़ भाषा अवश्य ही रही होगी । अतः इस पर पुनः खोज एवं गहन विचार, मंथन और शोध करने की आवश्यकता है ।

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि उराँव जाति कई नामों के कारण बिखर गये हैं। इसका प्रभाव उनकी जनसंख्या, एकता एवं अखंडता पर पड़ता है। इससे इनका पूर्ण जीवन प्रभावित होता है। जैसे राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, शैक्षणिक एवं अन्य। विभिन्न नामों के कारण ही आज उनकी वास्तविक जनसंख्या का भी पता नहीं चलता है। विभिन्न नाम ने इनके अस्तित्त्व एवं पहचान को भी खतरे में डाल दिया है। जहाँ एक ओर सरकार जनजातियों के विकास के लिए प्रयासरत है वहीं दूसरे ओर विद्वानों द्वारा अपनी पुस्तकों में गलत, तथ्यहीन बातें लिख दिया गया है जिससे लोग उत्साहित होने के बजाय हतोत्साहित होते हैं।



उराँव जनजाति का सामान्य परिचय

जनसंख्या-क्षेत्र

सन् 2001 की जनगणना रिपोर्ट में भारत की कुल जनसंख्या 1,028,610,328 करोड़ दर्शाई गई है । इसमें 84,326,240 आदिवासी जनसंख्या है । भारतीय संविधान में 573 आदिवासी समुदाय को जनजाति अनुसूची में रखा गया है । जम्मू कश्मीर को छोड़कर अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या भारत के कुल जनसंख्या का 8.08% है ।

नवगठित झारखण्ड राज्य की कुल जनसंख्या 26,945,829 है जिसमें आदिवासी जनसंख्या 7,087,068 है, अर्थात् 26.3 प्रतिशत । (Source : Primary census Abstract : census of India 2001)

आदिवासी (अनुसूचित जनजाति) मुख्य रूप से मध्य एवं पूर्वी भारत के कई राज्यों में केन्द्रित हैं । झारखण्ड, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, अन्ध्रप्रदेश, महाराष्ट्र एवं प० बंगाल इत्यादि राज्यों में इनकी बहुलता है । अनुसूचित जनजातियों में सबसे अधिक जनसंख्या क्रमशः गोंड़, भील, संथाल, मीना, उराँव तथा मुण्डा का है । इस तरह जनसंख्या की दृष्टि से उराँव जनजाति का पाँचवाँ स्थान है । वर्तमान समय में उराँव का भौगोलिक वितरण बहुत विस्तृत है । वे भारत वर्ष तथा भारत से बाहर जैसे- नेपाल, भूटान, बांग्ला देश आदि में भी मूल रूप से निवास करते हैं ।

डॉ० फ्रांसिस एक्का ने अपनी पुस्तक 'कुड़ुख़ फोनेटिक रीडर' में लिखा है कि "उराँव जनजाति का भौगोलिक वितरण उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश तथा राज्य के सीमावर्ती क्षेत्रों में हुआ है । इनका वितरण दूसरे राज्य जैसे- महाराष्ट्र, त्रिपुरा, नागालैंड और असम के चाय बगानों के क्षेत्र में हुआ है । भारत वर्ष के बाहर नेपाल, भूटान और बांग्ला देश में भी इसका विस्तार हुआ है ।"[43]

इसी तरह उराँव के विस्तार के सम्बन्ध में अजीत कुमार सिंह और अवधेश प्रसाद सिन्हा ने अपनी पुस्तक 'भारत के आदिवासी' में लिखा है कि "बिहार के अलावा असम, बंगाल, उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश में भी उराँव जनजाति निवास करते हैं ।"[44]

डॉ० करमा उराँव ने भी 'द स्पेक्ट्रम ऑफ ट्राइबल रीलीजन में लिखा है "उराँव की कुल जनसंख्या 1971 की जनगणना के अनुसार लगभग 2 मीलियन (बीस लाख) है । भारत में उराँव का मुख्य केन्द्र छोटानागपुर का पठार है । छोटानागपुर के अलावा उराँव जनजाति देश के दूसरे भाग में भी पाये जाते हैं। ये पूर्णिया, शहाबाद, भागलपुर, कटिहार आदि जगहों में भी पाये जाते हैं ।"[45]

आगे उराँव की जनसंख्या एवं विस्तार के बारे में जगदीश त्रिगुणायत ने अपनी लेख 'उराँव भाषा और साहित्य' में लिखा है "1941 की जनगणना के अनुसार उराँव की जनसंख्या लगभग 10 लाख है। बिहार के अतिरिक्त उड़ीसा के गांगपुर में चौसठ हजार, और मध्य प्रदेश के पूर्वी भाग के छत्तीसगढ़, जशपुर, उदयपुर, सुरगुजा कोरिया आदि हाल तक की रियासतों तक 1,62,960 की संख्या में बसे हुए हैं। जलपाइगुड़ी के चाय बगानों में भी इन्होंने अपना एक उपनिवेश बसा लिया है। इनकी जनसंख्या सिर्फ राँची जिले में ही पाँच लाख तेइस हजार है।[46]

अंग्रेज विद्वान ई० टी० डाल्टन ने भी उराँवों का गहराई पूर्वक अध्ययन किया है। इन्होंने अपनी पुस्तक 'डिस्क्रीपटीव एथनोलॉजी ऑफ द बंगाल' में लिखा है- "उराँव जाति का भौगोलिक वितरण मुख्य रूप से छोटानागपुर के उतरी पश्चिमी भाग जशपुर और सरगुजा के पूर्वी भाग में है। छोटानागपुर के दूसरे भाग सिंहभूम, गांगपुर, बोनाई और हजारीबाग क्षेत्र में भी फैले हुए हैं। साथ ही संबलपुर के मध्यभाग में भी ये फैले हुए हैं।"[47]

उराँव जाति की भौगोलिक वितरण के विषय में नर्मदेश्वर प्रसाद का अपना ही विचार है। उन्होंने अपनी पुस्तक में लिखा है- "बिहार के अन्य जिलों में, जैसे- शहाबाद, चम्पारण, दरभंगा, भागलपुर, सहरसा, पूर्णिया, संथालपरगना, हजारीबाग, धनबाद, सिंहभूम आदि जगहों में मुख्य रूप से निवास करते हैं।"[48]

देश के अलावे विदेशों में भी उराँव के निवास स्थान एवं भौगोलिक वितरण की चर्चा करते हुए शांति प्रबल प्रकाश बाख़ला ने अपनी पुस्तक 'कुडुख़ कत्था खीरी' के बीच में कई देशों में उराँव जाति के निवास स्थान एवं भ्रमण को बताया है। जैसे अमेरिका, रूस आदि।"[49]

पश्चिम बंगाल के सरकारी जनगणना रिपोर्ट 1971 के अनुसार वर्णन करते हुए धीरेंद्र बास्के ने अपनी पुस्तक 'पश्चिम बंगेर आदिवासी समाज' में लिखा है उराँव की संख्या पश्चिम बंगाल में 2,91,173 है।"[50]

इसी प्रकार जियाउद्दीन अहमद भी 1971 की जनगणना के अनुसार अपनी पुस्तक 'बिहार के आदिवासी' में लिखते हैं "उराँव की जनसंख्या लगभग 8 लाख 76 हजार है।"[51]

एक और पुस्तक 'मुड़मा जतरा : एक परिचय' में लेखक सुधांशु शेखर मिश्र एवं विलियम एक्का ने 1991 के अनुसार लिखा है "उराँव की जनसंख्या लगभग 10 लाख है।"[52]

इस तरह विभिन्न विद्वानों एवं समाजशास्त्रियों की जनसंख्यात्मक रिपोर्ट का आँकड़ा एवं भौगोलिक वितरण देखने के बाद उराँव के सरकारी रिपोर्ट का विश्लेषण करेंगे। जनगणना 1941 के अनुसार बिहार, बंगाल, मध्य प्रदेश और उड़ीसा में उनकी कुल जनसंख्या 14,44,559 थी जो 1971 की जनगणना के अनुसार बढ़कर 17,12,662 हो गई थी। सन् 1961 और 1971 के जनगणना का विस्तृत विवरण इस प्रकार था।

राज्य	वर्ष 1961	वर्ष 1971
बिहार	7,35,825	8,76,218
पश्चिम बंगाल	2,97,394	2,91,173
मध्य प्रदेश	2,83,873	3,78,652
उड़ीसा	1,29,861	1,74,619
त्रिपुरा	2,875	
महाराष्ट्र	1	

ऊपर के तालिका द्वारा स्पष्ट है कि बिहार में इनकी जनसंख्या अत्यधिक थी। इसके बाद मध्य प्रदेश का दूसरा स्थान है। पश्चिम बंगाल का तीसरा एवं उड़ीसा का चौथा स्थान है।

सन् 1971 की उपलब्ध जनगणना के अनुसार भारत में उराँव जाति की जनसंख्या 1,712,662 दर्शायी गई है। पुनः 1971 की जनसंख्या An Atlas of Tribal India, Moonis Raja, Concept Publishing Company, A/ 15-16 में उराँव की कुल आबादी 1,447,429 दिखायी गयी है।

पहले की जनगणना के अनुसार ही बिहार में इनकी जनसंख्या 8,76,218 दिखाई गई है। 1941 की जनगणना की तरह ही 1971 की जनगणना में राँची में उराँव की जनसंख्या सर्वाधिक 5,67,774 दिखाई गई है।

उराँव जनजाति का सामान्य परिचय

1961 की जनगणना के अनुसार विभिन्न जिलों में उराँव जाति की जनसंख्या इस प्रकार थी ।

जिला	कुल जनसंख्या	जिले की कुल जनसंख्या में से उराँव का प्रतिशत	जिले में दूसरे जनजाति की संख्या में से उराँव का प्रतिशत
छोटानागपुर और संथाल परगना	5,54,000	14.51	11.50
राँची	4,37,000	20.44	33.19
पलामू	30,000	6.73	35.05
हजारीबाग	14,000	0.59	5.18

1961 की ही जनगणना के अनुसार बिहार राज्य में विभिन्न जिले, सबडिवीजन और अंचल में जनजातियों की कुल जनसंख्या में से उराँव जनजाति की जनसंख्या का प्रतिशत इस प्रकार था।

पूरे बिहार में	17.5%
राँची में	78.8%
पलामू में	11.4%

हजारीबाग के तनवा अंचल (सदर सबडिविजन) में 2.9 प्रतिशत दूसरे अंचल में 1 से 5 प्रतिशत तक धनबाद जिले और संताल परगना में उराँव की जनसंख्या बहुत कम थी । गोड्डा सबडिविजन के बेरमो अंचल और राजमहल सबडिविजन, राजमहल अंचल के जनजातीय संख्या के 2.46 प्रतिशत थी ।

राँची जिले के अंतर्गत उराँव मुख्यत: गुमला सबडिविजन और सदर में निवास करते थे। वर्तमान में गुमला एक स्वतंत्र जिला है।

गम्हरिया अंचल में	59.52%
लोहरदगा में	55.73%
बेड़ो में	51.78%
किस्को में	44.82%
कुड़ू में	44.73%

गुमला सबडिविजन के अंतर्गत उराँव निम्नलिखित स्थान पर केंद्रित हैं।

चैनपुर अंचल में	66.6%
घाघरा अंचल में	65.38%
सिसई अंचल में	55.95%
विशुनपुर अंचल में	55.55%
गुमला अंचल में	42.95%
रायडीह अंचल में	43.50%

पलामू जिले के अंतर्गत ये मुख्य रूप से निम्नलिखित भागों में केंद्रित है। वहाँ की कुल जनसंख्या में से इनका प्रतिशत इस प्रकार है।

लातेहार सबडिविजन में	
महुआडांड़ में	43.75%
गारू अंचल में	36.36%
चन्दवा अंचल में	25.71%
भादोरिया अंचल में	26.31%
वहाँ के बाकी दूसरे अंचल में	25%

इस तरह हम पाते हैं कि 1961 और 1971 के जनगणना के अनुसार उराँव की जनसंख्या सबसे अधिक राँची जिले में क्रमश: 4,37,000 और 5,64,747 थी।

Table - 3 A

Population of Tribals in Bihar (1941-81)

Sl. No.	Name of Tribes	1941	1961	1971	1981
1.	Asur	4300	5819	7026	7783
2.	Baiga	54	951	1007	3551
3.	Banjara	255	42	130	411
4.	Bathudi (1931)	990	456	980	1595
5.	Bedia	31813	30241	40021	60446
6.	Bhumij	108230	101057	124318	136109
7.	Binjhia	5317	6725	9119	10009
8.	Birhor	2550	2430	3464	4337
9.	Birjia	2075	4029	3628	4057
10.	Chero	19337	30049	38741	52230
11.	Chik Baraik (1931)	29739	30770	33476	40339
12.	Gond	27445	33521	40869	96574
13.	Gorait	9331	4793	3239	5207
14.	Ho	383737	454746	505172	536526
15.	Karmali	10549	26509	26900	38651

Sl. No.	Name of Tribes	1941	1961	1971	1981
16.	Kharia	87522	108983	127002	137772
17.	Kharwar	77589	109357	139212	222758
18.	Khond	-	814	596	1264
19.	Kisan (1931)	15090	12011	16903	23420
20.	Kora	13521	13824	20804	33951
21.	Korwa	13021	21163	18717	21000
22.	Lohara	47368	92609	116828	169089
23.	Mahli	56309	67979	74452	85825
24.	Mal Paharia	40148	45423	48636	79321
25.	Munda	525816	620931	723166	84487
26.	**Oraon**	**647444**	**7350552**	**876218**	**1054066**
27.	Paharia	10134	12268	14651	24012
28.	Santhal	1392744	1541345	1801304	2026910
29.	Sauria Paharia	58654	55606	59047	39269
30.	Savar	1645	1516	3548	3014
31.	Unspecified				
	Total	**3622823**	**4204770**	**4904770**	**5810867**

नव गठित झारखण्ड क्षेत्र स्वशासी परिषद् की कुल जनसंख्या 1991 के अनुसार 21,843,911 है, इसमें से झारखण्ड क्षेत्र के आदिवासियों की कुल जनसंख्या 6,044,010 है जो पूरी आबादी का मात्र 27.67% ही है ।

1941 से लेकर 1981 तक के जनसंख्या में दर्शाया गया आँकड़ा एवं वृद्धि दर को देखते हुए बिहार की जनजातियों की जनसंख्या का अंदाजा लगाया जा सकता है ।

Table — 3B
Percentage Change in the population of Tribals in Bihar
(1941-81)

Overall

SI. No.	S.T.	%Change 1941-61	Annual	%Change 1961-71	Annual	%Change 1971-81	Annual	%Change 1941-81	Annual
1.	Asur	32.61	1.63	20.74	2.97	10.77	1.07	77.37	1.93
2.	Baiga	1661.11	83.05	90.01	9.00	95.51	9.65	475.92	323.79
3.	Banjara	-83.52	-4.17	209.52	20.95	216.15	21.62	61.18	1.53
4.	Bathudi (1931)	-54.30	-2.72*	92.98	9.30	81.25	8.13	59.81	1.99*
5.	Bedia	20.21	1.01	25.57	2.56	25.87	2.58	90.00	2.25
6.	Bhumiji	-6.62	-0.33	23.02	2.30	9.48	0.95	25.75	0.64
7.	Binjhia	26.48	1.32	35.59	3.56	9.75	0.97	88.24	2.21
8.	Birhor	-4.39	-0.21	42.00	4.21	25.20	2.52	70.00	1.75
9.	Birjia	-94.16	-4.71	-9.95	-0.99	11.02	1.18	95.52	2.38
10.	Chero	57.67	2.88	26.18	2.62	34.81	3.48	170.10	4.25
11.	Chik Baraik	3.46	0.17	8.79	0.88	20.47	2.05	35.64	0.89
12.	Gond	22.13	1.12	45.78	4.58	97.61	0.76	251.88	6.30
13.	Gorait	-48.63	-2.43	-32.42	-3.24	60.75	6.07	-44.20	-1.10
14.	Ho	18.50	0.93	11.08	1.08	6.20	0.62	39.82	0.99
15.	Karmali	151.29	21.51	1.51	0.15	43.64	4.36	266.39	6.66

SI. No.	S.T.	%Change 1941-61	Annual	%Change 1961-71	Annual	%Change 1971-81	Annual	%Change 1941-81	Annual
16.	Kharia	24.52	1.23	16.53	1.65	8.48	0.84	57.41	1.43
17.	Kharwar	40.94	2.40	27.30	2.73	60.01	6.00	187.10	4.67
18.	Khond	-	-	-26.78	-2.67	112.08	41.21	55.28	1.38
19.	Kisani (1931)	-20.40	-1.02	10.72	4.07	38.55	3.85	55.20	1.84
20.	Kara	2.24	0.11	50.49	5.05	63.19	6.32	151.09	3.02
21.	Korwa	62.52	3.12	-11.55	-1.55	16.80	1.69	68.04	1.70
22.	Lohra	95.50	4.78	26.15	2.61	44.73	4.47	256.96	6.42
23.	Mahli	24.28	1.11	9.78	0.98	15.27	1.53	52.421	1.31
24.	Mal Pararia	11.61	0.58	7.07	0.71	63.09	6.31	97.57	2.43
25.	Munda	19.61	0.98	14.98	1.50	16.83	1.68	60.68	1.52
26.	**Oraon**	**13.53**	**0.68**	**19.20**	**1.92**	**20.29**	**2.03**	**62.00**	**1.57**
27.	Pahariya	21.06	1.05	16.26	1.62	63.89	6.34	136.94	3.42
28.	Santhal	10.67	0.53	16.86	1.69	12.52	1.25	43.53	1.13
29.	Sauria Paharia	-5.19	-0.26	6.19	0.62	-33.59	-3.35	-33.04	-0.82
30.	Savar Unspecified	-5.38	-0.27	127.29	12.73	-15.05	-1.51	83.22	2.08

* There changes are with reference to year 1931.

ऊपर के चार्ट के अनुसार उराँव की जनसंख्या बिहार में 1991 में लगभग - 16,454,664 होनी चाहिए थी और पूरे भारत में इनकी जनसंख्या लगभग - 55,317758 होनी चाहिए थी। क्योंकि उराँव जनजातियों का भौगोलिक वितरण कई राज्यों जैसे- उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर, पं० बंगाल के पुरूलिया, असम के कछार, कामरूप, दरांग, नोवागाँव, शिवसागर, लखीमपुर तथा अण्डमान निकोबार द्वीप समूह आदि जगहों में हुआ है। मॉरीसस में इनकी संख्या काफी अच्छी बताई जाती है। झारखण्ड क्षेत्र के आदिवासियों की जनसंख्या का विस्तृत अध्ययन करते हुए श्री बी० किस्पोटा के अनुसार ''पिछली शताब्दी में और इस शताब्दी के

शुरुआत में झारखण्ड एक आदिवासी बहुल क्षेत्र था लेकिन जैसे-जैसे दशक गुजरते गए आदिवासियों की आबादी का प्रतिशत घटता गया। बाहरी लोगों के आने से झारखण्ड क्षेत्र में आदिवासियों की प्रतिशतता घटी है। पूर्ण विवरण इस प्रकार है।
बिहार की आदिवासी आबादी वृद्धि दर –

(Tribal Population and Growth rate of Bihar)

वर्ष	जनसंख्या	दशक	दशक वृद्धि प्रतिशत में
1931	31,45,082	1931-41	16.14
1941	36,52,619	1941-51	4.95
1951	38,33,521	1951-61	9.68
1961	42,04,770	1961-71	17.31
1971	49,32,767	1971-81	17.80
1981	58,10,867		

झारखण्ड क्षेत्र की जनसंख्या वृद्धि की दर बिहार की जनसंख्या वृद्धि की दर की तुलना में इस प्रकार है :-

वर्ष	बिहार	झारखण्ड	आदिवासी	उराँव
1901	....	....	....	....
1911	+03.67	+11.19		
1921	+00.66	+00.31		
1931	+11.45	+16.86		
1941	+12.20	+12.13		
1951	+10.27	+09.35		
1961	+19.76	+19.69		
1971	+21.33	+22.58		
1981	+24.06	+24.00		
1991	+23.54	+24.00		

स्रोत - census of India

झारखण्ड क्षेत्र के विभिन्न जिलों की जनसंख्या वृद्धि की दर बिहार की जनसंख्या वृद्धि दर की तुलना में इस प्रकार रहा है ।

	उ० छोटानागपुर			द० छोटानागपुर			संथालपरगना	
वर्ष	बिहार	धनबाद	गिरिडीह	हजारीबाग	पलामू	राँची	सिंहभूम	संथालपरगना
1901	–							
1911	+03.65	+31.99	+09.39	+09.39	+10.09	+16.81	+11.65	+04.04
1921	+00.66	+12.40	+00.91	+00.91	+06.64	+03.79	+15.77	+04.46
1931	+11.45	+15.89	+18.83	+18.83	+11.64	+17.44	+22.19	+14.30
1941	+12.20	+13.33	+15.42	+15.42	+11.48	+06.91	+19.25	+08.99
1951	+10.27	+21.71	+10.61	+10.61	+08.00	+11.09	+08.64	+03.92
1961	+19.76	+27.91	+22.51	+24.68	+20.49	+15.86	+20.54	+15.21
1971	+21.33	+23.97	+24.95	+29.36	+26.66	+22.11	+18.92	+19.13
1981	+24.86	+44.23	+25.98	+35.57	+27.47	+17.57	+17.59	+16.65

स्रोत जनसंख्या 1981

ऊपर दिए गये तालिका से स्पष्ट होता है कि 1951 के बाद उत्तरी छोटानागपुर के जिलों में (धनबाद, गिरिडीह, हजारीबाग तथा पलामू) में आबादी की वृद्धि दक्षिणी छोटानागपुर (राँची और सिंहभूम) तथा संथाल परगना की तुलना में ज्यादा हुई है ।

1901–1961 तक की जनसंख्या वृद्धि का एक और रूप इस प्रकार है :-

पूरा बिहार	70.00%
धनबाद	206.20%
सिंहभूम	125.35%
हजारीबाग (गिरिडीह को मिलाकर)	103.44%
पलामू	91.55%
राँची	81.60%
संथाल परगना	48.25%

(ये आंकड़े विभिन्न जनगणना रिपोर्ट से लिए गए हैं)

ऊपर के तालिका से स्पष्ट है कि झारखण्ड में संथाल परगना को छोड़कर 1901 से 1961 तक आबादी की वृद्धि पूरे बिहार की तुलना में कहीं अधिक हुई है।

अब हम 1931-1991 की अवधि में बिहार और झारखण्ड की सम्पूर्ण आबादी गैर आदिवासी एवं आदिवासी आबादी की वृद्धि दर पर गौर करेंगे।

वर्ष	आदिवासी जनसंख्या	बिहार वृद्धि दर	झारखण्ड वृद्धि दर	आदिवासी वृद्धि दर	झा०गैर आदिवासी वृद्धि दर
1931	3010692				
1941	3424926	12.20%	12.13	13.76%	11.13
1951	3493857	10.27%	09.35	02.01%	13.97
1961	3938065	19.76%	19.69	12.71%	23.62
1971	4563895	21.33%	22.58	15.89%	26.91
1981	5329289	24.06%	24.00	16.77%	27.11
1991	6044010	23.54%	24.00	13.41%	28.63

स्रोत भारत की जनगणना से।

ऊपर दिए गए तालिका से यह स्पष्ट है कि आदिवासी आबादी की वृद्धि हो रही है। लेकिन वृद्धि का ये दर गैर आदिवासी की वृद्धि की दर से बहुत कम है। 1941-1951 के बीच आदिवासी आबादी 02.01% से बढ़ी वहीं गैर आदिवासी आबादी 13.97% से बढ़ी। वही और 1961 में फिर गैर आदिवासी आबादी 23.62% से बढ़ी। 1961-1971 के बीच आदिवासी आबादी 15.89% से बढ़ी है। उसकी तुलना में गैर आदिवासी आबादी 26.91% से बढ़ी है। 1971-1981 के बीच आदिवासी आबादी 16.77% बढ़ी है तो गैर आदिवासी आबादी 27.11% से बढ़ी है। 1981-1991 के बीच आदिवासी आबादी 13.41% से बढ़ी है तो गैर आदिवासी आबादी 28.63% से बढ़ी है। हम ये भी गौर करेंगे कि गैर आदिवासी आबादी का वृद्धि दर दशक में बढ़ता जा रहा है। इसकी तुलना में आदिवासी आबादी की वृद्धि दर 1941-1951 तथा 1981-1991 के बीच घटा है।

इसी तरह **census of india, 1961, vol iv. Bihar, part v-A, special tables for scheduled caste and scheduled tribes, page no xii esa population of S.T, 1931-1961 with variation** दिखाया गया है जो इस प्रकार है :-

Districts	1931	1941	1951	1961	S.T.	Percentage variation 1951-1961
Ranchi	974,893	1,158,575	1,116,075	1,317,513	+10.01	15.06
Hazaribagh	167,686	219,349	267,552	270,693	+1.21	+23.70
Dhanbad	107,309	107,140	139,739	128,385	-6.11	+27.91
Singhbhum	709,892	829,403	764,297	696,807	+26.91	+20.54
Palamu	171,436	183,167	172,027	228,589	+32.91	+20.49
Santhal Paragna	87,950	927,262	10,37,167	10,23,9701	-1.41	+15.21
Total Bihar	3145,602	3652,619	3033521	4204770	+9.71	+19.77

तालिका - 3

क्रम	अनुसूचित जनजातियों का नाम	जनसंख्या	प्रतिशत	जनसंख्या	प्रतिशत	जनसंख्या	प्रतिशत	1961-1971 में जनसंख्या वृद्धि प्रतिशत में	जनसंख्या	प्रतिशत
		1941		1961		1971			1981	
1.	असुर	4,388	0.18	5,819	0.14	7,026	0.14	20.74	7,783	
2.	भूमिज	1,08,230	446	1,01,057	2.40	1,24,918	0.53	26.61	1,36,109	
3.	बिरहोर	2,550	0.18	2,438	0.06	3,464	0.07	42.08	4,377	
4.	गोंड़	27,445	1.13	33,521	0.80	48,869	0.99	45.79	96,574	
5.	संताल	1,92,744	7.95	15,41,345	36.66	18,01,304	36.57	16.84	20,60,730	
6.	**उराँव**	**6,47,444**	**26.72**	**7,35,025**	**17.48**	**8,76,218**	**17.76**	**19.22**	**10,54,066**	
7.	मुण्डा	5,25,816	21.70	6,28,931	14.96	7,23,166	14.66	14.98	8,55,887	
8.	सौरिया पहाड़िया	58,654	2.42	55,606	1.32	59,047	1.20	6.19	39,269	
9.	हो	3,83,737	15.84	4,54,746	10.82	5,05,179	10.24	11.09	5,36,523	
10.	किसान	15,090	0.62	12,011	0.29	16,983	0.34	40.73	23,420	
11.	कोरा	13,321	0.56	13,824	0.33	20,804	0.42	50.49	33,952	
12.	खड़िया	87,522	3.61	1,08,983	2.59	1,27,002	2.57	16.53	1,41,771	
13.	बैगा	54	नगण्य	951	0.02	1,807	0.04	90.01	3,551	

उराँव जनजाति का सामान्य परिचय

क्रम	अनुसूचित जनजातियों का नाम	जनसंख्या 1941	प्रतिशत	जनसंख्या 1961	प्रतिशत	जनसंख्या 1971	प्रतिशत	1961-1971 में जनसंख्या वृद्धि प्रतिशत में	जनसंख्या 1981	प्रतिशत
14.	बनजारा	255	0.01	42	नगण्य	130	नगण्य	209.52	411	
15.	बथुडी	998 (1931)	0.04	456	0.01	880	0.02	92.98	1,195	
16.	बेदिया	31,813	1.31	38,241	0.91	84,021	0.97	25.57	60,446	
17.	बिझिंया	5,317	0.22	6,725	0.16	9,119	0.18	2560	10,069	
18.	बिरजिया	3,075	0.08	4,029	0.10	3,628	0.07	-9.95	4,057	
19.	चेरो	19,337	0.80	38,845	0.73	38,741	0.79	25.60	52,216	
20.	चिक बड़ाइक	(1931) 29739	1.23	38,670	0.73	33,476	0.68	0.79	40,339	
21.	गोड़ाइत	9,331	0.38	4,793	0.11	3,239	0.07	-32.42	5,206	
22.	करमाली	10,549	0.43	26,509	0.63	26,908	0.55	1.50	38,651	
23.	खरवार	77,589	3.20	1,09,357	2.60	1,39,212	2.82	27.30	2,2,758	
24.	खोंद	-	-	814	0.02	596	0.01	-26.70	1,264	
25.	कोरवा	(1931) 13,621	0.54	21,162	0.50	18,717	0.38	-11.65	21,940	
26.	लोहरा	47,638	1.95	92,609	2.20	1,16,828	2.37	26.15	1,69,089	
27.	महली	56,309	2.32	67,979	1.62	74,452	1.51	9.52	91,868	
28.	मलपहाड़िया	48,148	1.66	45,423	1.08	48,636	0.99	7.07	79,322	
29.	परहिया	19,134	0.42	12,268	0.29	14,651	0.30	19.22	24,012	
30.	संवर	1,645	0.6	1,561	0.04	3.548	0.07	127.29	3,014	
31.	अवर्गीकृत	-	-	16,930	0.40	36,285	0.69	117.87	-	
	योग	24,22,823	100.00	42,04,770	100.00	49,32,767	100.00	17.31		

छोटानागपुर सर्वे - II. 1990, ख्रिस्तोफर लकड़ा द्वारा सम्पादित पुस्तक पृष्ठ सं० 4-5 में सन् 1981 की जनगणना के अनुसार "जिले में जनजातियों की संख्या सिर्फ 56.61% आंकी गयी है। इसमें बिहार की जनजाति जनसंख्या का 17.5% भाग उराँव जाति है तथा छोटानागपुर की कुल जनसंख्या का 14.5%। उराँव लोगों का 76.5% राँची जिले में ही केंद्रित है। छोटानागपुर की कुल जनजाति का 74.0% मुण्डा है और राँची जिले की कुल जनसंख्या का 15.67% मुण्डा जाति

का सबसे अधिक केन्द्रीकरण मुरहू अंचल में है, यानी 86.30% उराँव जाति का सबसे अधिक केन्द्रीकरण घाघरा अंचल में 65.38% है । खड़िया जाति का सबसे अधिक केन्द्रीकरण बोलबा अंचल में है – 43.75% । सन् 1961 की जनगणना में छोटानागपुर की पूरी जनजाति जनसंख्या 33.9% थी जो 1971 की जनगणना में घटकर 32.2% हो गयी जनजातियों की प्रतिशत में लगातार कमी होती जा रही है सन 1981 की जनगणना में जनसंख्या पहले के दो जनगणना अभिलेखों से होकर करीब 29% हो गई है ।"[53]

सिर्फ राँची जिले की तीन बड़ी जनजातियों की संख्या का मोटा अनुमान इस प्रकार है ।

सन 1971 और 1981 की जनगणना के अनुसार –

	1971		1981	
जनजाति	कुल संख्या	प्रतिशत	कुल संख्या	प्रतिशत
उराँव	**6,45,598**	**50.37**	**7,49,073**	**51.19**
मुण्डा	5,21,095	40.65	5,89,599	40.29
खड़िया	1,15,115	8.98	1,24,568	0.52
कुल	**12,81,809**	**100**	**4,63,240**	**100.00**

भारत की जनगणना एवं सर्वेक्षण रिपोर्ट में उराँव जनजातियों का सही आँकड़ा प्रस्तुत नहीं किया गया है । क्योंकि बिहार में इनकी आबादी संतालों की आबादी का आधा दिखाया गया है और इस समय उपलब्ध संतालों की जनसंख्या 80 लाख दिखाया गया है । इस रिपोर्ट के अनुसार उराँव की जनसंख्या लगभग 40 लाख से ऊपर होनी चाहिए।

किसी भी जाति के लिए जनसंख्या का विस्तृत एवं पूर्ण विवरण का होना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । वर्तमान लोकतंत्र युग में सरकार की कार्य योजनाएँ जनसंख्या पर ही निर्भर करता है । उराँव जाति को भारतीय संविधान के अनुसूचित जनजाति में शामिल किया गया है तथा इन्हें कई सुविधाएँ प्रदान की गयी हैं । उराँव जनजाति के क्षेत्र विस्तार को देखते हुए अगर इनकी जनसंख्या का सही आँकड़ा नहीं दर्शाया जाता है तो इनके बीच लोकतंत्र का हनन होगा । क्योंकि वे अपने क्षेत्र

में बहुमत रखते हुए भी सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते । इसलिए समस्याओं के निदान हेतु नियोजनकर्ता जनसंख्यात्मक विशेषताओं का अध्ययन करके शिक्षा, व्यवसाय, सामाजिक संरक्षण, कृषि, औद्योगिक उत्पादन, यातायात, संचार सेवा, आवास एवं मनोरंजन जैसे क्षेत्रों में संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं । लेकिन सरकार झारखण्ड क्षेत्र के किसी भी जनजातियों का सही आँकड़ा नहीं दे पा रहा है । उराँव जनजाति के साथ भी यही स्थिति है । इस स्थिति में हम इनके विकास की कल्पना कैसे कर सकते हैं ? झारखण्ड क्षेत्र आदिवासियों का सांस्कृतिक क्षेत्र है । एक लम्बे अरसे से अपने अस्तित्त्व और पहचान को कायम रखने के लिए यहाँ के आदिवासी आन्दोलन करते रहे हैं, लेकिन सरकारी नीयत इनके लिए सही न होने के कारण ही आज झारखण्ड राज्य मिलने के पश्चात भी वे संतुष्ट नहीं हैं । जिस तरह उराँव की जनसंख्या का सही रिपोर्ट नहीं मिलता, सभी आदिवासियों की जनसंख्या के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डोनाल्ड बेग ने कहा है – "जनांकिकी मानव जनसंख्या के आकार, गठन एवं स्थानीय वितरण तथा उसमें प्रजनन, मृत्यु, विवाह, प्रवास तथा सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया द्वारा समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों का सांख्यिकीय एवं गणितीय अध्ययन है ।"

जनसंख्या के आधार पर ही उनकी एकता, अखंडता एवं मजबूती का दावा किया जा सकता है । उराँव समाज की संरचना को भलीभांति जानने के लिए उनकी संख्यात्मक विशेषताओं का अध्ययन करना आवश्यक है । साथ ही अन्य समाज के साथ तुलनात्मक एवं वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए भी इनकी सही जनसंख्या को जानना अतिआवश्यक है ।

भारत सरकार के जनगणना विभाग ने आदिवासियों की गणना में पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाया है । विशेष कर झारखण्डी आदिवासियों के साथ । क्योंकि भारत सरकार यह नहीं मानती कि भारत में कोई आदिवासी है । कई षडयंत्र के तहत इन्हें (आदिवासियों को) जंगली, असुर, अनार्य, राक्षस, वानर, दस्यु, वनवासी, कोल, जैसे अपमानित नामों से सम्बोधित किया जाता है । षडयंत्र के कारण ही यू० एन० ओ० जैसे विश्व मंच पर भारत सरकार के प्रतिनिधि भारत में एक भी आदिवासी न होने की बात स्वीकारते हैं । सन् 2001 की जनगणना के अनुसार पूरे भारत में 8 करोड़ सिर्फ आदिवासियों की जनसंख्या है । इतनी बड़ी जनसंख्या को भारत सरकार द्वारा झुठलाया जाना लोकतंत्र का हनन करना है । सन् 1981 से 1991 तक भारत में अनुसूचित जनजातियों की कुल आबादी लगभग 8935226 थी । बहरहाल देश में कई घोटाले हुए, जैसे- चारा घोटाला, स्टाम्प घोटाला, वर्दी घोटाला, अलकतरा

घोटाला, ताबुत घोटाला इत्यादि । ठीक इसी तरह झारखण्ड के आदिवासियों के साथ जनगणना घोटाला हुआ है । जिसका खामियाजा आदिवासी समुदाय को भुगतना पड़ रहा है ।

झारखण्ड भारत का 28वाँ राज्य है, जहाँ आदिवासियों की बहुलता है । लेकिन भारत सरकार के जनगणना विभाग ने घोटाले में प्रवीणता दिखाते हुए झारखण्डी आदिवासियों को 75% से सीधा 27% में दिखा दिया है । 1991 की जनगणना के अनुसार झारखण्ड क्षेत्र की कुल जनसंख्या 26,945,829 है जिसमें आदिवासियों की कुल संख्या 7,087,068 है, अर्थात पूरी आबादी का 26.63% है । इसमें सिर्फ उराँव की संख्या 11,37,656 है ।

सन 1981 में उराँव की कुल जनसंख्या लगभग 7,49,073 थी । इस आँकड़े के अनुसार (1981-91) 10 वर्षों के अन्तराल में उराँव की जनसंख्या वृद्धि दर बहुत धीमी रही है । इसी तरह अन्य आदिवासियों की वृद्धि दर को भी दर्शाया गया है । 1981 और 1991 की जनगणना के आधार पर इनकी वृद्धि दर में शिथिलता आयी है । वर्तमान बिहार के कई जिलों में भी उराँवों की संख्या अत्यधिक है । (1981) में बिहार और झारखण्ड एक ही राज्य थे । अतः संगठित रूप से उराँव की जनसंख्या और अधिक होनी चाहिए । 10 साल के अन्तराल में गैर आदिवासी आबादी जिस अनुपात में बढ़ा है आदिवासी आबादी उसी अनुपात में घटा है ।

झारखण्ड आन्दोलन का लम्बा इतिहास रहा है । लेकिन नियमतः पृथक झारखण्ड के गठन के लिए राज्य पुनर्गठन आयोग के समक्ष 1955 ई० में लाया गया, जिसके नेतृत्व कर्त्ता स्व० जयपाल सिंह मुण्डा थे । लम्बे संघर्ष के बाद 15 नवम्बर 2000 को झारखण्ड भारत का 28वाँ राज्य बना । झारखण्ड का सामान्य अर्थ है, झाड़ों का प्रदेश । बुकानन् के अनुसार काशी से लेकर वीरभुम तक समस्त पठारी क्षेत्र झारखण्ड कहलाता था । एत्रेय ब्रह्मण में यह पुण्ड नाम से वर्णित है । आदिवासी क्षेत्रों के लिए झारखण्ड शब्द का प्रयोग पहली बार 13वीं शताब्दी के एक ताम्र पत्र में हुआ है ।

झारखण्ड राज्य का कुल क्षेत्रफल 79714 वर्ग कि० मी० है । इसकी भौगोलिक स्थिति 21.58'/0" उत्तरी अक्षांश से 22.19'15" उत्तरी अक्षांश तथा 83.20'50" पूर्वी देशान्तर से 88.4'40" के मध्य तक इसकी भौगोलिक सीमाएँ – उत्तर में बिहार, दक्षिण में उड़ीसा, पूर्व में पश्चिम बंगाल एवं पश्चिम में उत्तर प्रदेश और छत्तीसगढ़ है । सन 2001 की जनगणना के अनुसार पूरे भारत की जनसंख्या लगभग 1,028,015,247 है । जिसमें आदिवासियों की जनसंख्या लगभग 84326240 अर्थात् 8.2% हैं नए राज्य झारखण्ड की कुल आबादी जनगणना 2001 के

अनुसार लगभग 26,945,829 है जिसमें आदिवासियों की कुल जनसंख्या 7,087,068 है अर्थात 26.3% है ।

सन 1991 ई० की जनगणना के अनुसार आदिवासियों की आबादी का प्रतिशत 27.67% था । आँकड़े के अनुसार 10 वर्षों के अन्तराल में आदिवासियों की आबादी का प्रतिशत घटा है । पिछली शताब्दी में झारखण्ड एक आदिवासी बाहुल्य क्षेत्र था लेकिन औद्योगीकरण और शहरीकरण के कारण बाहरी लोग अन्धाधुन्ध झारखण्ड में आये ।

छोटानागपुर में 1881-1951 की आबादी का प्रवाह इस प्रकार है ।

वर्ष	कुल आप्रवासी	कुल जन० का अंश	उत्तर बिहार	निकट प्रांत	अन्य प्रांत	भारत के बाहर और यूरोप से
1881	143759	4.56	65.02	28.70	6.15	0.10
1891	132358	3.33	60.00	32.10	7.60	0.26
1901	133441	2.72	53.20	42.90	3.60	0.36
1911	191279	3.41	46.60	51.40	2.60	0.41
1921	235286	4.16	44.40	48.40	7.07	0.97
1931	254435	4.96	35.60	54.90	7.90	1.50
1951	506757	5.93	37.70	39.05	10.50	12.70

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि बाहरी लोगों का आगमन झारखण्ड क्षेत्र में कितनी तीव्र गति से हुआ है । झारखण्ड राज्य बनने के पश्चात् राजधानी राँची और आस-पास के क्षेत्रों में लोगों का आना बाढ़ की तरह हुआ । लेखक शशिभूषण महतो एवं अलेक्स एक्का ने अपनी पुस्तक 'भारतीय जनगणना और झारखण्डी आदिवासी' में लिखा है देश की आजादी के बाद झारखण्ड में गैर आदिवासियों की संख्या बाढ़ की तरह और आज बढ़कर करीब 72.33% हो गयी है । इनके आने से यहाँ के स्थानीय लोगों एवं आदिवासियों को कई तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ा । कुछ आदिवासी परिवार इन समस्याओं को मृग-मरीचिका की तरह झेल रहे हैं । कुछ आदिवासी परिवार दूसरे शहरों एवं राज्यों में पलायन कर रहे हैं ।

विस्थापन का दर्द आदिवासियों के लिए पुराना हो चुका है ।"[54] कई प्रोजेक्टों में लाखों आदिवासी विस्थापित हुए। इसकी संक्षिप्त जानकारी अमर कुमार सिंह ने अपनी लेख JHARKHANDER KATHA: SWADESHI COLONIALISATION 'The Jharkhand movement (Indigenous peoples' struggle for Autonomy in India) में किया है।

Magnitude of Displacement by Developmental Projects

Sl.no	Name of Project	Magnitude of Displacement
1.	TISCO (1907)	3,564 acres of tribal land
2.	Rourkela Steel Plant (1956)	32 villages and 2,465 families
3.	Heavy Engineering Corporation, Ranchi (1958)	9200 acres, 25 villages and 12,990 tribal
4.	Bokaro Steel Plant	46 villages and 12,487 tribals
5.	Coal Mining (1981-85)	32,709 tribal families
6.	CCL-ICL (1981-85)	1,50,300 acres
7.	Icha Dam	21,000 acres in Bihar 10,500 acres in Orissa 5,600 families
8.	Chandil Dam	43,495 acres6,773 families
9.	Koel Karo	16,350 families (70% of tribals)
10.	Jambir/Baura dams and expansion of Haldia	5,980 acres submerged,50 villages, 3,450 families
11.	Netarhat Firing Range	2,24,900 (78% tribals)
	Recent Projects 1990s	

Source :Adivasi Yuva Sangh (1994). Update from Delhi: Issue No. 74, (April 1994), New Delhi, Update Collevtive.[55]

उराँव जनजाति का सामान्य परिचय

स्वतंत्र भारत में पहली पंचवर्षीय योजना 1951 से 56 लागू की गयी थी। तब से प्रत्येक पंचवर्षीय योजनाओं में औद्योगिक नीतियाँ बनाई गई एवं इसमें करोड़ों रुपये खर्च किये जाते रहे हैं। आजादी के पहले भी औद्योगिक क्षेत्र के विकास के लिए कार्य होते रहे लेकिन तब अति नहीं था। अंग्रेजों ने हम सभी भारतवासियों के साथ अन्याय किया था सिर्फ आदिवासियों से नहीं। लेकिन स्वतंत्र भारत में एवं राज्य सरकार ने आदिवासियों के प्रति अपना रवैया पक्षपातपूर्ण रखा। आज उद्योग का विकास, राज्य का विकास, देश का विकास सिर्फ आदिवासी इलाक़ों को एवं आदिवासियों को उजाड़ कर ही किया जा रहा है। सरकार को पशु–पक्षियों की सुरक्षा का ख्याल है लेकिन आदिवासियों के उजड़ जाने, समाप्त होने की चिन्ता नहीं है। मेनका गाँधी सरीखे लोगों की नजर में आदिवासी पशु–पक्षी से भी निम्न हैं, तभी तो पशुओं की संख्या घटने पर चिन्ता व्यक्त की जाती है एवं उनके बचाव में करोड़ों रुपये खर्च किये जाते हैं। आदिवासियों की स्थिति इससे भी बदत्तर है। वे विस्थापन एवं पलायन के द्वारा कहाँ जा रहे हैं, कैसे अपनी जीविका चला रहे हैं या भूखों मर रहे हैं इसकी सुध लेने वाला कोई भी नहीं है। 19वीं सदी के अन्तिम दशक में वे चाय बगानों में मजदूर के रूप में गये। 1890-1920 में 50% से भी अधिक चाय बगान के मजदूर छोटानागपुर के आदिवासी थे। ये मूलतः राँची जिला के निवासी थे। 1921 की जनगणना के अनुसार लगभग 1,43,000 आदिवासी (उराँव, मुण्डा) मजदूर छोटानागपुर से गये थे। असम सरकार आज तक उन आदिवासियों (उराँव, मुण्डा) को आदिवासी नहीं मान रही है और इसके कारण उन्हें उनके संवैधनिक अधिकार से भी वंचित रखा जा रहा है। यह भारत सरकार का पक्षपातपूर्ण रवैया है। 24 नवम्बर 2007 को बेलटोला असम में हुई घटना बहुत ही शर्मनाक है। जिस देश में नारी की पूजा होती हो उस देश में लक्ष्मी उराँव को नंगा किया जाना और कई महिलाओं के साथ बलात्कार करना मानवता की सभी सीमाओं को तोड़ चुका है। इनका अपराध सिर्फ यह था कि इसने अपना अधिकार माँगा था। भारत जैसे लोकतांत्रिक देश के लिए यह एक कलंक है।

सरकार आदिवासियों के विकास के लिए कागजों में नीति–नियम बनाकर अपने कर्त्तव्यों का इतिश्री कर लेती है। देश भर के आदिवासियों के लिए यही स्थिति है। लेकिन झारखण्ड की स्थिति सबसे बुरी है। सन् 1991 के जनगणना के अनुसार झारखण्ड क्षेत्र में जिलेवार आदिवासियों की जनसंख्या इस प्रकार है :–

जिला	कुल आबादी	आदिवासी आबादी	आदिवासी आबादी का प्रतिशत
राँची	22,14,048	9,64,422	43.56
गुमला	11,53,976	8,16,988	70.80
लोहरदगा	28,88,886	1,62,964	56.41
पूर्वी सिंहभूम	16,13,088	9,78,069	28.92
पश्चिमी सिंहभूम	17,87,955	9,78,069	54.70
गढ़वा	8,01,350	1,25,432	15.65
पलामू	16,49,841	3,17,834	19.26
बोकारो	14,54,416	1,77,123	12.18
कोडरमा	22,30,831	2,27,099	10.18
हजारीबाग	28,43,544	2,50,586	08.81
गिरिडीह	14,96,189	1,48,342	09.91
चतरा	6,12,713	23,487	03.83
धनबाद	19,49,526	1,71,741	08.21
दुमका	14,95,709	6,21,484	41.55
देवघर	9,33,113	1,19,085	12.76
साहेबगंज	13,01,088	5,07,321	38.99
पाकुड़	4,14,320	2,78,331	67.18
गोड्डा	8,61,182	2,16,047	25.09

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1991 की जनगणना के अनुसार सिर्फ चार जिले गुमला, लोहरदगा, पश्चिमी सिंहभूम और पाकुड़ ही आदिवासी बहुल है। हजारीबाग, गिरिडीह, चतरा एवं धनबाद जिलों में आदिवासी आबादी 10 प्रतिशत

से भी कम है । राँची पहले आदिवासी बहुल जिला था । लोहरदगा एवं गुमला को अलग जिले का दर्जा मिलने के पश्चात राँची आदिवासी बहुल था। लेकिन लगातार बाहरी लोगों का आकर बसते जाना एवं आदिवासियों के विस्थापन तथा पलायनता के कारण अब राँची में गैर आदिवासी (दिकू) जनसंख्या अधिक को गई एवं आदिवासी यहाँ सिर्फ 27 प्रतिशत में सिमट कर रह गये ।

1991 की जनगणना के अनुसार झारखण्ड की 78.75 प्रतिशत आदिवासी आबादी गाँवों में रहती हैं । सिर्फ 21.25 प्रतिशत आदिवासी ही शहरों में निवास करती है । 1991 की जनगणना के अनुसार झारखण्ड राज्य की साक्षरता दर भी मात्र 41.40 प्रतिशत है

संयुक्त बिहार की आदिवासी आबादी (1991)

क्र० सं०	अनुसूचित जनजाति	पुरुष	महिला	योग
1.	असुर	4870	4753	9,623
2.	बैगा	1768	2162	3930
3.	बंजारा	510	351	861
4.	बथुड़ी	1,427	1,279	2,706
5.	बेदिया	37,330	34,889	72,219
6.	भूमिज	78,311	77,650	1,55,961
7.	बिंझिया	6,887	6,203	13,090
8.	बिरहोर	4,091	3,992	8,083
9.	बिरजिया	3,218	2,973	6,191
10.	चेरो	35,086	32,361	67,447
11.	चिक बड़ाईक	23,580	22,988	46,568
12.	गोंड़	54,155	50,247	1,04,402
13.	गोड़ैत	3,270	2,656	5,926

क्र० सं०	अनुसूचित जनजाति	पुरुष	महिला	योग
14.	हो	3,17,291	3,14,250	6,31,541
15.	करमाली	24,293	23,192	47,485
16.	खड़िया	75,399	76,235	1,51,634
17.	खरवार	1,24,679	1,17,879	2,42,558
18.	खोंड	2,966	2,553	5,519
19.	किसान	15,983	13,783	30,766
20.	कोटा	20,370	19,533	39,903
21.	कोरवा	13,074	11,797	24,871
22.	लोहरा	92,531	88,275	1,80,806
23.	महली	55,044	52,601	1,07,645
24.	माल पहाड़िया	45,501	41,289	86,790
25.	मुंडा	4,61,703	4,58,445	9,20,148
26.	**उराँव**	**6,18,600**	**5,96,108**	**12,14,708**
27.	परहैया	15,407	15,014	30,421
28.	संथाल	11,91,921	11,57,571	23,49,492
29.	सौरिया पहाड़िया	25,097	23,664	48,761
30.	सावर	2,107	2,157	4,264
31.	अवर्गीकृत	1,094	1,501	2,595
योग		**33,57,563**	**32,59,351**	**66,16,914**

स्त्रोत : भारत की जनगणना, 1991

झारखण्ड राज्य में 2007 की आदिवासी जनसंख्या एवं प्रतिशत

क्र० सं०	अनुसूचित जनजाति के नाम	जनसंख्या	जनजातियों के बीच इनका प्रतिशत
1.	असुर	10,347	0.14
2.	बैगा	2,508	0.03
3.	बंजारा	374	0.005
4.	बथुड़ी	1,114	0.01
5.	बेदिया	83,771	1.18
6.	बिंझिया	12,428	0.17
7.	बिरहोर	7,514	
8.	बिरजिया	5,365	
9.	चिक बड़ाईक	44,427	0.63
10.	चेरो	75,540	1.06
11.	गोंड़	52,614	0.74
12.	गोड़ाइत	3,957	0.05
13.	हो	74,4850	10.51
14.	करमाली	56,865	0.08
15.	खड़िया	1,64,022	2.31
16.	खरवार	1,92,024	2.71
17.	खोंड	196	0.002
18.	किसान	31,568	0.44
19.	कोटा	23,192	0.33

क्र० सं०	अनुसूचित जनजाति के नाम	जनसंख्या	जनजातियों के बीच इनका प्रतिशत
20.	कोरवा	27,177	0.88
21.	लोहरा	1,85,004	2.61
22.	महली	1,21,174	1.71
23.	माल पहाड़िया	1,15,093	1.61
24.	मुंडा	10,49,767	14.81
25.	**उराँव**	**13,90,459**	**19.62**
26.	परहैया	20,786	0.29
27.	संथाल	24,10,509	34.01
28.	सौरिया पहाड़िया	31,050	0.44
29.	सावर	6004	0.08
30.	भूमिज	1,91,329	2.56
31.	कोल	...	...
32.	कंवर	...	...
33.	अन्य	36,040	0.51
Genitic Tribes etc.			
	कुल	**70,87,068**	**100%**

उराँव शिक्षा - 5,94,350 - 25.41%

1991 से 2001 के बीच आदिवासी जनसंख्या की बढ़ोत्तरी बहुत धीमी गति से हुई है जबकि अन्य जातियों की जनसंख्या बाढ़ की तरह झारखण्ड में भर गई।

जिलावार झारखण्ड की आदिवासी जनसंख्या

क्र० सं०	जिलावार	झारखण्ड की आदिवासी जनसंख्या
1.	गढ़वा	1,58,959
2.	पलामू	3,92,325
3.	चतरा	30,384
4.	हजारीबाग	2,68,333
5.	कोडरमा	4,067
6.	गिरिडीह	1,84,469
7.	देवघर	1,42,717
8.	गोड्डा	2,47,538
9.	साहिबगंज	2,70,423
10.	पाकुड़	3,12,838
11.	दुमका	7,01,903
12.	धनबाद	2,02,729
13.	बोकारो	2,18,600
14.	राँची	11,64,624
15.	लोहरदगा	2,03,053
16.	गुमला	9,20,597
17.	प० सिंहभूम	11,11,322
18.	पू० सिंहभूम	5,52,187
	कुल	**7,08,7068**

झारखण्ड के जिन जगहों पर खनिज पदार्थों की बहुलता है वहाँ औद्योगीकरण और शहरीकरण तेजी से बढ़ा है । इसके कारण बाहरी अन्य जाति के लोगों का आगमन अधिक हुआ । परिणाम स्वरूप आदिवासियों को विस्थापित किया गया जिससे इनकी संख्या अपने ही क्षेत्र में कम हो गई इस सम्बन्ध में श्री बी० डी० शर्मा ने 'आदिवासी क्षेत्र किस ओर ?' नामक पुस्तक में लिखा है कि लगभग 15 प्रतिशत आदिवासी विस्थापित होकर कंगाली के कगार पर हैं। वित्तीय निवेश बढ़ने के साथ आदिवासी इलाकों में जनजातियाँ अल्पसंख्यक हो गयी । इस तरह उनके राजनैतिक एवं संवैधानिक बचाव का आधार ही टूटता जा रहा है ।[56]

झारखण्ड क्षेत्र में आदिवासियों की आबादी घटने के कारण हैं -

(1) औद्योगीकरण
(2) शहरीकरण
(3) बाहरी लोगों का अत्यधिक आगमन
(4) आदिवासियों का विस्थापन
(5) पलायन
(6) जनगणना के समय भारी हेर-फेर करना
   (क) नौकरी धन्धे पर जो बाहर है उनकी गिनती न करना ।
   (ख) जाति एवं गोत्र को न लिखना ।
   (ग) धर्म का कॉलम न होना, जिसके कारण 'हिन्दू' या 'अन्य' में इनकी गिनती करना ।
   (घ) आदिवासियों को कई नामों से पुकारना/जानना ।

झारखण्ड आदिवासियों को नए राज्य के रूप में मिला । नये झारखण्ड राज्य के रूप में हमें सिर्फ 18 जिला ही दिया दिया, जबकि हमारी माँग 24 जिलों की थी। जो 6 जिलों को छोड़ा गया इनमें आदिवासी आबादी अत्यधिक थी । अतः आदिवासी अहित को ध्यान में रखते हुए एक कूटनीति चाल के तहत इन आदिवासी बहुल क्षेत्रों को झारखण्ड राज्य से अलग कर हम आदिवासियों को बिखेर दिया गया। किसी भी राज्य के चार मुख्य अंग होते हैं - (1) क्षेत्र (2) आबादी (3) सर्वभौम तथा (4) सरकार ।

इस नए राज्य झारखण्ड की कुल आबादी 2001 के अनुसार 26,9,45,829 है । एवं इसमें आदिवासियों की जनसंख्या 7,087,068 अर्थात 26.3 प्रतिशत मात्र है । यदि इस जनगणना को सही माना जाये तो गैर आदिवासियों की आबादी 74 प्रतिशत है । जनगणना के इसी संख्या को आधार मानते हुए राज्य एवं केन्द्र सरकार

द्वारा विकास की नीतियाँ तय की जाएगी एवं उसी के अनुसार राशियों का आवंटन किया जायेगा। जनसंख्या की इस हेरा-फेरी में आदिवासियों को सबसे अधिक नुकसान उठाना पड़ेगा। जिस तरह उराँव को देश भर में कई गलत नामों से पुकारा जाता है एवं उसे विद्वानों द्वारा जाति का दर्जा दिया जाता है, उसी तरह प्राचीन नाम आदिवासी को बदलकर वनवासी करने की चाल वर्षों से चल रही है। इनकी भाषाओं को अबतक राज्य सरकार मान्यता नहीं दे रही है, न ही इसे 8वीं अनुसूची में शामिल कर रही है। जबकि केन्द्र सरकार द्वारा भाषा विकास के लिए पूरी सहायता राशि दी जाती है। झारखण्ड क्षेत्र के आदिवासी अपनी इस राशि के उपभोग से वंचित हैं। जमीन सम्बन्धी कानूनों में कई अड़चनें हैं जो आदिवासियों के हित में नहीं है। इसे सरल बनाने की जरूरत है। इन सभी कार्यों के लिए आबादी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। भारत धर्म निरपेक्ष देश है फिर भी हिन्दू अपनी जनसंख्या घटने पर क्यों चिन्तित हैं ? हिन्दूओं की जनसंख्या घटने से देश को क्या नुकसान है ? देश की बड़ी राजनैतिक पार्टियाँ क्यों हिन्दू, मुसलिम, सिख, ईसाई, जैसे धार्मिक मुद्दों को उठाती है ?

नए झारखण्ड राज्य में सरकारी नौकरियों में आरक्षण की प्रतिशतता किस आधार पर तय होंगी ? झारखण्ड के आदिवासियों का पलायन देश के सभी राज्यों में हुआ है लेकिन दूसरे राज्यों में उन्हें आरक्षण का लाभ नहीं मिलता (बंगाल, उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और त्रिपुरा को छोड़कर)।

ऐसी स्थिति में झारखण्ड में बढ़े बाहरी लोगों की आबादी के आधार पर आरक्षण नीति तय करना न्याय संगत नहीं है। इसी तरह जनसंख्या के आधार पर ही सांसद एवं विधायकों के लिए सीटों का भी आरक्षण होता है। नये झारखण्ड राज्य में 14 लोक-सभा सीट एवं 82 विधान-सभा सीट हैं। लोक सभा के 14 सीटों में से 5 सीट आदिवासियों के लिए आरक्षित है एवं विधान सभा के कुल सीटों में से 28 सीटें आदिवासियों के लिए आरक्षित है। किसी भी राज्य के लिए जनसंख्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है। झारखण्ड राज्य की वर्त्तमान स्थिति एवं आदिवासी आबादी को सही नहीं कहा जा सकता। सन् 2001 की जनगणना में भारी अनियमितता बरती गई है। आदिवासियों की माँग (धर्म का कॉलम) पूरी नहीं होने के कारण आदिवासी बहुल क्षेत्रों में जनगणना का बहिष्कार किया गया है। इसके बावजूद जनगणना रिपोर्ट में गलत जनसंख्या दिखाकर खानापूर्ति की गयी है। पुनः लेखक वृन्द शशिभूषण महतो एवं अलेक्स एक्का लिखते हैं – "जहाँ तक आदिवासी जनसंख्या का सवाल है, जनगणना के मुताबिक घटती चली आई है।

इनके प्रवास, कम जन्म दर, उच्च मृत्यु दर तथा झारखण्ड में औद्योगीकरण आदि से अवश्य ही उनकी संख्या में असर पड़ा है। पर इतना होते हुए भी जिस तरीके से आदिवासी जनसंख्या का आकलन हुआ है, वह संदिग्ध है। खासकर आदिवासी समुदायों को सूचीबद्ध करने में भारी आनियमितता अपनाई गयी है, जिसके कारण उनकी संख्या को बहुत कम दिखाया गया है।" [57] इस जनगणना रिपोर्ट को सही नहीं माना जा सकता। आदिवासी आबादी के घटने से विधायक तथा सांसद सीटें भी प्रभावित होंगी अर्थात घटेंगी। प्रतिनिधित्व घटने से आदिवासी राजनीतिक लाभ नहीं ले सकेंगे तथा अपने विरुद्ध बन रही कानूनों का विरोध भी नहीं कर पायेंगे और न ही उसमें संशोधन कर पायेंगे। हाल में हुए परिसीमन आयोग का मामला इसका स्पष्ट उदाहरण है। सन् 2001 की जनगणना के आधार पर झारखण्ड विधान-सभा तथा लोक-सभा क्षेत्रों का नया प्रारूप तैयार किया गया। इस नये प्रारूप को परिसीमन आयोग ने अपना अंतिम रूप दे दिया। तत्पश्चात् झारखण्ड विधानसभा की कुल आरक्षित सीट में से 6 सीटों को घटा दिया गया। उसी तरह लोक सभा की कुल आरक्षित सीटों में से 2 सीट घटाया गया। इससे आदिवासी बहुल झारखण्ड राज्य को अत्यधिक नुकसान होगा। यह झारखण्डी आदिवासियों के साथ घोर अन्याय है।

खनिज पदर्थों एवं वनों से भरे पूरे राज्य झारखण्ड में पूँजीवादी शक्तियाँ और भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया से भारी मात्रा में यहाँ पूँजीनिवेश हुआ। राष्ट्र की प्रगति के नाम पर यहाँ के खनिज पदार्थों, नदियों एवं वनों का भरपूर दोहन जारी है एवं औद्योगीकरण और भी तीव्र गति से हो रहा है। 27 प्रतिशत की अल्प आबादी अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादियों एवं औद्योगीकरण की गति को रोक नहीं पा रहे हैं। दिकू आदिवासियों का दोहन कर अपने लाभ के लिए ही प्रदेश में आ बसे हैं। वे भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को रोकने में आदिवासियों की मदद कभी नहीं करेंगे।

किसी भी जनतंत्र में जनसंख्या अति महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि आबादी से ही सरकार बनती है जो रोजमर्रे की जिन्दगी को चलाती है। अतः घटती हुई आदिवासी आबादी को ध्यान में रखकर आदिवासी समाज को ठोस कदम उठाना है। इसके लिए सामाजिक एकता, सहयोग एवं हर एक ही सहभागिता अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। साथ ही स्वयं में गुणात्मक सुधार लाना भी अति आवश्यक है।

क्षेत्र एवं मूल निवास स्थान

उराँव आदिवासियों के मूल निवास स्थान के बारे में विद्वानों के बीच मतभेद पाया जाता है । इस विषय पर सही जानकारी हासिल करने के लिए कुछ विद्वानों ने इनकी प्रजातीय विशेषता को आधार माना है । जैसे:- हेडन, हट्टन, बी० एस० गुहा तथा रिजले आदि। प्रसिद्ध मानवशास्त्री बी० एस० गुहा तथा हट्टन जैसे विद्वानों ने भारतीय आदिवासियों को मुख्यत: तीन समूहों में विभक्त बताया है। (1) नेग्रीटो (2) मंगोली तथा (3) भूमध्यसागरीय।

(1) नेग्रीटो – ये भारतीय प्रायद्वीप के प्राचीन निवासी बताये जाते हैं। अब लगभग ये लुप्त हो गये हैं। अण्डमान निकोबार द्वीप समूह में ओंगे, ग्रेट अण्डमानी, सेंटीनेली, जरवा तथा केरल में कदार, इरूलाट तथा पणियान जनजाति इसी समूह में आते हैं, जिनकी संख्या कम बतायी जाती है ।

(2) मंगोली – मंगोली को दो भागों में विभक्त किया गया है – (a) पलायु मंगोली तथा तिब्बती मंगोली - असम, मेघालय, मिजोरम, नागालैंड व मणिपुर में रहनेवाले जनजाति पलायु मंगोली के अन्तर्गत आते हैं एवं सिक्किम व अरूणाचल प्रदेश की जनजातियाँ तिब्बती मंगोली के अन्तर्गत आती हैं।

(3) भूमध्य सागरीय – भूमध्य सागरीय प्रजाति के लोग जनजातीय जनसंख्या का प्रमुख भाग है। सामान्यत: मानवशास्त्रियों ने इन्हें भूमध्यसागर की ईजीयन (प्रोटोऑस्ट्रोलायड) संमूह का माना है । इनमें बी० एस० गुहा एवं हट्टन प्रमुख हैं।

कुछ विद्वानों ने उराँव को द्रविड़ियन समूह का माना है और इनका निवास स्थान लंका से गंगा की घाटी तक बताया है । वे तमिलनाडु, आध्रप्रदेश, मध्यप्रदेश के दक्षिणी भाग एवं छोटानागपुर में बसे हैं। मानवशास्त्री रिजले का मत है कि इनके शुद्ध प्रतिनिधि मालाबार एवं छोटानागपुर में पाये जाते हैं। लेकिन झारखण्ड प्रदेश के छोटानागपुर में कई जनजातियाँ निवास करती हैं जो प्रजातीय दृष्टिकोण से एक ही है । ये सभी प्रोटो ऑस्ट्रोलायड समूह में आते हैं। भाषायी वर्गीकरण में इन्हें अलग-अलग किया गया है । छोटानागपुर निवासी उराँव तथा राजमहल की पहाड़ियों के निवासी पहाड़िया आदि की भाषा द्रविड़ समूह की मानी जाती है एवं बाकी जनजातियाँ हो, संताल, मुण्डा, खड़िया जैसे आदिवासियों की भाषा आस्ट्रिक भाषा परिवार की मानी जाती है । यहाँ कुछ बातें विचार करने योग्य हैं। झारखण्डी सभी आदिवासी प्रजातीय दृष्टिकोण से एक ही समूह में आते हैं तो फिर भाषायिक वर्गीकरण में वे अलग-अलग कैसे हो गये जबकि इनकी धर्म, संस्कृति में भी समानता पायी जाती है । प्राचीन काल में कहीं न कहीं इनके बीच अन्य समानता

भी रही होगी तभी ये एक प्रजाति के अन्तर्गत आते हैं। विभाजन काल में विद्वानों द्वारा कहीं न कहीं, कुछ कमी अवश्य रही होगी। यह पुनः शोध का विषय है।

हेडन तथा रिजले जैसे विद्वानों ने उराँव को द्रविड़ प्रजाति का बताया है। इस मत के अनुसार यदि देखा जाय तो इनका आगमन दक्षिण भारत के अन्य भागों से होते हुए सिंधु घाटी, मोहन जोदड़ो तथा हड़प्पा को निवास स्थान के रूप में दर्शाता है। बलूचिस्तान के कुछ भागों में बोली जानेवाली ब्राहुई भाषा इसका निश्चित प्रमाण हैं। ख्रीस्त मिखाएल तिग्गा ने अपनी पुस्तक 'तिग्गा चालखोजा' के भूमिका में इस बात की पुष्टि की है। "खैबर घाटी को पार कर एक दल बलूचिस्तान में ही रह गया। इस दल की संतान अभी भी बलूचिस्तान और सिन्ध में है और ब्राहुई जाति कहलाती है।"[58] इस तरह देखा जाता है कि यहाँ से पंजाब में सतलज, यमुना और अन्य नदियों के किनारे इनका निवास स्थान था। सभी जगहों से इनका प्रवर्जन होता रहा। अंत में पश्चिमोत्तर भारत से गंगा-यमुना मैदान पार कर ये शाहाबाद और रोहतासगढ़ तक पहुँच गये। विद्वान एस० सी० राय के अनुसार उराँव दक्षिण के कोंकण से गुजरात में नर्मदा नदी के तट को पकड़ते हुए पूर्व दिशा की ओर विन्ध्य की पहाड़ियों को पार कर बिहार के शाहाबाद तक पहुँचे। अंततः रोहतास गढ़ में इन्होंने अपना साम्राज्य स्थापित किया। यहाँ भी इन्हें सुख-शान्ति व चैन से रहने नहीं दिया गया। रोहतास गढ़ में उराँव साम्राज्य की समृद्धि देखकर मुसलमान शासकों ने इन्हें तंग करना शुरू किया, अंततः उन्हें धोखे से खदेड़ दिया गया। पुनः मिखाएल तिग्गा ने लिखा है - "आर्य तथा मलेच्छ लोगों का वहाँ आगमन हुआ। इनसे इनकी लड़ाई हुई। लड़ाई में पराजय होने पर ये दलों में बँट कर कितने पूर्व की ओर कितने पूर्व उत्तर की ओर और कितने दक्खिन की ओर गये।" [59] इस तरह इन लोगों ने छोटानागपुर में प्रवेश किया जहाँ मुण्डा साम्राज्य था। मुण्डाओं ने इन्हें आत्मसात किया एवं जमीन देकर उन्हें बसाया।

गहन अध्ययन द्वारा यह पाया गया कि अधिक विद्वान इन्हें कोंकण का मूल निवासी मानते हैं। डाल्टन, एस० सी० राय और अन्य विद्वानों ने भी उराँव परम्परा को कोंकण से सम्बन्धित बताया है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये कई जगहों से घूमते हुए अंत में छोटानागपुर में मूल रूप से बस गये। इस सम्बन्ध में एस० सी० राय ने अपनी पुस्तक 'दी उराँव ऑफ छोटानागपुर में लिखा है - "The tradition of the people point to the Deccan as their original home"[60] इनके मूल निवास स्थान के विषय में जियाउद्दीन अहमद ने अपनी पुस्तक बिहार के आदिवासी में लिखा है - "उराँव छोटानागपुर के प्राचीन निवासी नहीं हैं। ये लोग पहले दक्षिणी हिन्दुस्तान के पठार में रहा करते थे।"[61]

इसी तरह ब्रदर मिखाएल कुजूर ने अपनी पुस्तक 'उराँव संस्कृति' में लिखा है – "उराँव (कुड़ुख़) लोगों की दर्दनाक कहानी सिन्धु घाटी से आरंभ होती है जहाँ सात नदियाँ बहती थी और जहाँ उनके पूर्वज सुखपूर्वक निवास करते थे।"[62] इससे सम्बन्धित एक लोक गीत उराँव परम्परा के अनुसार गाया जाता है जिसमें इन सातों नदियों के नाम सम्मिलित हैं। उराँव के निवास स्थान एवं स्थानान्तरण के बारे में एन० सी० ई० आर० टी० द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'उराँव लोकगीत एवं लोककथाएँ' में लेखकों का कहना है कि – "कुँड़ख़र, जिन्हें उराँव भी कहा जाता है, द्रविड़ परिवार के हैं। एक समय था जब द्रविड़ भारत वर्ष के उत्तर पश्चिम में बलूचिस्तान तक फैले हुए थे। मध्य एशिया की ओर से बढ़ते आर्य द्रविड़ों को सिन्धु घाटी के पार धकेलने लगे। तब द्रविड़ दक्षिण पठार की ओर आये। लेकिन कुछ लोग यहाँ-वहाँ छूट गये। अभी भी बलूचिस्तान में छूटे हुए द्रविड़ परिवार के ब्राहुई रह गये हैं। कुछ उराँव कश्मीर और नेपाल में हिमालय की तराई में छिटफूट पाये जाते हैं। लेकिन अधिकांश उराँव गंगा जमुना नदियों के तट से होते हुए पटना जिले के निकटवर्ती पर्वतों और रोहतास में आ बसे।"[63]

आगे इसी विषय को प्रमाणित करता हुआ नर्मदेश्वर प्रसाद का विचार है– "Oraon history prior to their settlement in chotanagpur is mainly derived from legends and traditional sources. According to the tradition, Konkan is said to be the original home of the Oraons."[64]

उराँव जनजातियों के मूल निवास स्थान को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद पाया गया लेकिन अधिकतर विद्वानों का मत है कि इनका मुख्य निवास स्थान कोंकण और डेकन का पठार था। विद्वानों क़ा मत है कि उससे भी पहले उनका परिभ्रमण होता रहा है। बलूचिस्तान एवं सिन्धु घाटी आदि स्थानों का नाम लिया गया है। ए० तिर्की एवं रंजीत तिग्गा ने भी इस बात की पुष्टि अपनी पुस्तक/पत्रिका 'नाम कुड़ख़त', में विस्तार पूर्वक किया है जो कुड़ुख़ भाषा में है।

इस सम्बन्ध में भगवत शरण उपाध्याय ने 'सांस्कृतिक – भारत' नामक पुस्तक में लिखा है – "आर्यों के इस देश में आने के बहुत पहले द्रविड़ों ने संस्कृति का अद्‌भुत विकास किया था और वह संस्कृति नगरों की थी। गाँवों की नहीं। दखिनी पंजाब के मंतगुमरी जिले में हड़प्पा और सिन्ध के लरकाना जिले में मोहनजोदड़ो उस नागरिक सभ्यता के नगर थे। उसकी दूसरी बस्तियाँ बलूचिस्तान में भी बसी थी, जिनका सिलसिला उत्तर में बढ़ता हुआ फारस की खाड़ी के दोनों ओर ईरान

और ईराक तक चला गया था। वहाँ उसी से मिलती जुलती एक और सभ्यता फैली हुई थी, जिसे सुमेरी सभ्यता कहते हैं।"[65] आर्य जब सिन्धु में आये, उनका मुकाबला द्रविड़ों से हुआ उन्होंने द्रविड़ों को अनार्य कहा। इसके विषय में पुनः लेखक महोदय का तर्क है- आर्यों ने अपनी प्राचीन धर्म पुस्तक; ऋग्वेद में लिखा है - वे अपने शत्रुओं को 'कृष्णा' (काले), 'अनासाः (चिपटी नाक वाले), मृघवायः (कठोर बोली बोलनेवालें), 'अदेयवयु' (अनार्य देवता पूजनेवाले), 'अचज्वन' (यज्ञ न करने वाले), शिश्नदेवः (लिंगपूजक), दास, दस्यु आदि कहते थे।"[66] यहाँ लिंग पूजक छोड़कर उपयुक्त सभी बातें उराँव के लिए उपयुक्त है। अपनी भाषा, संस्कृति आजादी के विषय में पुनः लेखक भगवत शरण जी ने उसी पुस्तक में लिखा है : "जिनको अपनी आजादी और विचार प्रिय थे वे उत्तर से दक्षिण के इलाकों में जंगलों और पहाड़ों में चले गये।"[67] यहाँ विद्वानों का तर्क है कि उराँव द्रविड़ प्रजाति के हैं और बलूचिस्तान की ओर से सिन्धुघाटी में बसने वाले सिन्धु सभ्यता के निर्माता द्रविड़ थे। आर्यों के आगमन ने सिन्धु सभ्यता को तहस-नहस किया और वे बिखर गये, कई भागों में बँट गये जिसमें उराँव जाति ने आर्यों की दासता स्वीकार न करने के कारण दूर जंगल में जा बसी एवं अपनी भाषा संस्कृति को कायम रखा। आर्यों के आगमन के सम्बन्ध में एस० आबिद हुसैन ने अपनी पुस्तक 'भारत की राष्ट्रीय संस्कृति' में लिखा है- "आर्य अभी तक मूल आदिम जातियों को पूरी तरह वश में नहीं कर सके थे, जिन्हें वे दस्यु कहते थे और जिनके विरुद्ध वे लगातार युद्ध में संलग्न थे।"[68] पुनः पृष्ठ संख्या 33 में लेखक महोदय ने लिखा है - "अब प्राथमिक आदिम प्रजातंत्र का स्थान सुव्यवस्थित राजतंत्रीय व्यवस्था के राज्यों ने लिया था।"[69] इस तरह से ये बातें सिद्ध करती हैं कि उराँवों का निवास उन स्थानों में था। राजनीतिक व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था एवं भाषायिक दृष्टिकोण से इसे सही माना जा सकता है लेकिन कुछ विद्वानों ने 'उराँव' को प्रोटोऑस्ट्रोलायड प्रजाति की श्रेणी में रखा है। डॉ० गुहा के अनुसार मानव मिति और इनके शारीरिक संरचना के आधार पर भारत के दूसरे जनजाति जैसे संताल, हो, मुण्डा और खड़िया के समान हैं। इनके हाथ पैर की उंगली के निशान की सहायता से उनके समानता का प्रतिशत आंका गया है। वैसे भी उराँव का शारीरिक लक्षण झारखण्ड के अन्य आदिवासी समुदाय से मिलता-जुलता है। अतः यह आगे और खोज का विषय है कि उराँव जाति किस प्रजाति के हैं। वैसे इनका स्थानान्तरण एवं प्रवर्जन हमेशा से होता रहा है। इन्हें कहीं भी स्थिर से नहीं रहने दिया गया है। वर्तमान तक इनकी यही स्थिति है।

पूरा झारखण्ड प्रदेश खनिज पदार्थों से भरा पड़ा है जिसके कारण सदियों से बाहरी लोगों का इस क्षेत्र में आना होता रहा है, वाणिज्यिक उपनिवेशवादी नीति का घुसपैठ हमेशा से यहाँ होता रहा है । दिकूओं को यहाँ के सीधे-साधे, भोले-भाले आदिवासियों ने आत्मसात किया, गले लगाया लेकिन इन स्वार्थियों ने इन्हें ही रौंद दिया । उन्हें हर तरह से शोषित एवं प्रताड़ित किया । इनके खेत, खलिहान, जल, जंगल, जमीन सभी कुछ लूट लिया । इतना ही नहीं इनके बीबी-बच्चों, महिलाओं की इज्जत भी लूटी । आज इनकी स्थिति भूखों मरने की है । अपनी इस विकट समस्या से निदान पाने हेतु ये पलायन होने को मजबूर हैं । सरकार भी इनके पक्ष में सही कदम नहीं उठाती बल्कि इनके विकास के नाम पर इन्हें विस्थापित कर रही है । आखिर ये किससे सहायता लेंगे । अपने जीवन यापन के लिए इन्हें आज पुनः दर-दर की ठोकरें खानी पड़ रही है । अपनी आजीविका के लिए इन्हें इधर-उधर भटकना पड़ता है । भारत के प्रत्येक राज्य में इनकी अच्छी खासी जनसंख्या पायी जा सकती है जिन्हें अन्य कई नामों से जाना जाता है । अन्य राज्य सरकारें इनसे अपना स्थायी पता और जाति की माँग करती है एवं वहाँ भी इन्हें राजकीय सुविधा व सहायता से वंचित रखा जाता है ।



रोहतास का महल

संदर्भ संकेत

क्र० सं०	किताब का नाम	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
1	पंचदश लोकभाषा (संताली भाषा और साहित्य)	डॉ० डोमन साहु समीर	100
2	पंचदश लोकभाषा (उराँव भाषा और साहित्य)	जगदीश त्रिगुणायत	188
3	कोरकू जन जीवन	राम नारायण	
4	कोरकू जन जीवन	अशोक द पाटिल	1
5	बिहार के उराँव	डॉ० प्रकाश चन्द्र उराँव	
6	पंचदश लोकभाषा (उराँव भाषा और साहित्य)	जगदीश त्रिगुणायत	117
7	पंचदश लोकभाषा (उराँव भाषा और साहित्य)	जगदीश त्रिगुणायत	
8	पंचदश लोकभाषा (उराँव भाषा और साहित्य)	जगदीश त्रिगुणायत	118
9	पंचदश लोकभाषा (उराँव भाषा और साहित्य)	जगदीश त्रिगुणायत	117
10	पंचदश लोकभाषा (उराँव भाषा और साहित्य)	जगदीश त्रिगुणायत	117
11A	पंचदश लोकभाषा (उराँव भाषा और साहित्य)	जगदीश त्रिगुणायत	117-118
11B	उराँव लोक कथा के आधार पर	स्व० लोहरा उराँव	
11C	पंचदश लोकभाषा (उराँव भाषा और साहित्य)	जगदीश त्रिगुणायत	118
12	उराँव संस्कृति	ब्र० मिखाएल कुजूर एस० जे०	3-4
13	मुण्डा एवं उराँव का धार्मिक इतिहास	डॉ० दिवाकर मिंज	31
14	मुण्डा एवं उराँव का धार्मिक इतिहास	डॉ० दिवाकर मिंज	32
15	डिसक्रिपटिभ एथनॉलाजी ऑफ बंगाल	ई० टी० डाल्टन	245

क्र० सं०	किताब का नाम	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
16	दी उराँव ऑफ छोटानागपुर	एस० सी० राय	15
17	दी उराँव ऑफ छोटानागपुर	एस० सी० राय	15–16
18	हॉन कुड़ुख़ ग्रामर	प्रो० स्टेन कोनो	
19	बिहार के उराँव	डॉ० प्रकाश चन्द्र उराँव	
20	उराँव लोक कथा के अनुसार	मंगरा कुजूर	
21	डिसक्रिपटिभ एथनॉलाजी ऑफ बंगाल	ई० टी० डाल्टन	
22	बिहार के उराँव	डॉ० प्रकाश चन्द्र उराँव	
23	बिहार के उराँव	डॉ० प्रकाश चन्द्र उराँव	
24	कुड़ुख़ कत्था खीरी	शान्ति प्रबल प्रकाश बखला	1 से 32,38
25	इनसाइकलोपीडिया ऑफ रीलिजन एण्ड एथिक्स भाग- 1	एफ० हॉन, डब्लू० क्रुक	507
26	सेन्सस ऑफ इंडिया 1901- भाग 6	ई० ए० गैट	
27	कुड़ुख़ ग्रामर	एफ० हॉन	12
28	ग्रिर्यसन्स लिंग्विस्टिक सर्वे- भाग 5	डॉ० ग्रियर्सन	406
29	कुड़ुख़ ग्रामर	एफ० हॉन	12
30	कुड़ुख़ ग्रामर	एफ० हॉन	12
31	दि उराँव ऑफ छोटानागपुर	एस० सी० राय	
32	बिहार के आदिवासी	जियाउद्दीन अहमद	95
33	बिहार के आदिवासी	जियाउद्दीन अहमद	95
34	सेवार्थम	फा० लीनुस कुजूर	67
35	उराँव लोक कथा के अनुसार	मंगरा कुजूर	
36	द स्पेक्ट्रम ऑफ ट्राइबल रीलीजन इन बिहार	डॉ० करमा उराँव	13
37	--------------------	के० एस० सिंह	952
38	द वाइल्ड ट्राइब इन इंडिया	एच० बी० रौनी	78
39	--------------------	ए० बी० शरण	28

क्र० सं०	किताब का नाम	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
40	कुड़ुख़ ग्रामर इन इंडिया	एफ० हान	6
41	ट्राइबल एंड देयर कस्टम ऑफ द सेन्ट्रल प्रोविन्सेंस	रसैल एवं हीरालाल	300
42	ए ट्राइबल हिस्ट्री ऑफ इस्टर्न इंडिया	ई० टी० डाल्टन	
43	डॉ० फ्रांसिस एक्का	कुड़ुख़ फोनेटिक रीडर	
44	भारत के आदिवासी	अजीत कु सिंह, अवधेश प्र० सिन्हा	25
45	द स्पेक्ट्रम ऑफ ट्राइबल रीजीजन इन बिहार	डॉ० करमा उराँव	24
46	पंचदश लोकभाषा (उराँव भाषा और साहित्य)	जगदीश त्रिगुणायत	24
47	डिस्क्रीपटीव एथनॉलाजी ऑफ बगाल	ई० टी० डाल्टन	250
48	लैंड एण्ड पीपुल ऑफ ट्राइबल बिहार	नर्मदेश्वर प्रसाद	81
49	कुड़ुख़ कत्था खीरी	शांति प्रबल प्रकाश बाख़ला	1-38
50	पश्चिम बंगेर आदिवासी समाज	धीरेन्द्र बास्के	35
51	बिहार के आदिवासी	जियाउद्दीन अहमद	95
52	मुड़मा जतरा : एक परिचय	सुधांशु शेखर मिश्र, विलियम एक्का	4
53	छोटानागपुर सर्वे	ख्रिस्तोफर लकड़ा	1990 4-5
54	भारतीय जनगणना और झारखण्डी आदिवासी	शशिभूषण, अलेक्स एक्का	3
55	झारखण्ड मूवमेन्ट (झारखन्डेर कथा)	अमर कुमार सिंह, सम्पादक डॉ० राम दयाल मुण्डा एवं एस बसु मल्लिक	282
56	आदिवासी क्षेत्र किस ओर ?	बी० डी० शर्मा	I
57	भारतीय जनगणना और झारखण्डी आदिवासी	शशिभूषण कड़वार, अलेक्स एक्का	14-15

क्र० सं०	किताब का नाम	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
58	तीगा चाल-ख़ोजा	ख्रीस्त मिखाएल तिग्गा	17
59	तीगा चाल-ख़ोजा	ख्रीस्त मिखाएल तिग्गा	II
60	दी उराँव ऑफ छोटानागपुर	एस० सी० राय	
61	बिहार के आदिवासी	ज़ियाउद्दीन अहमद	95
62	उराँव संस्कृति	ब्र० मिखाएल कुजूर	1
63	उराँव लोकगीत एवं लोक कथाएँ	लाला राय निरंजन श्रीवास्तव भुवनेश्वर प्रसाद अवस्थी, आहलाद तिर्की, लिविनस तिर्की	13
64	लैंड एण्ड पीपुल ऑफ ट्राइबल बिहार	नर्मदेश्वर प्रसाद	81
65	सांस्कृतिक भारत	भगवत शरण उपाध्याय	
66	सांस्कृतिक भारत	भगवत शरण उपाध्याय	
67	सांस्कृतिक भारत	भगवत शरण उपाध्याय	
68	भारत की राष्ट्रीय संस्कृति	एस० आबिद हुसैन	29
69	भारत की राष्ट्रीय संस्कृति	एस० आबिद हुसैन	33

द्वितीय अध्याय

उराँव समाज

व्यक्ति और समाज में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती है । परन्तु समाज की रचना व्यक्ति ने की या व्यक्ति की रचना समाज ने की, कहना कठिन है । मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । वह समाज में जन्म लेता है, समाज में रहता है एवं समाज में ही रहकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है । समाज एक व्यवस्था है जिसके कुछ नियम, सिद्धान्त, प्रतिमान तथा मूल्य होते हैं । प्रत्येक व्यक्ति को उनका पालन करना होता है । विभिन्न व्यक्तियों, समूहों तथा संस्थाओं के सम्बन्ध तथा अधिकार एवं कर्तव्य उन्हीं के द्वारा स्पष्ट होते हैं । यही कारण है कि ये पद्धतियाँ तथा प्रतिमान समाज में पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होते रहते हैं । प्रत्येक समाज का अपना-अपना व्यवस्था एवं संगठन होता है, जो इनके सामाजिक-जीवन के वातावरण को प्रभावित करता है । इनकी अपनी विशिष्टताएँ है, जो अपने संस्कार-विचार एवं रीति-रिवाज, मनोरंजन और ज्ञानवर्द्धक बातों का निर्धारण करती है ।

उराँव जाति की अपनी जमीन होती है जिसमें उसका अपना स्वामित्व होता है । इनका आर्थिक जीवन कृषि पर निर्भर है । इसलिए इनके सामाजिक नियम और धार्मिक क्रियाओं में प्रकृति से गहरा सम्बन्ध है । इनका गाँव, जंगल, पहाड़, एवं पर्वतों के निकट या इनके बीच में बसा होता है । इसपर इनका सामूहिक रूप से स्वामित्व होता है । इसलिए एक व्यक्ति विशेष का सम्बन्ध पूरे समाज के लोगों के साथ बंधा होता है । यह व्यवस्था उनका सामाजिक संगठन है जिसके माध्यम से वे अपने समाज को नियंत्रित करते हैं एवं समाज में शांति एवं सुव्यवस्था बनाये रखते हैं । इनकी अपनी संस्कृति, रीति-रिवाज, परम्परा एवं अपना धर्म है । इनका सांस्कृतिक केन्द्र स्थल 'अखड़ा' होता है । यहाँ पर्व-त्यौहार में विशेष नाच-गान होता है । यहीं पर अखड़ा से सटकर 'धुमकुड़िया' होता है जो इनका सांस्कृतिक प्रशिक्षण केन्द्र होता है । इनका राजनीतिक संगठन भी बहुत मजबूत है जिसे 'पड़हा' के नाम से जाना जाता है । 'पड़हा' की बैठकें अखड़ा में ही होती हैं । अपने सभी प्रकार के विवादों का निपटारा इसी पड़हा द्वारा किया जाता है । इनके ग्राम इकाई का मुख्य व्यक्ति 'महतो' कहलाता है । कई गाँवों को मिलाकर बड़ी इकाई बनायी जाती है जिसका मुख्य व्यक्ति 'पड़हा राजा' कहलाता

है । इनके धार्मिक कार्यों को सम्पन्न कराने वाली व्यवस्था अच्छे ढंग से सजी हुई है इसलिए अलग-अलग कार्यों की जिम्मेदारी अलग-अलग व्यक्तियों को दी जाती है । इनका सामाजिक संगठन भी बहुत मजबूत होता है । इसे मजबूत बनाने के लिए समाज में कई, संस्कार, रीति-रिवाज प्रथा, एवं परम्परा है जिसके आधार पर विवाह, नातेदारी व्यवस्था एवं स्त्री-पुरुष के बीच समानता पायी जाती है । परदा प्रथा एवं दहेज प्रथा इस समाज में नहीं पायी जाती है । उराँव समाज पितृप्रधान होता है, जहाँ पिता के सम्बन्धी ही अधिक निकट समझे जाते हैं। इसकी आवश्यकता विवाह सम्बन्ध निश्चित करने के लिए भी होता है । इसके अनुसार पिता के पूर्वजों के दल का निर्माण होता है । इस दल को 'गोत्र' कहते हैं विश्व के विभिन्न देशों में आदिवासियों के बीच गोत्र का प्रमाण मिलता है । इससे स्पष्ट है कि आदिवासी किस प्रकार समीपस्थ वातावरण से प्रभावित होते हैं ।

गोत्र और टोटेम - उराँव समाज गोत्र पर आधारित है । गोत्र और टोटेम शब्द में बहुत ही सूक्ष्म अंतर पाया जाता है । इसलिए कुछ विद्वानों ने इसका प्रयोग एक ही अर्थ में किया है । ये गोत्र के प्रतीक चिह्न टोटेम के प्रति पूर्ण श्रद्धा व्यक्त करते हैं तथा उन्हें किसी भी तरह से हानि नहीं पहुँचाते हैं। उराँव जातियों में प्रत्येक गोत्र का एक प्रतीक चिह्न होता है जिसे वे टोटेम कहते हैं । गोत्र के प्रतीक चिह्न टोटेम को प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है । लेकिन गोत्र को नहीं देखा जा सकता हैं । "टोटेम शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आदिम धर्म एक परिचय में लेखक ख्रिस्टोफर अगस्तुस विकसल तिर्की का मत है कि "टोटेम शब्द उत्तरी अमेरिका के ओजीब्बा और समजातीय अलगोनक्वीई बोलियों (जो उत्तर अमेरिका के रेड इन्डियन की बोलियाँ हैं) के ओटोटेमन शब्द से निकला है । मूल शब्द का अर्थ है- 'उसका भाई-बहिन सम्बन्धी' इस मूल शब्द से उन भाई-बहनों या व्यक्तियों के उस समूह का बोध होता है जो जन्म से या दत्तक लिए जाने से एक ही माँ के बच्चे माने जाते हैं और आपस में विवाह नहीं कर सकते हैं ।"[1]

डी० एन० मजूमदार ने 'भारतीय जनसंस्कृति' में लिखा है कि "टोटेम शब्द सर्वप्रथम एक अंग्रेज जे० लॉग ने 1871 में उत्तरी अमेरिका के रेड इन्डियनों से ग्रहण किया। जे० एफ० मैकलिनन पहले लेखक थे जिन्होंने आदिम सामाजिक संस्था के रूप में टोटेमवाद को समझा। ऑस्ट्रेलिया के अतिरिक्त यहाँ भी टोटेमवाद सर्वाधिक व्यापक है । अफ्रीका के कुछ भागों उत्तरी आमेरिका के कुछ

रेड इन्डियन जनजातियाँ और दक्षिणी अमेरिका के जन-जातियों में भी यह संस्था पायी जाती है। भारत में भी बहुसंख्यक जनजातियाँ या तो टोटमी आधार पर संगठित है उनमें विशेष पशुओं और पौधों को पवित्र मानते हैं या उनमें विशेष पशुओं और पौधों को खाने या नष्ट करने का निषेध टेबू है । 'टेबू' मलेनेशियन भाषा का शब्द है ।"[2]

करीब-करीब भारत की सभी जनजातियों में टोटेमवाद पाया जाता है । उराँव जनजातियों में भी यह पूर्ण रूप से पाया जाता है । इसलिए लेखक ख्रिस्टोफर अगस्तुस विकसल तिर्की ने अपनी पुस्तक में लिखा है "छोटानागपुर के उराँव आदिवासी टोटेमवाद का एक अच्छा उदाहरण है ।" [3]

आदिवासियों के सामाजिक संगठन का महत्त्वपूर्ण आधार गोत्र है । सर्वप्रथम हमें गोत्र के अर्थ को जानना आवश्यक है । गोत्र शब्द का अर्थ व्यापक है । मानवशास्त्र का अध्ययन पहले विदेशों में होता था । उस समय वहीं के विद्वानों ने 'सिब' (SIB) कलान (clan) किन (kin) इत्यादि कई नामों का प्रयोग किया है । इन सभी शब्दों का अर्थ वंश, कुल, खानदान, रक्त, सम्बन्धी आदि के संदर्भ में लिया गया था। जैसे – बेयटर्स न्यु वर्ल्ड डिकशनरी में इन शब्दों का अर्थ इस प्रकार लिखा है :-

1. Blood relatives kin

2. A blood relatives kins man or kinswoman specially a brother or sister, लेकिन मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से इसका अर्थ इस प्रकार है :-

A group of persons in a community tracing their descent unilaterally form a tradition of actual common ancestors.

(1) Clan - Offspring Tribe (1) An endly form of social group as in the scotish Highlands composed of several families bearing the some family name and following the same chieftain.

(2) In certain primitive societies, a tribal division usually ideaogamous of matrilineal and patrilineal descent from a common ancestor. इसी तरह लैटिन शब्द जेन्स तथा सेप्ट का भी अर्थ है ।"[4]

हिन्दी शब्दकोश 'मानक हिन्दी कोश' सम्पादक रामचन्द्र वर्मा ने गोत्र का अर्थ इस प्रकार बताया है । 'गोत्र (पालन करना) –

1. संतति, संतान
2. नाम, संज्ञा
3. क्षेत्र
4. वर्ग समूह
5. बन्धु, भाई
6. कुल वंश

7. भारतीय आर्यों में किसी कुल या वंश का एक प्रकार का अल्ल या संज्ञा जो किसी पूर्वज अथवा कुलगुरु ऋषि के नाम पर होती है । वंश का नाम जैसे - कश्यप, भारद्वाज आदि गोत्र ।

8. पूर्वज अथवा कुलगरु ।"[5]

'हिन्दी विश्वकोश' खण्ड-4 में रामप्रसाद त्रिपाठी ने गोत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि गोत्रीय से आशय उन व्यक्तियों से है जिनके आपस में पूर्वजों अथवा वंशजों की सीधी पितृ परम्परा द्वारा रक्त सम्बन्ध हो ।

डॉ० दिवाकर मिंज ने अपनी पुस्तक मुण्डा एवं उराँव का धार्मिक इतिहास में आदिवासियों के बीच गोत्र का तात्पर्य - "एक वंश में समस्त विस्तृत परिवार से है जो किसी एक पूर्वज के वंश वृक्ष के रूप में फैले हुए हैं ।"[6]

आगे गोत्र शब्द के अर्थ की व्याख्या करते हुए गुप्ता एवं शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतीय समाज तथा संस्कृति' में लिखा है - गोत्र शब्द के तीन या चार अर्थ हैं । जैसे -

गोशाला गाय का समूह, किला तथा पर्वत । इस प्रकार घेरे या स्थान पर रहने वाले लोगों में परस्पर विवाह वर्जित था । गोत्र का शाब्दिक अर्थ गोत्र अर्थात् गायों को बाँधने का स्थान गौशाला या बाड़ा अथवा गो पालन करने वाला समूह है जिन लोगों की गायें एक स्थान पर बँधती थी उसमें नैतिक सम्बन्ध बन जाते थे और सम्भवत: वे रक्त सम्बन्धी भी होते थे अत: वे परस्पर विवाह नहीं करते थे ।"[7]

पुन: गुप्ता एवं शर्मा लिखते हैं कि सत्याषाढ़ हिरण्यकेशी श्रोतसूत्र के अनुसार हिन्दुओं में ऋषि-मुनियों के नाम पर जो कि आठ हैं विश्वामित्र, जमदग्नि, भारद्वाज, गौतम, वशिष्ट, कश्यप और अगस्त्य है । उनकी संतानों को गोत्र के नाम से पुकारा गया ।"[8]

लेकिन आदिवासियों के गोत्र किसी व्यक्ति, ऋषि मुनि से सम्बन्धित न होकर पेड़-पौधे, पशु-पक्षी एवं खनिजों से है । प्रत्येक गोत्र का एक प्रतीक चिह्न होता

है जो उनका टोटेम कहलाता है । निमाड़ अंचल के 'कोरकु' जनजाति में भी गोत्र परम्परा पेड़-पौधों और कतिपय जीव-जन्तुओं और भौतिक पदार्थों से सम्बन्ध रखती है तथा यह उनके परवरिश में होने के कारण इनके माध्यम से सभी कोरकु अपने-अपने गोत्र को सफलता पूर्वक स्मरण रख लेते हैं । इसी कारण कोरकुओं में वंश परम्परा का ध्यान भले ही न रखा जाता हो पर विवाह के समय गोत्र वर्जन का कठोरता से पालन किया जाता है ।"[9]

ऐसे ही विश्व के आदिवासियों की तरह झारखण्ड क्षेत्र में भी सभी आदिवासी कई गोत्रों में विभक्त हैं । इनके गोत्र जीव-जन्तु और पेड़-पौधों के नाम पर है । गोत्र जनजाति सामाजिक संगठन का एक महत्त्वपूर्ण आधार होता है । गोत्र का प्रारम्भ परिवार के किसी प्रमुख पूर्वज से होता है । वह इस पूर्वज से प्रमुख और प्रतिष्ठित होने के कारण उसे परिवार का प्रवर्तक या संस्थापक माना जाता है । इसी कारण उसी के नाम से परिवार के सब वंशजों को परिचय दिया जाता है । उराँव समाज में वंश पिता के पक्ष के समस्त रक्त सम्बन्धियों से मिलकर बनते हैं । इस समाज में माता और पिता दोनों पक्षों के वंश समूहों को मिलाकर गोत्र का निर्माण कभी नहीं होता है । अतः हम कह सकते हैं कि उराँव समाज में गोत्र का निर्माण सदैव एक पक्षीय होता है ।

झारखण्ड क्षेत्र के प्रत्येक आदिवासियों में गोत्र के प्रति श्रद्धा रखी जाती है । डॉ० अजीत कुमार सिंह एवं डॉ० अवधेश प्रसाद सिन्हा ने अपनी पुस्तक 'भारत के आदिवासी' में लिखते हैं कि "सौरिया पहाड़िया में गोत्र व्यवस्था नहीं पायी जाती ।"[10] उमेश कुमार वर्मा अपनी पुस्तक 'बिहार का जनजातीय जीवन' में लिखते हैं सावरिया पहाड़िया में गोत्र व्यवस्था नहीं पायी जाती है ।"[11]

गोत्र के कार्य भी एक ही हैं लेकिन कुछ जातियों के साथ थोड़ी असमानता पायी जाती है जैसे -अजीत कुमार सिंह एवं अवधेश प्रसाद सिन्हा ने अपनी पुस्तक 'भारत के आदिवासी' में लिखा है "इनमें टोपनो तथा मैल अन्य गोत्रों की अपेक्षा निम्न कोटि के समझे जाते हैं । अतः इन दोनों गोत्र वालों के द्वारा बनाये हुए भोजन अन्य गोत्र वाले अस्वीकार करते हैं । सामाजिक श्रेणी में 'मुरमू' गोत्र का स्थान प्रथम आता है और इनके बाद 'सोरेन'।"[12] पुनः इसी किताब में लिखा गया है कि- "मुरू गोत्र वाले को ही सामाजिक भोज के अवसर पर पहला ग्रास भोजन खाना चाहिए ।"[13]

इसी असमानता को दिखाते हुए लेखक कहते हैं कि-"दुध खड़िया में डुंगडुंग, कुल्लू, समाद, बिलुंग, सोरेंग, बाटोपो तथा किसी आठ प्रकार के गोत्र मानते हैं । इसमें प्रथम तीन गोत्र अन्य गोत्रों की तुलना में श्रेष्ठ समझे जाते हैं ।"[14]

संथालों के बारे में भी अजीत कुमार सिंह एवं अवधेश प्रसाद सिन्हा लिखते हैं - "समगोत्रीय यौन सम्बन्ध तो निषिद्ध है ही निकट सम्बन्धियों एवं अपर जाति वाले के साथ भी यौन सम्बन्ध वर्जित है ।"[15]

इसी तरह डॉ० रोज केरकेट्टा ने अपनी पुस्तक 'खड़िया लोककथाओं का साहित्यिक और सांस्कृतिक अध्ययन' में लिखा है- "जिन गोत्रों को ऊँचा स्थान प्राप्त है, वे हैं- 'डुंगडुंग' राजा, 'कुल्लू' रानी, 'केरकेट्टा' भंडारी ।"[16]

इस तरह हम देखते हैं कि खड़िया जाति एवं संथाल जाति के गोत्र में ऊँच-नीच का भेद-भाव पाया जाता है जिसके कारण उनका सामाजिक स्थान एवं पंचायत व्यवस्था भी प्रभावित है । शादी-विवाह के लिए भी किसी निश्चित गोत्र के साथ ही लड़का-लड़की का ताल-मेल बैठाया जाता था ।

रोज केरकेट्टा ने अपनी पुस्तक खड़िया 'लोककथाओं का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन' में लिखा है- "डुंगडुंग और कुल्लु गोत्र का विवाह सर्वाधिक मर्यादित था । इन दोनों गोत्रों का तीसरे गोत्र केरकेट्टा के साथ विवाह होता था । युवक कुल्लू या डुंगडुंग गोत्र का एवं युवती केरकेट्टा गोत्र की होती थी । कन्या के घर वर के माता-पिता जाते थे किन्तु उनके घर का 'अरवा' हड़िया पीते थे एवं स्वयं पकाकर खाना खाते थे ।"[17]

उराँव जातियों में गोत्र के बीच ऐसी ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं पाया जाता है । सभी गोत्र की सामाजिक स्थिति बराबर है एवं अपनी ही जाति के अन्दर किसी भी गोत्र (अपनी गोत्र छोड़कर) से विवाह कर सकता है । डॉ० दिवाकर मिंज ने अपनी पुस्तक 'मुण्डा एवं उराँव का धार्मिक इतिहास' में लिखा है- "गोत्र का सीधा सम्बन्ध विवाह की संस्था और धर्मेस की इच्छा से है ।"[18]

इस तरह गोत्र एवं टोटेम उराँव जनजातियों के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । गोत्र उराँवों में एक पक्षीय (unilatral) सामाजिक बन्धनों का प्रतिमान है । गोत्र की सदस्यता जन्म पर आधारित होता है । अतः गोत्र में उत्पन्न बच्चे स्वतः ही उनके सदस्य हो जाते हैं । गोत्र की सदस्यता पूर्व-निश्चित होती है । एक गोत्र के सदस्य एक ही पूर्वज में विश्वास करते हैं । ये पूर्वज (ancestor) एक कल्पित मानव अथवा मानव के समान पशु, पेड़-पौधे या निर्जीव वस्तु हो सकते हैं । किन्तु चार्ल्स विनिक ने (charles Winick) अपनी पुस्तक Dictionary of Anthropology में लिखा है कि न तो यह पूर्वज पशु होता है अपितु यह एक आत्मा अथवा कोई प्राकृतिक वस्तु होती है ।

कुल, गोत्र, सिब ये सभी अलग-अलग भाषा के शब्द हैं । जैसे कलान (clan) गैलिक भाषा का शब्द है जिसका अर्थ संतान अथवा वंशज है । इस शब्द का प्रयोग ब्रिटेन एवं फ्रांस के मानवशास्त्रियों द्वारा किया गया है । उन्होंने इसका प्रयोग जनजाति समूह के लिए किया था । मॉर्गन पितृ गोत्र के लिए जेन्स (gens) तथा मातृ-गोत्र को कलान (clan) कहा था । इस आधार पर उराँव जनजाति में प्रचलित clan शब्द न होकर जेन्स (gens) होना चाहिए क्योंकि उराँव जाति पितृवंशीय होती है । लेकिन कुछ विद्वानों ने पितृवंशीय और मातृवंशीय दोनों के लिए कलान (clan) शब्द के प्रयोग का सुझाव दिया था ।

डॉ॰ रिर्वस clan के स्थान पर (sept) सेप्ट शब्द के प्रयोग का सुझाव देते हैं । यह शब्द आयरलैंड से लिया गया है । कुछ लोगों ने clan के स्थान पर खेल और किल्ली शब्द का प्रयोग किया है । झारखण्डी आदिवासी मुण्डा, हो, संथाल आदि गोत्र को 'किली' के नाम से जानते हैं । उराँव जाति इसे 'गोतोर' के नाम से जानते हैं इसका अर्थ है एक वंश के पूर्व पूर्वज । जिसकी गणना आरंभ काल से की जाती रही है और वह आगे भी चलता रहता है । जिस तरह चीनी लोग कलान का प्रयोग विस्तृत परिवार के लिए करते थे और एक उपनाम लगाने वाले व्यक्तियों को एक ही गोत्र माना जाता था ।

अफ्रीका में कलान (clan) का अर्थ एक रेखीय (uniletral) समूह से लिया जाता है । उत्तरी अमेरिका के इंडियन्स में मातृ-बंधुओं या पितृ-बंधुओं के समूह के लिए कलान शब्द का प्रयोग किया जाता है । आयरलैंड में मातृ वंशी वंशानुक्रम समूह को भी कलान के नाम से पुकारा जाता था । अंग्रेजी शब्द और अमेरिकन शब्द में इस शब्द को लेकर भिन्नता पाई जाती है, जैसे मरडॉक ने clan शब्द का प्रयोग एक रेखीय स्थानीय वंशानुक्रम के लिए किया है । इसी तरह विद्वान लॉबी ने clan के स्थान पर sib शब्द का प्रयोग किया है । sibt और sib दोनों शब्द जर्मन भाषा के Sippe (शिप्पे) शब्द से सम्बन्धित है । जिसका अर्थ लगभग कुल के अर्थ में ही था । इस तरह clan शब्द का प्रयोग कई अर्थों में हुआ है । इसका प्रयोग sib (सिब), sept (सेप्ट), kin (किन), matriclan (मातृवधू), (patriclan) पितृवधू , gens (जेन्स) आदि के रूप में हुआ है । हिन्दी में इसे गोत्र, कुल, खेल, किली आदि नामों से जाना जाता है । भारतीय मानवशास्त्रियों ने अंग्रेजी शब्द clan का अर्थ गोत्र के रूप में किया है । गोत्र की परिभाषा कई विद्वानों ने दी है । गोल्डन विजर का कहना है कि- "गोत्र व्यक्तियों

को जो रक्त द्वारा सम्बन्धित होते हैं तथा कुछ अंशों में इस प्रकार के सम्बन्धी माने जाते हैं, सम्मिलित करता है । एक गोत्र वंशानुगत होता है । किसी भी मनुष्य का जन्म गोत्र में ही होता है । यह एक पक्षीय होता है ।"

"It compriser individuals partly by blood and partly conceived as so related it is hereditary (a person is born in to a clan) it is unilateral. (संस्कृति एवं सामाजिक मानवशास्त्र : डॉ० उग्रनाथ झा एवं डॉ० माखन झा) पृ० सं० 127

इसी तरह गोत्र की परिभाषा देते हुए डॉ० डी० एन० मजूमदार एवं मदन ने उल्लेख किया है कि "अधिकतर गोत्र कुछ वंश समूहों का योग होता है और वह अपनी उत्पत्ति एक कल्पित पूर्वज से मानते हैं जो कि मानव जैसा जीव, पेड़-पौधे या निर्जीव वस्तु हो सकता है ।"[19]

"(A sib of clan in the combination of fewlaieges and the eleces descent may be altimetly traced to a mythicaancestor who may be human like, animal, plant or even inanimate)".

(IBID)

गोत्र को और अधिक स्पष्ट करते हुए आगबर्न एवं निमकॉफ लिखते हैं - 'शिकारी' जातियों में संगठन होता है जिसमें कुछ अनुशासन-शक्ति होती है । यह प्राय: पारिवारिक संगठन होता है, जो रक्त सम्बन्धी परिवार से बहुत बड़ा होता है और जिसे साधारणत: गोत्र कहा जाता है । यह नातेदारी का एक संगठन होता है जो व्यक्तियों वाले अनेक गाँवों तक फैल सकता है । इसमें व्यक्ति या तो परस्पर सम्बन्धित होते हैं या इन्हें सम्बन्धित मान लिया जाता है और ये एक पूर्वज से अपनी उत्पत्ति मानते हैं ।"[20]

"There is an organization many hunting people that has some regulatory power. It is a quasifamily organization much larger than the blood family usually referenced to the clan. It is a kinship organization which may strech access sevoal villages consisting of individuals who either or assumed to be related and who trace their descent from a comman ancestor".

(IBID)

इस तरह "गोत्र एक बहिर्विवाही समूह है । ये सब अपने को एक पूर्वज की संतान मानते हैं इसलिए आपस में विवाह नहीं करते हैं । गोत्र की सदस्यता जन्म पर आधारित होता है । अतएव गोत्र में उत्पन्न पुरुष या स्त्री स्वत: ही उसका सदस्य बन जाता है । गोत्र की सदस्यता अनिवार्य और पूर्वनिश्चित होती है ।"[21] गोत्र कभी बदल नहीं सकता है । उराँव जाति में भी गोत्र की ये सभी विशेषताएँ पायी जाती है । लेकिन पितृवंशीय समाज होने के कारण विवाह के बाद वधू को वर पक्ष के गोत्र में शामिल कर लिया जाता है या विवाह के बाद वधू को स्वत: ही यह हासिल हो जाता है । फिर डॉ० माखन व उग्रनाथ झा ने लिखा है "गोत्र का प्रारंभ परिवार के किसी प्रमुख पूर्वज से होता है । इस पूर्वज के प्रमुख और प्रतिष्ठित होने के कारण उसे उस परिवार का प्रवर्तक या संस्थापक मान लिया जाता है ।"[22]

गोत्र की उत्पत्ति

विद्वान मॉर्गन ने गोत्र की उत्पत्ति एवं उसके प्रारम्भिक स्तरों का उल्लेख किया है । इनकी मान्यता है कि सामाजिक उद्विकास एक अटल नियम है जो सभी सामाजिक संरचनाओं पर लागू होता है । प्रत्येक जनजाति में गोत्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई न कोई दंत कथा या उपकथा पायी जाती है । जैसे अफ्रीका की डोहीमी जनजाति में एक गोत्र की उत्पत्ति घोड़े और स्त्री के संसर्ग से मानी गई है। उसी तरह एक दूसरे गोत्र की उत्पत्ति के लिए सुअर और स्त्री के संसर्ग की उपकथा प्रचलित है। कमारों के गोत्र की उत्पत्ति एक बकरे और स्त्री के संसर्ग से मानी जाती है। गुप्ता एवं शर्मा द्वारा लिखित पुस्तक भारतीय समाज तथा संस्कृति में कमार जनजाति के कई गोत्रों की उत्पत्ति के लिए निम्नलिखित कथाएँ प्रचलित है। (1) "सृष्टि के निर्माण के बाद जब एक बार पुन: प्रलय हुआ तो जिस क्षेत्र में कमार लोग रह रहे थे, वहाँ पर भी पानी आने लगा और वे चारो ओर पानी से घिर गये। सुरक्षा के लिए उन्होंने सहारे की खोज की एवं उनमें से एक दल को कछुए ने अपनी पीठ पर बैठाकर जल - प्लावन से उनकी रक्षा की । अत: ये नेताम गोत्र के कहलाये। ये लोग कछुए को अपना पूर्वज मानते हैं। ये लोग कछुए को किसी भी तरह से हानि नहीं पहुँचाते हैं ।"[23]

इसी तरह बुन्देलखण्ड के आदिवासी 'सौर' में गोत्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक कथा प्रचलित है- "एक समय अधिक वर्षा हुई और नदियों में बाढ़ आ गई। कुछ आदिवासी एक नदी को पार करके दूसरे गाँव में जाना चाहते थे। किनारे पर खड़ा होकर उन्होंने नाविक को बुलाया लेकिन भरी हुई नदी में नाविक नाव उतारने को तैयार न हुआ। इतने में एक मगर अपने साथी कछुए को लेकर तट के पास आया। उसी समय एक लम्बी मछली भी वहाँ आ पहुँची। इन आदिवासियों को मुसीबत में फँसी देखकर मगर, कछुआ और मछली तीनों ने अपनी-अपनी पीठ पर आदिवासियों को बैठाया और नदी पार कराया। नदी पार करने के क्रम में आदिवासी जिनके-जिनके पीठ पर बैठे थे। उन्होंने उन्हें अपना गोत्र स्वीकार कर लिया।"[24]

पुनः श्री चन्द्र जैन बेरी गोत्र के बारे उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखते हैं - "एक विवाहिता युवती ने बेरी के कुछ मीठे बेर खा लिए और वह गर्भवती हो गई। नौ मास के उपरांत वह एक सुन्दर पुत्र की माता बनी। पुत्र के पिता ने बेरी वृक्ष की पूजा की और उसे अपने गोत्र चिह्न के रूप में स्वीकार कर लिया धीरे-धीरे आदिवासियों के एक समूह को बेरी गोत्र से अपनी प्रसिद्धि की।"[25]

झारखण्ड क्षेत्र के मुण्डा जातियों में भी गोत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये लोग अपने गोत्र को अपनी भाषा में 'किली' कहते हैं। इनके किली के उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार कथा प्रचलित है- जिसे जियाउद्दीन अहमद ने अपनी पुस्तक बिहार के आदिवासी में इस प्रकार से उल्लेख किया है। "एक बार यात्रा करते समय उन्हें पानी से भरी हुई नदी से गुजरना पड़ा। इनकी एक गिरोह ने नदी तो पार कर लिया। लेकिन दूसरे किनारे पर पहुँचकर ये लोग जाड़े से कांप रहे थे। इसलिए इन लोगों ने अपने साथियों से कहा वे लोग इनके लिए जलावन की कुछ लकड़ियाँ भेज दें। किन्तु उनके पास लकड़ी भेजने का कोई साधन न था, इसलिए उन लोगों ने तीर के द्वारा थोड़ी सी 'तुक्की' की लकड़ी उस पार फेंक दी। इस प्रकार वे लोग सर्दी से बच गए और उन लोगों ने प्रतिज्ञा की कि वे लोग तुक्की के पौधे को कभी नहीं खायेंगे। इस प्रकार वह उनकी किली बन गई।"[26]

इसी तरह मुण्डा जाति के अन्य किली 'मुण्डु' के बारे में पुनः लेखक महोदय लिखते हैं कि "मुण्डा जाति के एक मुखिया पूर्वी परगना से सोनपुर आते हुए अपने सर पर थोड़ा सा भूसा ला रहा था। उस समय सारा भूसा जल गया। इस घटना के बाद से वह मुण्डा सरदार और उसके नातेदार 'मुण्डु' किली कहलाने लगे।"[27]

उराँव जाति में भी गोत्र-निर्माण की कथा में किसी वस्तु द्वारा सहायता पहुँचाने पर उसे गोत्र माना गया है । इनके बीच में गोत्र-निर्माण की कथा किसी के संसर्ग से नहीं माना जाता है । उराँव जातियों के गोत्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक लोककथा इस प्रकार प्रचलित है- बहुत पुरानी कथा है । एक बार सारी पृथ्वी में आग लग गई और सबकुछ जलकर खत्म हो गया । पृथ्वी वीरान हो गयी इस वीरानता को देखकर भगवान पृथ्वी पर आये । चारों ओर वीरान देखकर वे उदास हो गयें । वे इधर-उधर घूम रहे थे तभी उन्होंने केकड़े के एक बिल में दो बच्चों (लड़का-लड़की) को देखा जो भगवान से कुछ प्रार्थना कर रहे थे । भगवान उन बच्चों को देखकर बहुत खुश हुए । उन्हें उन बच्चों पर दया आ गई । उन्होंने बच्चों को बाहर आने को कहा । बच्चे बहुत भयभीत थे । बच्चों ने उनसे पूछा- आप हमें हानि तो नहीं पहुँचायेंगे । तब भगवान ने कहा-नहीं, मैं तुम्हें हानि नहीं पहुँचाऊगा । मैं तुम्हारी सहायता करने आया हूँ । तब दोनों बच्चे बिल के बाहर आ गये । भगवान ने उमसे पूछा- तुमलोग बिल के अन्दर क्यों छिपे हो ? इसपर बच्चों ने जवाब दिया । सम्पूर्ण धरती में आग लग जाने के कारण सब कुछ जलकर नष्ट हो गया । हमलोग आग के डर के कारण बिल में छिपे गये । भगवान ने उन्हें सांत्वना देते हुए कहा- डरो नहीं, अब ऐसा नहीं होगा । तुमलोग आराम से अपनी जिन्दगी का निर्वाह करो । इसपर बच्चों ने कहा-"आग में जलकर सबकुछ नष्ट हो गया, हमारे पास कुछ भी नहीं है । हमारी जिन्दगी का निर्वाह कैसे होगा ? तब भगवान ने कहा- घबराओ नहीं । मैं तुमलोगों के लिए आवश्यक वस्तुएँ और बीज एवं पशु-पक्षी लेकर आता हूँ । तुमलोग खेत तैयार करो, और भगवान अदृश्य हो गये । बच्चे जमीन कोड़कर खेत तैयार करने लगे । कुछ देर बाद भगवान आये । उनके हाथ में उन बच्चों के लिए आवश्यक वस्तुओं के अलावा और कई तरह के बीज एवं पशु-पक्षी थे । उन सभी चीजों को बच्चों को देते हुए भगवान ने कहा, ये सभी चीजें जो मैं दे रहा हूँ, तुम्हारे जीवन की रक्षा करेंगे । तुमलोग अपने जीवन में कभी ऐसा गलत काम नहीं करना जिससे कि मुझे फिर प्रलय करना पड़े । यह कहकर भगवान अन्तरध्यान हो गए । बच्चों ने भगवान के लाये वस्तुओं से खोदकर खेत तैयार किया एवं बीज बो दिया । पशु-पक्षियों को बहुत मेहनत से पाला । उनका बोया हुआ बीज कुछ ही दिनों में उग आया । इसी तरह से जंगल फिर से हरे-भरे हो गए । बच्चों का जीवन अच्छी तरह से गुजर रहा था । यही दोनों बच्चे

उराँव के प्रथम पूर्वज कहलाये। धीरे-धीरे इनके संतानों में वृद्धि हुई और इसका परिवार बढ़ता गया। परिवार बढ़ने के कारण वे अलग-अलग समूह बनाकर रहने लगे। परंतु उनके समूहों का कोई नाम या चिह्न नहीं था जिसके कारण उन्हें एक दूसरे समूहों को पहचानने और जानने में कठिनाई होती थी। इसलिए उन्होंने उन पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं के नाम पर अपने समूहों का नाम रखा जिसे सृष्टिकर्ता ने उन बच्चों को दी थी। चूंकि इन पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं ने आरम्भिक काल में इनके पूर्वजों की रक्षा की थी इसलिए इन लोगों ने इन्हीं पेड़-पौधे और जीव-जन्तुओं को अपना रक्षक और उसे अपना 'गोतर' मानने लगे। इसी गोतर शब्द से 'गोत्र' की उत्पत्ति हुई। इसी दौरान कुछ और भी घटनाएँ घटी। जियाउद्दीन अहमद ने 'बिहार के आदिवासी' में लिखा है कि "एक बार एक उराँव किसी कुजूर के पौधे की छाया में लेटा हुआ था। एक डाल वहाँ पर गिरी। लेकिन उस व्यक्ति को किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ। इसलिए उस आदमी ने 'कुजूर' के पौधे को अपना टोटम मान लिया और उसकी संतान कुजूर वंशी कहलायी।"[28]

उसी तरह कच्छप गोत्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जियाउद्दीन अहमद लिखते हैं - "एक बार एक उराँव कछुआ पकड़ने लगा। कछुए ने कहा मैं तुम्हारी जाति का हूँ। तब उस उराँव ने कछुए को छोड़ दिया उसी के बाद से उसके वंशज कछुआवंशी कहलाये।"[29]

इस प्रकार उराँव जातियों के अन्य गोत्रों का निर्माण हुआ। कुछ खनिज पदार्थ या वस्तु भी उराँव जाति के गोत्र हैं। इसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि (पिछली लोक कथा) भगवान आवश्यक वस्तुओं को अपने साथ लाये थे। जैसे- नमक, हल इत्यादि। नमक के बिना मनुष्य का भोजन करना मुश्किल है। 'पन्ना' का अर्थ कुड़ुख भाषा में लोहा होता है। भगवान ने उन बच्चों को जो आवश्यक वस्तुएँ और समान दी थी उसमें लोहा भी था, जिससे कृषि कार्य किया जा सके। उराँव के गोत्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अगस्टिन महेश कुजूर ने अपने लेख उराँव 'जाति के गोत्र' में लिखा है कि - "हमारे पूर्वज जब बढ़ते गये तो कबीलों में बँटकर अलग-अलग दिशाओं में फैलते चले गये। उन्होंने अपने खास कबीलों को पहचानने के लिए वस्तु अथवा जीवों के नाम के आधार पर गोत्र निश्चित कर दिये। इसके बाद उनके वंशज उसी गोत्र को अपने नाम के साथ जोड़ते चले गये।"[30]

उराँव जाति के बीच मुख्यतः निम्नलिखित गोत्र पाये जाते हैं :-

गोत्र	**प्रतीक चिह्न**
एक्का, कच्छप	कछुआ
किस्सपोट्टा	सूअर की अंतड़ी
केरकेट्टा	एक प्रकार की चिड़िया
लकड़ा	बाघ
खेस्स	धान
ख़ाख़ा	कौवा
ख़लख़ो/ लिन्डा	एक प्रकार की मछली
मिंज/ बिन्हा	एक प्रकार की मछली
गिधि	गिद्ध
टोप्पो	एक प्रकार का पक्षी
तिर्की	एक प्रकार का चूहा
पन्ना	लोहा
बाण्डो	जंगली बिल्ली
बेक	नमक
बाखला	एक प्रकार का घास
तिग्गा/ गाड़ी	बन्दर
बाड़ा	बट का वृक्ष
कोया	जंगली कुत्ता
कुजूर	कुजूर का पौधा
किन्डो	मछली

इस तरह पशु पक्षी, पेड़-पौधे एवं वस्तुओं को उराँव जाति अपना गोतर मानते हैं। वह टोटेम उनका पूर्व-पूर्वज होता है । इसलिए एक ही पूर्वज से उत्पन्न होने वाले सभी व्यक्ति एक ही कुल के कहलाते हैं। चाहे कितनी भी पीढ़ी गुजर जाये लेकिन एक ही पूर्वज की संतान आपस में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते हैं। क्योंकि उनमें रक्त सम्बन्ध माना जाता है । उराँव जातियों में गोत्र की उत्पत्ति कथा के बारे में चर्चा की जा चुकी है । प्रारम्भिक काल में मनुष्य जंगल पहाड़ एवं गुफाओं में रहते थे तभी गोत्र का निर्माण हुआ। क्योंकि जब मनुष्य का प्रकृति से सीधा सम्बन्ध था उन्हें प्रत्येक रूप से प्रकृति के विपत्तियों का सामना करना पड़ता था। इस स्थिति में जिसने उसकी सहायता की, चाहे वह किसी भी रूप में हो । उन्होंने उसी का एहसान माना और उनके प्रति कृतज्ञ हुए। उसे अपना गोतर मान कर फिर हानि नहीं पहुँचाने की ठान ली और उसे याद करने के लिए स्वयं के नाम के साथ जोड़ लिया।

टोटेम या गोत्र की उत्पत्ति का सिद्धांत

टोटेम या गोत्र की उत्पत्ति के सिद्धांत की व्याख्या कई विद्वानों ने की है। आदिवासियों ने किस प्रकार एवं किन आधारों पर पशु-पौधे के नाम गोत्र के लिए चुना, यह विद्वानों के लिये विवादास्पद प्रश्न है । इसे अच्छी तरह समझने के लिए विद्वानों ने तीन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है ।

1. नामवादी सिद्धान्त

विद्वान फ्रायड (Freud) के नामवादी सिद्धांत की व्याख्या आदिम धर्म एक परिचय में ख्रिस्टोफर अगस्तुस विकसल तिर्की द्वारा दिया गया है जो इस प्रकार है । इस सिद्धांत का प्रतिपादन सबसे पहले हर्बट स्पेन्सर द्वारा किया गया था। इनके अनुसार टोटेम की उत्पत्ति गोत्रों के नाम देने पर आधारित है । मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक कन्ट्रीव्युसंस टू दी साइंस ऑफ माइथोलॉजी में टोटेम का अर्थ इस प्रकार लिखा। "टोटेम गोत्र का एक चिह्न है, गोत्र का नाम है, गोत्र के पूर्वज का नाम है, इस वस्तु का नाम है, जिसका गोत्र आदर करता है । अतः हम कह सकते हैं कि मैक्समूलर भी नामवाद सिद्धांत के समर्थक हैं।

एन्ड्रीयूलैंग (Andrewlang) ने भी इसका प्रतिपादन करते हुए कहा कि किसी समय लोगों में अपनी उत्पत्ति को जानने की भावना जागी होगी । उत्पत्ति कहाँ से हुई यह किसी को याद नहीं है । इस प्रकार की परिस्थिति में उन्होंने अपने

पूर्वजों के नाम याद करने शुरू किये और इनमें वे सभी क्रियाएँ सम्मिलित हैं जो वे टोटेम से सम्बन्धित है ।"[31]

2. समाजशास्त्रीय सिद्धान्त

इस सिद्धांत के अनुसार टोटेम इन जातियों की सामाजिक उत्पत्ति का चिह्न है । यह समुदाय के सदस्यों को एक सूत्र में बाँधता है । हेडन के विचार के अनुसार - "प्रारम्भ में प्रत्येक आदिवासी अपना गोत्र किसी विशेष पौधे अथवा पशु को मानकर अपना जीवन-यापन करते थे । इस अवस्था में यह संभव है कि उनका किसी दूसरे गोत्र अथवा लोगों से सम्पर्क हुआ एवं उन्होंने अपनी वस्तुओं का आदान-प्रदान करना आरम्भ किया । अत: संभव है कि इस पौधे अथवा पशु के नाम पर एक दूसरे का आदर करने लगे हों क्योंकि यह पौधा अथवा पशु उनकी प्राथमिक आवश्यकता अर्थात भूख की पूर्ति करता है ।"[31A] इस सम्बन्ध में जेम्स फ्रेजर का कथन है कि "गोत्र के मृत पुरुषों की आत्मा बाहर किसी पशु अथवा पेड़ में रहती है । अरूटान्स की टोटेमिक संस्था में गोत्र के सदस्यों का असीम विश्वास है । इनमें एक अनोखा सिद्धान्त प्रचलित है कि मरे हुए पुरुष की आत्मा पुनर्जनम की राह देखती है तथा कुछ निश्चित स्थानों पेड़ अथवा पशु में वह आत्मा निवास करती है । इस स्थान से जो स्त्री निकलती है, उसमें घुस जाती है तथा उसके गर्भ ठहर जाता है । अत: ऐसा विश्वास कर वे उसे अपना पूर्वज मानकर आदर करते हैं ।"[32]

इसी पुस्तक में पुन: लेखक महोदय ने हॉपकिन्स के द्वारा दी गई टोटेम की उत्पत्ति का उपयोगितावादी दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया है कि "प्राचीन आदिम जातियाँ अपने पशुओं को माता-पिता मानते थे । भारत की टोडा जाति के टोटेम से इसका आध्यात्मिक स्पष्टीकरण मिलता है । टोडा जाति का टोटेम भैंस है क्योंकि वह उन्हें भोजन देती है । इसी प्रकार हिन्दुओं में गाय- को अधिक आदर दिया जाता है । उसे 'गो-माता' कहा जाता है । आस्ट्रेलियन वन्य जातियों में टोटेम कोई खाद्य पदार्थ नहीं है । अफ्रीका में बान्टू तथा बेगण्डा जातियाँ टोटम को एक पवित्र वस्तु मानती है । इसकी पूजा की जाती है तथा उसे मारना तथा खाना वर्जित है । हॉपकिन्स के अनुसार यह टोटेम के बाद का स्वरूप है । टोटेम अपने वास्तविक एवं मौलिक रूप में उपयोग की वस्तु है उसका पूजना तथा नहीं खाना यह परिवर्तन परवर्ती-कालीन है ।"[33]

यहाँ आदिवासियों के टोटेम (गोतर) की उत्पत्ति के सिद्धांत को विद्वानों ने तीन खंडों में विभक्त किया है। जिसमें मानावादी सिद्धांत को उराँव जनजातियों के लिए पूर्ण रूप से उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है। जैसे - यह समुदाय के सदस्यों को एक सूत्र में बाँधता है प्रेम बढ़ाता है। एक दूसरे के साथ अपनी वस्तुओं का आदान-प्रदान करते एवं एक दूसरे का आदर करते हुए गोत्र की उत्पत्ति हुई, यह भी सही माना जा सकता है। लेकिन विद्वान जेम्स फ्रेजर के कथनानुसार किसी गोत्र के भूत पुरुषों की आत्मा बाहर किसी पशु अथवा पेड़ में रहती है। भारत की या विश्व की अन्य जनजातियों में ऐसा हो सकता है लेकिन उराँव जाति में ऐसा विश्वास बिल्कुल नहीं है। उराँव जाति पुनर्जन्म को मानती है। मृत व्यक्ति की आत्मा हमेशा इसके साथ ही इनके घरों में रहते हैं और हमेशा इनका मार्ग दर्शन करते हैं। इस संस्कार को एक विशेष विधि द्वारा सम्पन्न किया जाता है। किसी पेड़ या पशु में आत्मा का घुसना या निवास वाली बात को उराँव जाति के लिए उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है।

हॉपकिन्स द्वारा उत्पत्ति की उपयोगीतावादी सिद्धांत उचित प्रतीत होता है। क्योंकि उराँव आदिवासी पेड़-पौधे एवं पशु की उपयोगिता को मानते हैं। यही कारण है कि इन वस्तुओं को गोत्र माना गया एवं ये वस्तुएँ इनके धर्म से जुड़ गयी। आज भी यह उनके लिए पूजनीय है। इनके मुख्य पर्व इन्हीं पेड़-पौधे एवं पशु-पक्षी पर आधारित है। इस उपयोगिता वादी सिद्धांत को उपयुक्त माना जा सकता है। जिस तरह टोडा जनजाति भैंस को मानते हैं, हिन्दू गाय को मानते हैं।

गोत्र के प्रकार

गोत्र दो प्रकार के होते हैं :-

(1) मातृवंशीय गोत्र (Matrilineal clan) इसके अन्तर्गत माता की ओर से वंश का निर्माण होता है। इसमें एक स्त्री पूर्वज की जितनी भी संताने होंगी, सभी इस गोत्र की सदस्या मानी जायेंगी। एक परिवार वंश में जितनी भी बहनें होंगी सभी की सन्तानें एक गोत्र या टोटेम में शामिल होंगी। यह व्यवस्था भारत के कुछ सीमित आदिवासी जैसे - उत्तर पूर्वी भारत के खासी, दक्षिण के नायर और टोडा जनजाति में पायी जाती है।

(2) पितृवंशीय (Patrilineal clan) इसके अन्तर्गत एक पुरुष उसके भाई एवं सभी की सन्तानें एक गोत्र में सम्मिलित होंगे। बहनों की सन्तानें ऐसे गोत्र में शामिल नहीं की जाती है।

उराँव जाति पितृवंशीय है । अत: इस समाज में सिर्फ पुरुष के पक्ष को ही एक गोत्र में शामिल किया जाता है । वे एक ही गोत्र के होते हैं । उस पुरुष का वंश जहाँ से भी शुरू होता हो, किसी भी परिस्थिति में उनके बीच विवाह सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता है । क्योंकि वे एक ही कुल के होते हैं, उनके बीच खून का रिश्ता होता है । वे भाई-बहन होते हैं । इसलिए दोनों में विवाह बिल्कुल वर्जित है ।

गोत्र की निम्नलिखित विशेषताएं एवं कार्य होते हैं :-

गोत्र की विशेषताएं :-

(1) बहिर्विवाही - गोत्र की पहली विशेषता है कि यह बहिर्विवाही होता है । क्योंकि एक गोत्र के सदस्यों की उत्पत्ति एक ही पूर्वज से हुई मानी जाती है । अत: वे भाई-बहन माने जाते हैं । भाई-बहन में विवाह प्रत्येक समाज में वर्जित है ।

(2) एक गोत्र चिह्न (Clan-Totem) - एक गोत्र के सदस्यों का, एक ही प्रतीक चिह्न होता है जो टोटेम कहलाता है । यह टोटेम वृक्ष, पशु, पक्षी, मेरू कुछ भी हो सकता है । इस पर आदिवासियों का पूर्ण विश्वास, आस्था है । इसलिए इसका उल्लंघन नहीं किया जाता है ।

(3) एक पक्षीय प्रकृति (Unilateral Nature) - गोत्र या तो मातृ वंशीय या पितृवंशीय होता है यह कभी भी उभयपक्षीय या दोनों पक्ष को लेकर नहीं चलता है ।

(4) जन्मजात सदस्यता (Membership by Birth) - गोत्र की सदस्यता जन्मजात मिलती है, एवं मृत्युपर्यन्त रहती है । मरने के बाद भी वह उसी गोत्र से जाना जाता है । यह मृत्यु पश्चात भी नहीं बदला जा सकता है ।

(5) सामान्य निवास स्थान (A Common Residence) सामान्य निवास स्थान को लेकर विद्वानों में एक विचार नहीं है क्योंकि कहीं-कहीं यह पूर्ण रूप से लागू नहीं होता । आस्ट्रेलिया के आदिवासी-समुदाय इधर-उधर घूमते हैं । इसी तरह हिन्दुओं में भी गोत्र के सदस्य एक स्थान पर नहीं रहते ।

(6) रक्त-सम्बन्ध (Consanguineal kinship) - रक्त सम्बन्ध गोत्र की एक प्रमुख विशेषता है । गोत्र के सदस्यों के बीच एक दूसरे के प्रति प्रेम एवं अपनापन का भाव अधिक होता है एवं सुरक्षा की भावना होती है ।

(7) पवित्र वस्तु - टोटेम वस्तु की या प्रतीक चिह्न को ईश्वर का स्थान प्राप्त नहीं है फिर भी उसे पवित्र माना जाता है और उसके प्रति धर्म, शक्ति जैसी भावना व्यक्त की जाती है ।

स्वच्छ नैतिक वातावरण का निर्माण होता है । सामाजिक पूजा-पाठ, सम्पत्ति का हस्तान्तरण इत्यादि गोत्र के आधार पर ही होते हैं । मृत्यु संस्कार में अलग-अलग गोत्रों के लिए अलग-अलग पत्थलगड़ी होता है । इसका पालन किया जाता है कि दूसरे गोत्र का अस्थि दूसरे पत्थर में न चला जाय । सभी अपने-अपने गोत्र के इस स्थान को पहचानते हैं और साल में एक बार इस कार्य को विशेष विधि-विधान द्वारा सम्पन्न किया जाता है । इस तरह सामाजिक रूप से गोत्र उराँव जाति के जीवन का आधार स्तंभ है । यह अपने सदस्यों को एक सूत्र में पिरोता है ।

सभी जातियों में गोत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है । किसी जाति में गोत्र का महत्त्व अधिक है तो किसी में कम । सभी जातियों में गोत्र के मानने उनकी उत्पत्ति कार्य एवं विशेषताओं में थोड़ी भिन्नता पायी जाती है । जैसे - हिन्दुओं में गोत्र सिर्फ सात पीढ़ी तक गिनी जाती है । उनके गोत्र की उत्पत्ति ऋषियों के नाम पर हुई एवं वैदिक काल में सगोत्रीय विवाह निषिद्ध नहीं माना जाता था । हिन्दुओं में गोत्र परम्परा किसी भी ओर अनंतता तक नहीं जाती अर्थात् न तो मातृपक्ष की ओर न तो पितृपक्ष की ओर । लेकिन उराँव, संथाल, हो, मुण्डा आदि जातियों में ऐसा नहीं है । इनके गोत्र की उत्पत्ति पेड़-पौधे, जीव-जन्तु एवं खनिज पदार्थों के नाम पर हुए हैं । इनके गोत्र का प्रत्येक चिह्न टोटेम कहलाता है, जिसे किसी भी प्रकार से अनादर या हानि पहुँचाना पूर्ण रूप से निषिद्ध है ।

इनके बीच गोत्र के बाहर विवाह किया जाता है एवं इनमें वंश परम्परा पिता की ओर से अनंतता तक जाती है । भले ही इनकी प्रत्येक पीढ़ी की गिनती नहीं की जा सकती है और अन्त में उनके पूर्व पूर्वज पर स्थिर होती है ।

गोत्र और जाति में अन्तर पाया जाता है । जैसे -

(1) गोत्र, संगठन का वास्तविक एवं वृहत् समूह है ।

(2) जाति अन्तर्विवाही समूह है । गोत्र बहिर्विवाही समूह है । एक जाति का सदस्य अपने जाति के अन्दर विवाह करता है । लेकिन गोत्र का सदस्य गोत्र के बीच विवाह नहीं कर सकता है ।

(3) उराँव, मुण्डा, हो, संताल आदि जातियों में गोत्र एवं दोनों के सदस्यों की अवस्था समान होती है । इनमें ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं है ।

इसी तरह गोत्र और जनजाति में भी अन्तर पाया जाता है ।

(1) जनजाति एक सामान्य भू-भाग पर रहता है जबकि गोत्र सामान्य भू-भाग पर नहीं रहता है । (वर्तमान में दोनों के साथ विपरीत परिस्थितियाँ भी पायी जाती है ।)

(2) गोत्र की सामान्य भाषा नहीं है लेकिन जनजातियों की सामान्य भाषा है ।
(3) गोत्र बहिर्विवाही समूह है तो जनजाति अन्तर्विवाही समूह है ।

परिवार

गोत्र के बाद परिवार का निर्माण होता है । समाज में परिवार एक महत्त्वपूर्ण समिति है । यह मानव - समाज की आधारशिला है । समाज की विद्यमानता और निरन्तरता के लिए परिवार का होना अत्यावश्यक है । परिवार के बिना समाज की कल्पना करना असम्भव है । परिवार एक सार्वभौमिक संस्था है जो प्रत्येक समाज में आदिम काल से लेकर अब तक पाया जाता है । मनुष्य जब जंगल, पहाड़, गुफा में रहता था, अपना जीवन पशुओं की भाँति व्यतीत करता था, तब भी उसके जीवन में परिवार का महत्त्व था। परिवार के महत्त्व को देखते हुए श्रीमती बोसाके ने लिखा है – 'मनुष्य के लिए परिवार प्राकृतिक है ।'

परिवार समाज की वह महत्त्वपूर्ण इकाई है जो स्वयं में पूर्ण और जिससे प्रत्येक व्यक्ति को एक निश्चित एवं सीमित संगठन प्रदान करती है । समाज परिवार रूपी नींव पर खड़ा है । यदि समाज से परिवार रूपी आधार को हटा दिया जाय तो समाज धाराशायी हो जायेगा । वस्तुत: हमारे जन्म से मृत्यु तक का इतिहास परिवार में सिमटा रहता है । मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् परिवार नयी सन्तानों से उस रिक्त स्थान को भर देता है । परिवार जिसमें कुछ मनुष्य मिलकर रहते हैं। मुख्यत: परिवार में पति-पत्नी और उनके बच्चे का होना अनिवार्य है। कुछ परिवारों में दादा-दादी, चाचा-चाची, चचेरे भाई-बहन आदि को भी सम्मिलित किया जा सकता है । परिवार का स्वरूप चाहे जैसा भी हो यह निश्चित रूप से एक विश्वमान्य सामाजिक संस्था है जिसके अन्तर्गत विशेष रूप से स्त्री-पुरुष का सामाजिक मान्यता प्राप्त यौन सम्बन्ध स्थापित रहता है, साथ ही अन्य प्रेम सम्बन्धों और सन्तति सम्बन्ध भी शामिल रहता है ।

अंग्रेजी शब्द 'Family' का उद्‌गम लैटिन शब्द 'Famulus' से हुआ है जिसका अर्थ एक ऐसे समूह के लिए हुआ है जिसमें माता-पिता, बच्चे, नौकर और दास (slaves) हो । सामान्यत: परिवार की संज्ञा एक विवाहित जोड़े को दी जाती है । परन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से परिवार में बच्चे का होना अनिवार्य हैं। बच्चे के बिना उसे परिवार न कहकर गृहस्थ कहेंगे । प्रत्येक परिवार एक गृहस्थ है । परन्तु सभी गृहस्थ परिवार नहीं है । परिवार को और अधिक स्पष्ट रूप से

समझने के लिए विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषा का विवेचन करना समुचित प्रतीत होता है । परिवार की परिभाषा देते हुए सामाजिक मानवशास्त्र नामक पुस्तक में माखन व उग्रनाथ झा ने सर्वश्री ऑगबर्न एवं नीमकॉफ (ogburn and Nimkoff) के विचार को स्पष्ट किया है कि "बच्चों सहित अथवा बच्चों रहित एक पति या पत्नी के या किसी एक पुरुष या एक स्त्री के अकेले ही बच्चे सहित थोड़े बहुत स्थायी संघ को परिवार कहते हैं ।"[34]

The family is more or less a durable association of husband and wife with or without children or of a man or woman above with children."

आगे इसी पुस्तक में लेखक वृन्द ने मेकाइवर तथा पेज (Maciver and Page) के विचारों को लिखा है – "परिवार पर्याप्त निश्चित यौन सम्बन्धों द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है, जो बच्चों के जन्म और लालन-पालन की व्यवस्था करता है ।"[35]

"The family is a group defined by a sex relationship sufficiently precise and enduring to provide for the procreation and up bringing of children."

बील्स तथा हाइजर 'An Introduction to Anthropology' (1956). में लिखते हैं – "संक्षेप में परिवार को सामाजिक समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है । जिसके सदस्य रक्त सम्बन्धों द्वारा बंधे होते हैं ।"[36]

'The family can briefly be defined as a social grouping the members of which are united by bonds of kinship'

'The social life of monkeys and Apes' में लिखा है कि – "एक परिवार, समूह, पुरुष, स्वामी, उसकी स्त्री तथा स्त्रियाँ और उनके बच्चों को मिलाकर बनता है और कभी-कभी इनमें एक या अधिक अविवाहित पुरुषों को भी सम्मिलित किया जा सकता है ।"[37]

A family group consists of male and his family or families together with their young and may sometimes include one or more bachelors or unonated males."

इसी तरह डॉ० मजूमदार के अनुसार "परिवार व्यक्तियों का समूह है जो एक ही छत के नीचे रहते हैं, मूल और रक्त सम्बन्धी सूत्रों से सम्बन्ध होते हैं तथा स्थान रुचि एवं कृतज्ञता की अन्योन्याश्रित के आधार पर जाति की जागरूकता होती है ।"[38]

Family is a group or persons who live under the same roof and are connected by nuclear and kindship ties and own a consciousness of kind on the basis of locality interest and mutually of obligations." Race and cultures of India.

उराँव समाज में भी परिवार का महत्त्वपूर्ण स्थान है । उराँव लोगों के सामाजिक जीवन के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनका सामाजिक संगठन पूर्ण रूप से लोकतंत्रात्मक संगठन का प्रतीक है ।

उराँव जनजाति का परिवार संयुक्त तथा एकल दोनों तरह का होता है । उराँव जाति का आर्थिक आधार कृषि होने के कारण इनकी मुख्य सम्पत्ति भूमि होती है । उराँव समाज व्यवस्था के अनुसार भूमि का विभाजन उचित नहीं होता है । इसलिए इनका परिवार अधिकांशतः संयुक्त ही रहता है । आदिवासी समाज में भूमि समुदाय की सम्पत्ति होती है । उराँव मान्यता के अनुसार भूमि 'धर्मेस' की देन है । इसलिए यह निजी स्वामित्व के बाहर है । उराँव सिर्फ पीढ़ी दर पीढ़ी इसका उपयोग करते हैं, खरीद फरोख्त नहीं । साधारणतया बड़े-बुजुर्ग ही परिवार के मुखिया होते हैं जो पूरे परिवार पर नियंत्रण रखते हैं एवं परिवार में एकता बनाये रखते हैं ।

परिवार का मुखिया अपनी अनुपस्थिति या किसी कारणवश परिवार की बागडोर नहीं संभाल पाता है तो वह घर के अन्य बुजुर्गों को यह जिम्मेदारी सौंप देता है ।

परिवार के मुखिया एवं अन्य बुजुर्गों का परिवार में विशेष आदर होता है । यही कारण है कि विवाह के समय कन्या पक्ष के लिए वर पक्ष से विशेष (अजा-अजी लेदरा) कपड़ा दिया जाता है । यदि वे जिंदा हैं । यहाँ विशेष कपड़ा देने का अर्थ उन बुजुर्गों के प्रति विशेष सम्मान प्रकट करना होता है ।

उराँव समाज में दोनों तरह के परिवार पाये जाते हैं । एकल परिवार के सम्बन्ध में नर्मदेश्वर प्रसाद ने अपनी पुस्तक 'भारतीय समाज में जनजातिगण' में लिखा है कि- "उराँव परिवार साधारणतः यह प्रारम्भिक श्रेणी में आता है जिसकी परिधि में माता-पिता तथा अविवाहित बच्चे आते हैं ।"[39]

विवाहित संतान अपना परिवार स्वयं अलग बनाते हैं या संयुक्त परिवार में ही रहते हैं । उराँव परिवार पिता की ओर से चलता है । सम्पत्ति का अधिकार सिर्फ पुरुष को ही होता है । घर की स्त्री तथा पुत्रियों का भरण-पोषण उसी जायदाद से होता है लेकिन सम्पत्ति में विवाहित पुत्री का अधिकार नहीं होता है । उराँव समाज के प्रत्येक परिवार में कार्य का विभाजन होता है । कुछ कार्य सिर्फ पुरुषों

के लिए ही होता है । स्त्री-पुरुष समानता के बावजूद महिलाएँ इन कार्यों को नहीं कर सकती है क्योंकि यह उनके सामाजिक विश्वास से जुड़ा है । और कोई भी व्यक्ति अपने परिवारिक सम्बन्धों से अलग सोच नहीं सकता ।

इस तरह उपरोक्त परिभाषाओं के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि पति-पत्नी एवं बच्चे या अविवाहित पुरुष ही एक परिवार के अन्तर्गत आते हैं।

वस्तुतः इससे परिवार का आकार बहुत सीमित हो जाता है । भारतीय समाज में परिवार का अर्थ दो तरह से लिया जाता है । संयुक्त परिवार एवं एकल परिवार । ऊपरलिखित परिभाषाओं के निष्कर्ष से सिर्फ एकल परिवार का पता चलता है। इन परिभाषाओं में संयुक्त परिवार की उपेक्षा की गई है । लेकिन भारतीय परिवार में दोनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है । डॉ० डी० एन० मजूमदार द्वारा दी गयी परिभाषा संयुक्त परिवार को सम्मिलित करता है । उराँव समाज में भी दोनों प्रकार के परिवार पाये जाते हैं । जिसमें एक परिवार के व्यक्ति, एक छत या एक घर में निवास करते हैं । सभी का भोजन एक स्थान पर बनता है, सभी मूल रूप से रक्त सम्बन्धी होते हैं । इसमें कहीं-कहीं दूर के रक्त सम्बन्धी या मातृ-पक्ष के लोग भी साथ रहते हैं । लेकिन ऐसा कम ही पाया जाता है । एक परिवार के प्रत्येक व्यक्ति स्थान, रुचि, कृतज्ञता, इज्जत, प्यार, स्नेह एवं दुःख-सुख के प्रति अन्योन्याश्रित रहते हैं ।

1. **परिवार की उत्पत्ति** – परिवार की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद पाया जाता है । विभिन्न विद्वानों ने परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है–

1 शास्त्रीय एवं संस्थापक
2 यौन साम्यवाद का सिद्धान्त
3 उद्विकासीय अथवा विकासवादी सिद्धान्त
4 मातृसत्तात्मक सिद्धान्त एवं
5 एक विवाह का सिद्धान्त

1. शास्त्रीय अथवा संस्थापक सिद्धान्त – सबसे पहले महान यूनानी विद्वान् अरस्तु तथा प्लेटो ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त सबसे पुराना है । इनके अनुसार परिवार का आरम्भिक स्वरूप पितृसत्तात्मक था। स्त्रियों पर पुरुषों का पूर्ण अधिकार था ।

2. यौन साम्यवाद का सिद्धान्त - कुछ विद्वानों का विचार है कि मानव-समाज में प्रारम्भिक स्तर पर न तो विवाह का अस्तित्त्व था और न परिवार का। उस समय जानवरों की तरह अनियमित यौन स्वतंत्रता थी अर्थात् कोई भी पुरुष किसी भी स्त्री से यौन सम्बन्ध स्थापित कर सकता था। इस पर किसी प्रकार का कोई नियंत्रण नहीं था। दोनों पक्ष अपनी इच्छानुसार यौन सम्बन्ध स्थापित करते थे। विद्वानों का मत है कि परिवार नामक संस्था का उदय तो सामाजिक विकास के कुछ रीति-रिवाजों के अध्ययन को प्रस्तुत करता है। रवि तोमर व सुमनेश कुमार ने अपनी पुस्तक 'मानवशास्त्र' में लिखा है कि "'उत्सवों' पर लिंग सम्बन्धी स्वच्छन्दता, स्त्रियों का आदान-प्रदान और अतिथि सत्कार हेतु, पत्नी को अतिथि के लिए भेंट किया जाता था।"[40]

3. विकास वादी सिद्धान्त के प्रवर्तक - मार्गन (Morgon) के अनुसार परिवार एक निश्चित ढंग से बढ़ा है। परिवार का निर्माण हुआ एवं विभिन्न अवस्थाओं में से होकर विकसित हुआ है। प्रथम अवस्था में रक्त सम्बन्धियों में विवाह करने पर रोक लगाया गया।

4. मातृ सत्तात्मक परिवार - मातृ सत्तात्मक परिवार के विषय में विद्वान बेकोटेन (Bechoten) तथा बिफ्राल्ट (Brifault) का विचार है कि समाज में सर्वप्रथम मातृ सत्तात्मक परिवारों का उदय हुआ जिसके कई कारण है। (a) प्रारम्भिक काल में विवाह-रूपी संस्था नहीं होने के कारण यौन सम्बन्ध निर्बाध रूप से होती थी। ऐसी परिस्थिति में बच्चे के पिता की जानकारी पाना कठिन होता था। बच्चे का सम्बन्ध सदैव माता से ही होता था। इस प्रकार परिवार में माता की प्रमुखता थी और पिता का स्थान गौण था। (b) घर को व्यवस्थित रखने की सम्पूर्ण जिम्मेवारी स्त्रियों की होती थी। प्रारम्भिक काल में जीवन-यापन का साधन शिकार होने के कारण पुरुष शिकार तथा भोजन के तलाश में घर से बाहर रहता था। घर एवं बच्चों की देखभाल स्त्रियाँ करती थी। यही कारण है कि स्त्रियों की स्थिति ऊँची थी। (c) स्त्रियों के स्वाभाविक कोमल स्वभाव, वात्सल्य भाव ने पुरुष पर विजय प्राप्त कर इसे अपने प्रेम-बन्धन में बांधकर परिवार की उत्पत्ति की है। स्त्री के इसी महत्त्व के कारण कई आदिम जातियों में मातृ सत्तात्मक परिवार पाये जाते हैं। परन्तु कृषि के विकास के कारण पुरुष का महत्त्व बढ़ा और पितृ सत्तात्मक परिवार का निर्माण हुआ। टाइलर ने भी इस बात का समर्थन किया है।

5. एक विवाह का सिद्धान्त - प्रारम्भ में परिवार का स्वरूप एक विवाह का था। वेस्टरमार्क ने डार्विन सिद्धान्त का समर्थन किया है । परिवार का जन्म पुरुष का स्त्री पर एकाधिकार और ईर्ष्या की भावना को लेकर हुआ है । शक्ति बल पर यह सफल भी हुआ। आगे चलकर बल के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रही और पुरुष का यह अधिकार एक दूसरे के हित में समाज द्वारा मान्य हो गया। धीर-धीरे यही विवाह की रीति बन गयी ।

सिद्धान्तों की आलोचना

कुछ विद्वानों ने इन सिद्धातों की आलोचना करते हुए कहा है कि घर, बच्चे एवं कृषि के अतिरिक्त अन्य कार्य स्त्रियों द्वारा करने के बावजूद परिवार का स्वरूप एवं अधिकार पितृ सत्तात्मक की है ।

पहली अवस्था - आदिम समाजों में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होती थी । ऐसी स्थिति में पुरुष कभी नहीं चाहेगा कि उसपर स्त्री प्रभुतापूर्ण व्यवहार करें ।

इसके अतिरिक्त प्रारम्भिक स्तर पर ही मनुष्य द्वारा घर बसाने वाली बात असम्भव लगती है । मानवशास्त्रीय दृष्टि से मातृ सत्तात्मक परिवार का विशेष महत्त्व है ।

दूसरी अवस्था - दूसरी अवस्था समूह परिवार की है जिसमें एक परिवार के लड़कों का विवाह दूसरे परिवार की लड़कियों के साथ समूह में होता था। परन्तु यौन सम्बन्ध निश्चित नहीं था।

तीसरी अवस्था - सिन्डोस्मियन परिवार की है । इस परिवार के अनुसार एक पुरुष किसी एक ही स्त्री से विवाह करता था। किन्तु यौन सम्बन्ध वह अन्य स्त्रियों से भी करता था।

चौथी अवस्था - पितृ सत्तात्मक परिवार की है । इसमें पुरुषों का एकाधिपत्य था। इसमें पुरुष एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करता था।

पांचवी अवस्था - इस में पुरुष एक ही स्त्री से विवाह करता है ।

उराँव परिवार की उत्पत्ति - विद्वानों द्वारा दिये गये परिवार की उत्पत्ति के सिद्धान्त से कुछ भिन्न है । प्रारम्भिक काल से लेकर अब तक मानव के सम्पूर्ण जीवन में परिवर्तन आया है । यह परिवर्तन कई कालों में हुआ है । जिसे विकास के नाम से जाना जाता है ।

उराँव जाति में भी परिवर्तन इसी तरह से हुआ है । लेकिन इनके बीच परिवार-निर्माण एवं परिवार के स्वरूप में परिवर्तन भी बहुत धीमी गति से हुआ है । हाल के कुछ वर्षों में आधुनिकीकरण का प्रभाव अधिक बढ़ रहा है एवं उराँव जाति की परिवारिक संरचना में तेजी से परिवर्तन हुआ लेकिन यह सिर्फ शिक्षित एवं नौकरी पेशा शहरी लोगों तक ही सीमित रहा । गाँव में रहने वाले उराँव परिवार जिनका आर्थिक आधार कृषि है, ऐसे परिवारों में अब भी संयुक्त परिवार ही पाया जाता है । सामान्यत: आदिवासी अपनी परम्परा को आसानी से छोड़ना नहीं चाहते हैं । यह उनकी जातीय विशेषता है । उराँव भी उनसे अलग नहीं हैं । उराँव जाति के परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जानने के लिए उनकी उत्पत्ति कथा के अलावा उनके आरम्भिक जीवन को जानना आवश्यक है । आरम्भिक काल में इन लोगों ने जंगली जानवर एवं अन्य दुश्मनों से बचने के लिए समूह में ही रहना पसन्द किया । इस समूह को आज भी सभ्य कहे जाने वाले लोगों द्वारा कबीला के नाम से जाना जाता है । इनके भोजन की आवश्यकता शिकार द्वारा पूरी होती थी, जो अकेला रह कर सम्भव न था । इसलिए ये लोग समूह में रहा करते थे । सामूहिक शिकार खेलना, बांटकर खाना, इनका परम्परागत नियम था । समूह के लोगों में किसी प्रकार की विपत्ति आने पर समूह के ही ताकतवर व्यक्ति या समूह के ही अन्य व्यक्ति मिलकर उनकी रक्षा करते थे । इस तरह उस ताकतवर व्यक्ति को सरदार मान लिया जाता था जो आज भी इनके बीच किसी न किसी रूप में प्रचलित है ।

उराँव जाति की उत्पत्ति कथानुसार - जैसे-जैसे इनकी संख्या बढ़ती गई इनके बुद्धि का विकास भी कालक्रम के अनुसार होता रहा । बढ़ती हुई संख्या में स्वयं को पहचानने के लिए इन लोगों ने गोत्र का निर्माण किया । शुरू में एक-एक परिवार बना फिर प्रत्येक गोत्र का परिवार बढ़ता गया ।

आखेट के बाद कृषि-काल आया । इसमें भी एक व्यक्ति द्वारा कार्य करना संभव न था । इसलिए इस समय भी इनलोगों ने समूह में ही रहना पसन्द किया । कुछ विद्वानों ने परिवार की उत्पत्ति की सिद्धान्त की चर्चा की है । जो निश्चित ही प्रारम्भिक काल में पूरे मानव समूह के लिए सही हो सकता है । लेकिन आदिवासी समाज की कुछ बातें अन्य समाज से अलग है ।

उराँव जाति में वर्ग समानता एवं स्त्री-पुरुष समानता पायी जाती है जो विद्वानों द्वारा दी गयी कुछ सिद्धान्तों पर प्रश्न चिह्न खड़ा करता है । जैसे- यदि पुरुषों का स्त्री पर एकाधिकार और ईर्ष्या की भावना को लेकर परिवार की उत्पत्ति हुई तो उराँव समाज में स्त्री-पुरुष की समानता आज भी नहीं पाई जाती । उराँव समाज

के विवाह व्यवस्थानुसार पति-पत्नी का विवाह विच्छेद सामाजिक नियम के अनुसार होता है। जिसका पालन आज भी किया जाता है । समाज के लोग अपना जीवन अच्छी तरह व्यतीत करें, इसके लिए समाज ने कुछ नियम बनाये। इसमें कुछ बहुत कठोर एवं कुछ नियमों को लचीला बनाया गया। इसके साथ ही कुछ जैविक विशेषताएँ जैसे- बच्चे पैदा करना, वात्सल्य गुण तथा बच्चों का लालन-पालन इत्यादि एक स्त्री ही कर सकती है । इसका अहसास पुरुष को हुआ और दोनों ने (स्त्री-पुरुष) आपस में समझौता किया एवं परिवार का निर्माण किया। उराँव परिवार की उत्पत्ति कथा भी इसी प्रकार से हुई। उराँव परिवार में स्त्री-पुरुष के बीच कार्य का बंटवारा इसी का परिणाम हैं । ये सभी बातें अचानक एक बार में ही नहीं हुई बल्कि यह व्यवस्था प्रारम्भिक काल में किसी न किसी रूप में अवश्य था तभी तो आज भी इसका प्रचलन है ।

परिवार के प्रकार

मानव समाज ज्यों-ज्यों विकास की ओर अग्रसर हुआ परिवार के अनेक रूप अस्तित्त्व में आये। प्रत्येक स्थान की भौगोलिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार की परिवार व्यवस्था को जन्म दिया। मानव समाज में पाये जाने वाले परिवारों का वर्गीकरण सदस्यों की संख्या, विवाह का स्वरूप, स्त्री-पुरुष की सत्ता, निवास स्थान तथा वंशनाम आदि के आधार पर किया गया।

भारतीय गाँवों में अक्सर संयुक्त परिवार पाया जाता है क्योंकि गाँवों के लोग अधिकतर कृषि पर आश्रित रहते हैं। इनकी सामाजिक परम्परा, धर्म की प्रधानता, कुछ रूढ़िवादिता, कठोर सामाजिक एवं नैतिक अनुशासन इत्यादि ग्रामीण परिवारों की विशेषताएँ है ।

यूँ तो मानव-समाज में कई प्रकार के परिवार पाये जाते हैं। उराँव समाज में भी छिटफुट कई प्रकार के परिवार पाये जाते हैं लेकिन मुख्यतः इस समाज में संख्या के आधार पर वर्गीकृत परिवार पाया जाता है। पुराने जमाने में इस समााज में संयुक्त और विस्तृत परिवार का प्रचलन था। क्योंकि इनका मुख्य पेशा कृषि था और कृषि कार्य के लिए अधिक लोगों की आवश्यकता होती है ।

उराँव जाति का आर्थिक आधार कृषि है । अतः इनका परिवार संयुक्त होता है । जहाँ सभी भाइयों की पत्नियाँ, बच्चे, दादा-दादी, फुआ एवं विधवा या परित्यक्ता बहनें आदि सम्मिलित रूप से रहते हैं। सभी का भोजन एक जगह पर बनता है एवं सभी प्रकार का नियंत्रण एक ही जगह से होता है ।

वर्तमान में उराँव जाति में केन्द्रीय या नाभिक परिवार का प्रचलन बढ़ रहा है। उराँव जाति में पितृस्थानीय परिवार पाया जाता है। इनके बीच मातृस्थानीय परिवार का प्रचलन नहीं है। किसी विशेष परिस्थिति में, जैसे- जिस परिवार में लड़का नहीं होता है ऐसे परिवार में लड़का विवाह के पश्चात् अपनी पत्नी के घर में आकर रहता है। उराँव समाज में कहीं-कहीं नव स्थानीय परिवार का प्रचलन भी पाया जाता है। लेकिन यह भी परिस्थितिवश ही होता है। जैसे- घर में स्थान की कमी या परिवार के सदस्यों का आपस में मेल-मिलाप का न होना। नियम के अनुसार पत्नी को पति के घर में ही रहना पड़ता है। इनके समाज में मामा स्थानीय परिवार का भी प्रचलन नहीं है। इस समाज में विस्थानीय परिवार भी नहीं पाया जाता है। उराँव समाज में उत्तराधिकार के आधार पर परिवार का निर्माण होता है। जैसे- पिता की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति पर पुत्र का अधिकार होता है, क्योंकि पुत्र ही पिता के वंश को आगे बढ़ाता है अर्थात् बच्चे अपने पिता का वंश या कुल या गोत्र को ग्रहण करते हैं।

उराँव समाज में मातृवंशीय परिवार सभयवाही परिवार या यूनानी परिवार नहीं पाया जाता है। उराँव परिवार में विवाह के आधार पर परिवार का निर्माण होता है जिसमें एक विवाह के आधार पर परिवार का निर्माण होता है। जिसमें एक विवाही परिवार का अधिक प्रचलन है। इस समाज में बहुविवाही परिवार, बहुपत्नीक परिवार, बहुपति परिवार और समूहविवाही परिवार नहीं पाया जाता है। उराँव परिवार में संयुक्त परिवार मुख्य रूप से पाया जाता है। लेकिन वर्तमान में इन परिवारों का ह्रास होता जा रहा है और केन्द्रीय (नाभिक) या नागरीय परिवार का फैशन बढ़ता जा रहा है। इसके दूरगामी परिणाम को अच्छा नहीं कहा जा सकता क्योंकि संयुक्त परिवार के समाप्त होने से इनका आर्थिक-स्रोत जहाँ प्रभावित होता है, वहीं पर इनकी धर्म, संस्कृति, राजनीति, भाषा, एवं पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में दरार पड़ने लगता है।

परिवार का अर्थ - परिवार एक सीमित संस्था के रूप में सामाजिक संगठन का प्रमुख अंग है। इसके द्वारा समाज में कई महत्त्वपूर्ण कार्य किये जाते हैं। परिवार के कारण ही मनुष्य दूसरों के प्रति सहानुभूति रखता है, समाज को स्थिरता प्रदान करता है और पारस्पारिक आदान-प्रदान से ओत-प्रोत रहता है। परिवार के कई कार्य हैं। जिसमें भोजन की व्यवस्था, एक दूसरे की मदद करना तथा सन्तानोत्पत्ति प्रमुख है। परिवार के द्वारा ही मनुष्य का समुचित विकास होता है। चाहे शारीरिक हो या मानसिक।

परिवार का यह काम है कि व्यक्ति के मानसिक विकास को वह दिशा दे जिससे समाज में वह शुद्ध सामाजिक दृष्टिकोण को लेकर चल सके । जो परिवार अपने बच्चों को सामाजिक धारणाओं से अवगत नहीं करा पाता उनके बच्चों का भविष्य अन्धकारमय होता है । अतः बच्चों को स्नेह एवं मानसिक सुरक्षा देना परिवार का प्रथम कार्य है । सुरक्षा की भावना मानव जीवन को सफल बनाने के लिए अत्यंत आवश्यक है और परिवार इसे बिना किसी शर्त के प्रदान करता है । राबर्ट फ्रॉस्ट (Robert Frost) ने इस सम्बन्ध में लिखा है- "घर वह स्थान है जहाँ आप जब भी आना चाहें वे आपको आने देगें ।"[41]

परिवार में पारस्पारिक स्नेह भी प्राप्त होता है । इसलिए पारस्पारिक स्नेह को दर्शाते हुए बरगेस और लीक लिखते हैं- "पारस्परिक स्नेह विवाह और परिवार का आवश्यक आधार बनता जा रहा है ।"[42]

समाज में सम्पत्ति के हस्तान्तरण की व्यवस्था परिवार के द्वारा होती है । परिवार में श्रम विभाजन का कार्य सबसे सरल रूप में पाया जाता है, जहाँ पुरुष, स्त्री और बच्चों के गृह कार्य, बाह्य कार्य एवं अन्य कार्य सम्मिलित है । प्रत्येक उराँव परिवार के पास अपने सदस्यों के भरण-पोषण के लिए कोई न कोई अर्थ व्यवस्था अवश्य होती है । इस अर्थ व्यवस्था द्वारा वह आय प्राप्त होती है । परिवार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के लिए व्यवसायिक ज्ञान और कला का विशिष्ट माध्यम होता है । अनेक परिवारों में घरेलू उद्योग-धन्धे भी होते हैं और परिवार के बच्चे माँ-बाप या बड़े-छोटे सभी मिलकर अर्थोपार्जन करते हैं । परिवार में छोटे से छोटा बच्चा भी अपने से छोटे बच्चों को खेलाना या खेतों की रखवाली करना जैसे कार्य करता है ।

इस तरह परिवार व्यक्ति को समाज के अनुरूप बनाता है । जैसे- भाषा, खाने-पीने, रहन-सहन, आदर-सत्कार के तौर तरीके, विवाह सम्बन्धी ज्ञान और जीविकोपार्जन का कार्य इत्यादि है । प्रत्येक परिवार में माता-पिता ने जो सीखा है वह अपने बच्चों को सिखाना आवश्यक समझता है । बच्चे अपने परिवार में ही सभी सामाजिक कार्य सीखते हैं । साथ ही कुछ कार्य समाज के कार्यों में सहभागी बनकर सीखते हैं ।

समाज के रीति-रिवाज, परम्परा, नीति-नैतिकता परिवार द्वारा सदस्यों को सिखाया जाता है । माता-पिता या घर परिवार के बुजुर्ग नई पीढ़ियों को संस्कृति का ज्ञान प्रदान करते हैं । संस्कृति की निरन्तरता, बनाये रखने, उसे स्थायित्व प्रदान करने और प्रभावपूर्ण बनाने में परिवार की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है । इस प्रकार

समाज संस्कृति की रक्षा करता है । उराँव समाज में सांस्कृतिक कार्य परिवार के अलावा समाज में अधिक सीखने को मिलता है क्योंकि अखड़ा, धुमकुड़िया इनका सांस्कृतिक प्रशिक्षण केन्द्र होता है जहाँ सामूहिकता, सहयोगिता, समानता आदि की शिक्षा दी जाती है । ये सभी कार्य सामूहिक कार्यों में अधिक सीखा जा सकता है । परिवार किसी न किसी धर्म का अनुयायी होता है । परिवार से धार्मिक प्रथायें, नैतिकता, व्रत, त्यौहार आदि का ज्ञान प्राप्त होता है । ईश्वर-पूजा, आराधना, पूर्वज-पूजा, पाप-पुण्य, हिंसा-अहिंसा की धारणा सभी को बाल्यावस्था से ही सिखाया जाता है । इससे उसका सम्पूर्ण जीवन प्रभावित होता है । परिवार के साथ-साथ धुमकुड़िया भी धार्मिक प्रशिक्षण देने का कार्य करता है ।

परिवार राजनीतिक कार्य भी करता है । आदिवासी समाज में अपनी परम्परागत राजनीतिक व्यवस्था है जिसे सभी अपने अलग-अलग नामों से जानते हैं । उराँव जनजाति का अपना राजनीतिक संगठन है जिसे वे पड़हा के नाम से जानते हैं । ग्राम इकाई महतो इसका मुख्य व्यक्ति होता है जो गाँव की विधि-व्यवस्था को परम्परानुसार बनाये रखता है ।

उराँव समाज के प्रत्येक परिवार के बुजुर्ग इस पड़हा के सदस्य होते हैं । पड़हा के बारे में जानकारी बच्चों को अपने परिवार से मिलती है । परिवार के बाद एक निश्चित उम्र से बच्चों को धुमकुड़िया में प्रवेश कराया जाता है । अपनी परम्परागत राजनीति का कुछ अंश वे यहाँ रहकर (एक निश्चित उम्र तक) सीखते हैं । इसके बाद वे सभी पड़हा के सदस्य हो जाते हैं ।

इसके अलावा परिवार शिक्षात्मक कार्य भी करता है । बच्चे की प्रथम पाठशाला अपना घर-परिवार ही होता है । जिसमें माता-पिता प्रथम गुरु होते हैं । माता-पिता द्वारा दी गयी शिक्षा जीवन भर आत्मसात् रहती है । प्रत्येक परिवार अपने सदस्यों के लिए मनोरंजन का कार्य भी करते हैं । बच्चों की किलकारियाँ, रोना, हंसना, इनके झगड़े, दाम्पत्य प्रेम आदि सभी कुछ मनोरंजन का ही कार्य करता है । पारिवारिक मनोरंजन के सामने दूसरे साधनों द्वारा प्राप्त मनोरंजन फीका पड़ जाता है ।

इस तरह उराँव परिवार, समाज में विस्तृत कार्य पाये जाते हैं । इसमें संयुक्त परिवार के बच्चों को कुछ सीखाने, जानने एवं प्यार, मनोरंजन पाने का अधिक मौका मिलता है । क्योंकि संयुक्त परिवार में अधिक व्यक्ति होने के कारण बच्चों को अधिक लोगों का साहचर्य प्राप्त होता है । वे अपनी-अपनी अनुभवों से उन्हें अवगत कराते हैं जिसका प्रभाव बच्चे पर पड़ता है । इस प्रकार उराँव परिवार का कार्य विस्तृत रूप में पाया जाता है ।

उराँव परिवार





उराँव परिवार

नातेदारी व्यवस्था

उराँव समाज में गोत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है । प्रत्येक गोत्र का अलग परिवार होता है । परिवार के सभी लोग नातेदारी व्यवस्था में बंधे होते हैं । मानव समाज में नातेदारी व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान है । यह व्यवस्था मानव समुदाय में एक जाल सा फैला हुआ है । प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में एक दूसरे से नातेदारी व्यवस्था से जुड़ा हुआ रहता है । इस व्यवस्था का क्षेत्र बहुत बड़ा है । यह पूरे मानव समुदाय को अपने में समेटकर रखता है । इसलिए नातेदारी एक सामाजिक तथ्य है । जिसके अन्तर्गत समाज की स्वीकृति महत्त्वपूर्ण अर्थ रखता है । नातेदारी व्यवस्था के सम्बन्ध में विद्वान चार्ल्स विनिक (Charles Winick) लिखते हैं- "नातेदारी प्रणाली में समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वे सम्बन्ध आ सकते हैं, जो कि माने हुए एवं रक्त सम्बन्ध पर आधारित हो ।"[43] इसी तरह के नातेदारी को उग्रनाथ झा एवं माखन झा ने मजूमदार एवं मदन के विचारों को स्पष्ट करते हुए 'सामाजिक मानव शास्त्र' में अपना विचार व्यक्त किया है- "सभी समाजों में मनुष्य अनेकों प्रकार के बंधनों के द्वारा आपस में समूहों में बंधे होते हैं । इन बंधनों में सार्वभौमिक तथा आधारभूत बंधन वह है जो कि संतानोत्पत्ति पर आधारित होता है - संतानोत्पत्ति मानव की स्वाभाविक इच्छा है और यही नातेदारी कहलाती है ।"[44] इस तरह हम देखते हैं कि नातेदारी, समाज स्वीकृत ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत आनेवाले सम्बन्धों का आधार मुख्यतया रक्त से ही सम्बन्धित होता है । बिना रक्त सम्बन्ध के भी सामाजिक स्वीकृति के द्वारा नातेदारी स्थापित किये जाते हैं । गोद लेना इसका अच्छा उदाहरण है । वस्तुतः नातेदारी विवाह तथा रक्त सम्बन्धियों के द्वारा स्थापित किये जाते हैं । ऐसे स्थापित सम्बन्धों को कई श्रेणियों में बाँटा गया है । जैसे- प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी सम्बन्ध । प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने वाले आते हैं । जैसे- पति-पत्नी, माता-पिता, बच्चे इत्यादि । द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता । लेकिन प्रथम श्रेणी के सम्बन्धी से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है । यथा- चाचा, ताऊ इत्यादि । तृतीय श्रेणी के अन्तर्गत द्वितीय श्रेणी सम्बन्धी के प्रथम श्रेणी सम्बन्धी आते हैं, जैसे- साला, भाई का साला आदि । इन सबके अलावा उराँव जनजातियों में नातेदारी व्यवस्था की सीमा अन्य समुदाय से विस्तृत है । अपने समुदाय के बीच नातेदारी के अलावा इनका सामाजिक, सांस्कृतिक नातेदारी विस्तार अन्तर्जातीय सम्बन्ध को भी छूता है । झारखण्ड क्षेत्र का अधिकांश गाँव ऐसा है जहाँ सभी समुदाय के लोग एक साथ मिलकर रहते हैं और एक सामाजिक व्यवस्था से बंधे हुए होते हैं । गाँव का प्रत्येक

व्यक्ति एक-दूसरे को कुछ-न-कुछ नातेदारी नाम से पुकारता है जैसे- चाचा, भइया, दीदी-नानी, दादा-दादी इत्यादि। इस सम्बोधन के शब्द को बहुत महत्त्व दिया जाता है। इसलिए उराँव समाज में पिता के भाइयों को या अन्य जो गाँव के लोग हैं और पिता के साथ भाई का नाता रखते हैं, उन सभी को काका के अलावा 'बा' कहकर पुकारा जाता है। उसी तरह माँ के साथ भी होता है। इस सम्बन्ध में जियाउद्दीन अहमद ने अपनी पुस्तक 'बिहार के आदिवासी' में लिखा है - "एक उराँव अपने बाप और बा के सभी भाइयों को केवल 'बा' कहता है।"[45] कुछ विशेष अवसरों, पर्व-त्यौहारों या शादी-ब्याह के समय इस नातेदारी व्यवस्था का सुन्दर नमूना प्यार एवं आदर सत्कार के रूप में देखने को मिलता है। इसके अलावा वे दूसरे समुदाय के लोगों से फूल, सहिया, करम डाइर इत्यादि के द्वारा एक दूसरे से सम्बन्ध जोड़ते हैं। जो नातेदारी व्यवस्था का अलग ही उदाहरण है। इस नातेदारी व्यवस्था को हम चतुर्थ श्रेणी में रख सकते हैं क्योंकि इस सम्बन्ध के साथ रक्त का कहीं भी कोई सम्बन्ध नहीं होता है। फिर भी सहिया लगाने वाले व्यक्ति और उस परिवार से नातेदारी व्यवस्था मजबूत हो जाता है और दोनों परिवार एक साथ सुख-दुख में भागीदार होते हैं। चतुर्थ श्रेणी के नातेदारी सम्बन्ध का कार्य और उपयोगिता समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इस तरह की नातेदारी व्यवस्था में गाँव के व्यक्ति एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़ जाते हैं। जिससे समाज में प्यार-इज्जत एवं सुरक्षा की भावना का जन्म होता है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति एक बार इस नातेदारी व्यवस्था में बंधने के बाद उसे नहीं तोड़ सकता एवं जरूरत पड़ने पर किसी-न-किसी रूप में अवश्य एक दूसरे के सहयोगी होते हैं। इससे गाँव की महिला-बहू-बेटियों के प्रति हमेशा इज्जत की भावना बनी रहती हैं। इस तरह चतुर्थ श्रेणी के नातेदारी व्यवस्था से गाँव-टोला में सुख एवं अमन-चैन बना रहता है। अतः आदिवासियों (उराँव) के इस नातेदारी व्यवस्था को 'वसुधैव कुटुम्बकम' कहा जा सकता है।

नातेदारी प्रणाली प्रत्येक समाज में पायी जाती है। प्रत्येक समाज में ऐसे सम्बन्धों की आवशकता होती है, जो विवाह तथा रक्त सम्बन्धियों के द्वारा स्थापित किए जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने समाज के नातेदारी एवं व्यवस्था के अनुसार आचार व्यवहार करता है। यह मनुष्य के रहन-सहन के तौर तरीके को प्रभावित करता है। समाज के बड़े-छोटे का आदर-सत्कार, प्यार तथा हास-परिहास नातेदारी व्यवस्था द्वारा तय होता है। समाज को व्यवस्थित रखने के लिए परिहास और परिहार (निषेध) दोनों तरह के नियम बनाये गये। उराँव जनजातियों के सामाजिक

वातावरण में इस व्यवस्था को देखा जा सकता है । समाज को इसी नातेदारी व्यवस्था के द्वारा व्यवस्थित एवं नियंत्रित किया जाता है । उराँव समाज़ में नातेदारी व्यवस्था की कई उपयोगिताएँ एवं विशषताएँ पायी जाती हैं । सभी समाज में हास-परिहास का सम्बन्ध पाया जाता है, जैसे :- जीजा-साली, देवर-भाभी के बीच हंसी मजाक का रिश्ता सभी समाज में प्रचलित है । उराँव समाज में भी इस रिश्ते को हंसी-मजाक करने की स्वीकृति प्रदान की गई है, साथ ही परिस्थितिवश इनके बीच विवाह करने की स्वीकृति भी समाज द्वारा प्राप्त है । इनके बीच नाना-नानी, दादा-दादी और नाती-पोतियों से भी हंसी-मजाक का रिश्ता पाया जाता है । लेकिन इस रिश्ते के बीच विवाह की स्वीकृति नहीं है । उराँव परिवार में परिहास के साथ-साथ कुछ सम्बन्धों में निषेध पाये जाते हैं । जैसे- पति के बड़े भाई के साथ आदर का व्यवहार करना, उनसे दूर रहना, उनका नाम न लेना इत्यादि । यह निषेध दोनों पक्ष से अनिवार्य है । इसी तरह पति की बड़ी बहन के साथ आदर का भाव व्यक्त करना आवश्यक है । इस रिश्ते को उराँव समाज में 'बालनी', 'बालना' कहा जाता है । ठीक इसी तरह पत्नी की बड़ी बहन के साथ व्यवहार होता है । दोनों पक्ष 'बालनी' को इस निषेध का पालन बराबर रूप से करना पड़ता है । पत्नी की दीदी उस लड़के की भी दीदी होगी । इसलिए इस रिश्ते में हंसी-मजाक के लिये समाज द्वारा स्वीकृति नहीं है । इस रिश्ते को उराँव समाज में 'बालनी' कहा गया है एवं उन्हें पूर्ण इज्जत दिया जाता है । इन विशेष रिश्तों की जानकारी वर-वधू, जवनख़दी एवं अन्य लोगों को देने के लिए विवाह के समय इस विशेष रिश्ते के लोगों द्वारा कुछ वैवाहिक रस्म कराया जाता है । इस सम्बन्ध में ब्रदर मिखाइल कुजूर ने अपनी पुस्तक 'उराँव संस्कृति' में लिखा है - "नयी बहू को अपने पति के बड़े भाई और बहन को भैंसूर मानना पड़ता है । वह उनके छत्रछाया में जाना अनुचित समझती है चूँकि वे माता-पिता या देव के स्थान में समझे जाते हैं ।"[46] ऊपर वर्णित सभी नियम बड़ों के प्रति आदर एवं एक आदर्श प्रस्तुत करते हैं । इससे ज्ञात होता है कि ये व्यक्ति इनके (बहू) के लिए 'बालना' है तथा ये महिला इस लड़के (वर) के लिये 'बालनी' है ।

इस तरह उराँव समाज में परिहास की अलग ही उपयोगिता एवं कार्य प्रणाली है । इससे समाज के अंदर सुन्दर सम्बन्धों, प्यार, आदर-सत्कार एवं एक दूसरे की जरूरतों को पूरा किया जाता है । जैसे- दादा-दादी, नाना-नानी और नाती-पोते-पोतियों के बीच का मधुर और सुंदर सम्बन्ध को आंका नहीं जा सकता । इस प्यार और मधुरता के बीच कोई स्वार्थ नहीं होता है ।

उराँव समाज में जीजा-साली, देवर-भाभी के परिहास सम्बन्ध को समाज द्वारा मान्यता प्राप्त है । यह एक सामान्य रिश्ता है । लेकिन परिस्थिति वश वे आपस में विवाह भी कर सकते हैं और परिवार तथा एक दूसरे का सहारा बन सकते हैं ।

समाज में किसी तरह की बुराई न आये इसके लिए उराँव समाज में इस तरह के परिवार का निर्माण किया गया है । पति के बड़े भाई, बड़ी बहन एवं पत्नी की बड़ी बहन के प्रति विशेष आदर एवं सम्मान का समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान है । ये सभी आदरसूचक रिश्ते उनके (वर-वधू) के लिए माता-पिता से कम नहीं होते हैं । ये रिश्ते नये वर वधू के सामान्य जीवन में हमेशा एक अभिभावक एवं मार्गदर्शक के रूप में होते हैं ।

इन सबके अलावे प्रत्येक परिवार में मामा-भांजा का एक अद्‌भुत रिश्ता पाया जाता है । मामा के घर में भांजा का एक विशेष स्थान होता है । दोनों के बीच विशेष प्यार व लगाव होता है । हाँलाकि इनके बीच रक्त का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है । इस तरह इस रिश्ते को अंग्रेजी में 'Dictionary of Sociology' में बी० भूषण ने कहा है- "Refers to the special relationship that persists in some societies between a man and his mother's borhters. This term from the latin avunculus (Mother's brother) is sometimes used to describe the authority of Mother's brother over his sister's children in a matrilineal society"[47].

इन सबके अलावा एक और नातेदारी व्यवस्था पायी जाती है । उराँव समाज में मुख्यत: समुन्नत परिवार पाया जाता है । उराँव समाज में लड़की बोझ नहीं समझी जाती है । इस समाज/परिवार में लड़की का विशेष स्थान होता है और इसलिए लड़की के जन्म पर माता-पिता को विशेष खुशी एवं संतुष्टि होती है । लड़की को उम्र के साथ-साथ सभी कार्यों में दक्ष किया जाता है । बेटी जबतक अविवाहित है तबतक अपने पिता के सम्पत्ति का भरपूर उपयोग कर सकती है । वही बेटी जब विवाह के बाद ससुराल चली जाती है तो परिवार सूना एवं खाली हो जाता है । इस सम्बन्ध में एक पारम्परिक गीत इस प्रकार गया जाता है :-

हरे एंगदन बिसियन, हरे एंगदन बिसियन
जदी जमगई जिला जलपई बिसियन
जूड़ी पेल्लोन एरेन जुड़ी झुटिया ख़रख़ी
हरे एंगदा बरओ दरा कोरओ बेसे लग्गी- 2

अर्थ- विदाई के पश्चात बेटी से बिछड़ने के दुख में माँ भावुक होकर रोते हुए गाना गाती है । गाने का भावार्थ है - ओहो ! मैंने बेटी की शादी कर दी गाँव जमगई, जिला जलपाई जो बहुत ही दूर है । (छिपा हुआ भावार्थ)- दूरी के कारण बेटी मायके नहीं आ सकती है ।

उसकी उम्र की लड़कियों को देखती हूँ, उनके पैरों में पहने 'झुटिया' (पैर की उंगलियों में पहनने वाला गहना) से आवाज आती है, तब ऐसा लगता है कि अरे मेरी बेटी ही आकर घर में प्रवेश कर रही है ।

यह परिवार वालों को मानसिक रूप से बहुत कष्ट देता है । विवाह के बाद बेटी बहुत कम ही अपने पिता के घर आती है इसलिए ये दूरी उनके प्यार को और बढ़ाता है । यही कारण है कि उसके बच्चों को भी अपने मामा या नाना-नानी के घर में विशेष प्यार एवं स्नेह मिलता है । उस बच्चे में उन्हें अपनी प्यारी बेटी/बहन की छवि दिखती है इसलिए उनपर अपना प्यार निछावर किया जाता है । इस नातेदारी व्यवस्था में पारस्परिक मनोभावों को आँकना कठिन है । यदि घर में लड़की के छोटे भाई एवं बहू है तो यह और भी विशेष रूप से बढ़ जाता है । क्योंकि छोटे भाई की बहू द्वारा विशेष स्नेह एवं इज्जत अपनी 'बालनी' के लिये दिया जाता है । पूरा समाज इस इज्जत की आशा करता है और इसी इज्जत के सहारे लड़की का अपने मायके से सम्बन्ध हमेशा बना रहता है । जिस दिन 'बालनी-बहू' के बीच इज्जत में कमी महसूस होती है, लड़की का अपने मायके से सम्बन्ध खत्म हो जाता है और समाज इसे अच्छा नहीं मानता है । उराँव समाज की नींव इसी प्यार, स्नेह व इज्जत पर टिका है । फूफू को मिलनेवाले इस प्यार से घर परिवार के बच्चे बहुत प्रभावित होते हैं । दोनों परिवार में अटूट एवं अद्भुत प्यार का सम्बन्ध हमेशा बना रहता है ।

इस सम्बन्ध में विस्तृत रूप से 'Dictionary of Socilogy' में बी० भूषण ने Amitate कहा है और इसकी विस्तृत चर्चा करते हुए लिखा है- "The turm use for a pattern of special relationship between a child and his or her paternal aunt (The child's father's sister) which are found in certain societies."[48]

यह एक सामाजिक शिक्षा है जिसे किसी के द्वारा सिखाया नहीं जाता वरन् इसे देखकर सीखा जाता है । यह नातेदारी व्यवस्था का इतना सूक्ष्म चीज है जिसमें थोड़ी-सी असावधानी करने से परिवार में दरार पड़ने लगता है । इसका प्रत्यक्ष हानि

परिवार और समाज को तुरंत तो नहीं लेकिन दूरगामी अवश्य भुगतना पड़ता है । उराँव समाज में प्रत्येक पति–पत्नी एक दूसरे के लिए एक विशेष नाम रख लेते हैं या जिसे 'नवठा' नाम कहा जाता है या फिर 'बबु तग्गिंयो' 'बबु तम्बस' कहकर पुकारते हैं । इस साधारण से नाम में एक दूसरे के प्रति आदर की भावना भरी होती है ।

उराँव परिवार मुख्यत: संयुक्त परिवार पर आधारित होता है । इस संयुक्त परिवार में बहुत सारे लोग होते हैं । जो हर आयु वर्ग के होते हैं । छोटे–बड़े के अनुसार सभी को परिवार में प्यार व आदर मिलता है । तभी परिवार का अस्तित्त्व रहता है । किसी भी परिवार में छोटे बच्चे बड़ों से शिक्षा लेते हैं । यदि बड़े व्यक्ति ही गलत आचरण करेंगे तो उसका असर बच्चों पर क्या पड़ेगा और वह बच्चा क्या सीखेगा ? पति–पत्नी यदि एक दूसरे का नाम लेकर पुकारते हैं तो संयुक्त परिवार में रहने वाले अन्य सदस्यों के ऊपर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा । बड़े–बुजुर्गों की इज्जत पर इससे आँच आयेगी एवं बच्चों के मन–मस्तिष्क पर इसका बुरा असर पड़ेगा । जिस प्यार, इज्जत एवं सहारे के लिए वे एक साथ मिलकर रहते हैं, वही चीज खत्म हो जायेगा । इस सम्बन्ध को बताते हुए बी० भूषण ने अपनी पुस्तक 'Dictionary of Sociology' में लिखा है – "A word coined by the English Anthropologist Sir Edward Burnett tylor to denote the custom prevalent among some people of naming the parent from the child, the husband not being a member of the wife's family, although he acquires that status at the birth of the first child, usually, the fathers is known as father of X"X being the, infant's name. Similarly, a mother may be named mother of X, thus teknonymy is a term which covers both cases."[49] इन बातों को ध्यान में रखते हुए उराँव परिवार में परिहार, परिहास Avunclate, Amitate एवं Teknonymy का विशेष ध्यान रखा जाता है । ये सभी बातें उराँव समाज की ऐसी बातें हैं जिसकी अवहेलना करने से समाज में कई विकृतियाँ आ सकती हैं । ये सभी तत्त्व उराँव समाज के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करते हैं । वर्तमान में उराँव समाज, उराँव संस्कृति में परिवर्तन एवं दिशाएँ इन्हीं तत्त्वों की अवहेलना का परिणाम है जो आधुनिकता एवं शिक्षा के नाम पर अन्धाधुंध दूसरे समाज के नकल के फलस्वरूप है । यह परिवर्तन समाज को किस दिशा में ले जायेगी, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है ।

विवाह

मानव जाति उत्पत्ति के बाद एक साथ समूह में रहता था । धीरे-धीरे विकास के क्रम में उन्होंने गोत्र और परिवार का निर्माण किया, फिर नातेदारी व्यवस्था की शुरुआत हुई । तत्पश्चात विवाह की प्रथा प्रारंभ हुई । ये सभी क्रियायें एक चक्र की तरह घूमती है । इन सभी में सबसे पहले किसका जन्म हुआ, कहना मुश्किल है । लेकिन वर्तमान में ये सभी मानव एवं मानव समाज के आवश्यक अंग हैं ।

प्रारंभिक काल में विवाह रूपी संस्था नहीं थी । इसके कारण यौन सम्बन्ध निर्बाध रूप से होता था । पशुओं की भांति कोई भी पुरुष किसी भी स्त्री के साथ यौन-सम्बन्ध बना सकता था । इससे बच्चे के पिता का पता नहीं चलता था । मानव-जीवन बड़ा ही अव्यवस्थित था । अतः मानव व्यवहार को नियमित एवं नियंत्रित करने के लिए मानव-समाज में कुछ आदर्श नियम बनाये गये । जैसे-जनरीतियाँ, प्रथायें, शादियाँ, कानून इत्यादि । विवाह इसी का परिणाम है । विवाह स्त्री-पुरुष को यौन सम्बन्ध स्थापित करने की सामाजिक या कानूनी स्वीकृति प्रदान करता है । विवाह ही परिवार की आधारशिला है, जिसमें बच्चों का सामाजीकरण एवं पालन पोषण होता है । यह नातेदारी का भी आधार है । विवाह संस्था व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है । विवाह के सम्बन्ध में विद्वान रिवर्स लिखते हैं - जिन साधनों द्वारा मानव-समाज यौन सम्बन्धों का नियमन करता है, उन्हें विवाह की संज्ञा दी जा सकती है ।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । वह अपनी आवश्यकताओं, इच्छाओं आदि की पूर्ति समाज में रहकर ही पूरा करता है । मनुष्य को समाज में रहने के लिए समाज ने उन्हें अनेक सामाजिक नियम/कानून या व्यवस्था प्रदान की है जिसमें विवाह नामक संस्था भी शामिल है । 'विवाह' मनुष्य की इच्छाओं और आवश्यकताओं में से एक है । विवाह न सिर्फ दो अजनबियों को आपस में मिलाता है बल्कि दोनों परिवार को भी एक सूत्र में बांधता है । विवाह के अन्तर्गत धार्मिक, कानूनी एवं सामाजिक स्वीकृति का समावेश होता है । साथ ही सामाजिक एवं आर्थिक दायित्वों का निर्वाह करने का अधिकार प्रदान करता है । विवाह समाज में यौन अराजकता को रोकता है । मानव जीवन का सही संचालन विवाह द्वारा किया जाता है । विश्व के सभी समाजों में विवाह की अपनी-अपनी धारणाएँ हैं । विवाह के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का विचार जानना आवश्यक प्रतीत होता है । विवाह के सम्बन्ध में विद्वान बोगार्डस 'sociology' नामक पुस्तक में लिखते हैं- "विवाह स्त्री और पुरुष के पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की एक संस्था है ।"[50] इसी तरह मजूमदार एवं मदन ने इस सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करते हुए लिखा है-

"विवाह में कानूनी या धार्मिक आयोजन के रूप में उन सामाजिक स्वीकृतियों का समावेश होता है जो दो विषम लिंगियों को यौन-क्रिया और उससे सम्बन्धित सामाजिक आर्थिक सम्बन्ध में सम्मिलित होने का अधिकार प्रदान करती है ।"[51]

विवाह के सम्बन्ध में डॉ० राधाकृष्णन के विचारों को उग्रनाथ एवं माखन झा स्पष्ट लिखते हैं- विवाह एक संस्था के रूप में प्रेम की अभिव्यक्ति तथा विकास का एक साधन है । यह केवल रूढ़ि नहीं है, वरन, मानव-समाज की एक अन्तर्भूति दशा है । यद्यपि इसके आदर्श बदलते रहते हैं, फिर भी यह मानवीय साहचर्य का एक स्थायी रूप प्रतीत होता है । यह प्रकृति के प्राणिशास्त्रीय लक्ष्यों और मनुष्य के समाजशास्त्रीय लक्ष्यों के मध्य सामंजस्य है । यह सामंजस्य सफल होता है या नहीं । यह इस पर निर्भर है कि इसे किस प्रकार क्रियान्वित किया जाता है । यह हमें इस पृथ्वी पर ही स्वर्ग तक पहुँचा सकता है और कुछ दशाओं में हमारे लिए बकायदा नरक बना सकता है ।"[52]

इस प्रकार सभी विद्वानों ने विवाह को यौन-सम्बन्ध बनाने का समाज द्वारा स्वीकृत संस्था माना है । साथ ही परिवार की निरन्तरता एवं मानव के जीवन को सम्पूर्ण रूप से सुखी बनाने का उत्तरदायी साधन है ।

सभी समाज में विवाह का स्वरूप पाया जाता है । झारखण्ड के सभी आदिवासी समाज में विवाह की प्रथा प्रचलित है एवं मनुष्य के सुखी जीवन के लिए अतिआवश्यक माना गया है । झारखण्ड में कई आदिवासी समुदाय का निवास है । सभी समुदायों में विवाह का स्वरूप थोड़ा अलग-अलग है । प्राय: सभी आदिवासियों में एक विवाह प्रचलित है । किन्तु कुछ लोग एक साथ दो पत्नियाँ भी रख लेते हैं । ऐसी पत्नी को समाज द्वारा मान्यता नहीं मिलती है । झारखण्ड के आदिवासियों में परिवार, गोत्र, टोटेम तथा गाँव से बाहर अपनी ही जाति में विवाह करने की प्रथा पायी जाती है । मनुष्य समाज में रहता है और प्रत्येक समाज में सांस्कृतिक प्रतिबंध लगे हुए हैं । प्रत्येक व्यक्ति को अपने सामाजिक मूल्यों और नियमों का पालन करना पड़ता है । इसलिए कहा गया कि "विवाह जीवन सम्बन्धी बुनियाद पर एक सांस्कृतिक ढाँचा है"। विवाह सभी समाज का अनिवार्य अंग है । भले ही सभी का स्वरूप अलग हो । लेकिन सभी में एक विवाह की प्रथा ही प्रचलित है । उराँव समाज में भी एक विवाह की प्रथा प्रचलित है लेकिन कहीं-कहीं परिस्थितिवश दो विवाह किया जाता है, जैसे- संतान का न होना आदि । विवाह के सम्बन्ध में डॉ० अजीत कुमार सिंह एवं डॉ० अवधेश प्रसाद सिंह ने अपनी पुस्तक में बताया है । "उराँव समाज में एक ही पति-पत्नी की प्रथा है ।"[53] इस समाज में बहुपति, बहुपत्नी, समूह विवाह का प्रचलन नहीं है । उराँव समाज में इसे अच्छा नहीं माना जाता है । इस समाज में एक विवाह की महत्ता

जीवन पर्यन्त तो होती ही है मरने के पश्चात भी इसकी महत्ता उतनी ही बनी रहती है। पूर्वजों की अस्थि-कुंडी में सिर्फ समाज द्वारा मान्यता प्राप्त विवाहिता पत्नी को पूर्ण सम्मान दिया जाता है। इसके कारण समाज में ऐसी घटनाएँ बहुत कम होती है। लेकिन इस विशाल मानव समूह में कई तरह के समाज पाये जाते हैं जहाँ सबकी अपनी परम्परा एवं रीतियाँ है। कहीं बहुपति विवाह प्रचलित है तो कहीं बहुपत्नी-विवाह की प्रथा है। बहुपति विवाह के सम्बन्ध में शिवदान सिंह ने अपनी पुस्तक 'कश्मीर देश एवं संस्कृति' में लिखा है - "सारे लद्दाख में बहुपति प्रथा प्रचलित है। बहुपत्नी प्रथा एक फिजूलखर्ची की प्रथा है और बहुपति प्रथा मितव्ययिता की।"[54]

मानव समाज में कई प्रकार की विवाह पद्धतियाँ पायी जाती है। श्री उमेश कुमार वर्मा ने अपनी पुस्तक 'बिहार का जनजातीय जीवन' में छः प्रकार के विवाह की चर्चा की है जो विभिन्न जनजातियों में पाया जाता है। उराँव जनजाति में साधारणतः दो तरह का विवाह पाया जाता है :-

1. वह विवाह जो माता-पिता द्वारा तय किया जाता है।
2. वह विवाह जो लड़के-लड़की की मर्जी से होता है।

इन दोनों प्रकार के विवाह में से माता-पिता द्वारा तय विवाह को समाज में अच्छा माना जाता है। इस विवाह को तय करने में कई बातों का ध्यान रखा जाता है :-

1. लड़की की उम्र
2. उनके परिवार एवं गोत्र
3. लड़की का स्वास्थ्य
4. लड़का-लड़की की जोड़ी
5. घरेलू कार्यक्षमता के सम्बन्ध में
6. लड़की का चाल-चलन एवं व्यवहार
7. लड़की की शिक्षा
8. माता-पिता का व्यवहार
9. लड़की के माता-पिता की आर्थिक स्थिति, सामाजिक स्थिति तथा उनका इतिहास
10. लड़की के भाई-बहनों की संख्या।

ये सभी बातें लड़के के लिए भी लागू होती है।

उराँव समाज में विवाह से पूर्व सर्वप्रथम गोत्र का पता किया जाता है क्योंकि झारखण्ड क्षेत्र के सभी आदिवासी अपनी ही जाति में वर्हिगोत्रीय विवाह करते हैं। उराँव समाज में सभी वर्ग के लोग हैं। कुछ की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं

है । अतः सभी व्यक्ति इस आवश्यक कार्य (रस्म) को पूरा कर सकें, इसे ध्यान में रखकर समाज ने विवाह के समय 'वधू-मूल्य' का नियम बनाया । जिसे 'डाली ढीबा' कहते हैं । यह वधू-मूल्य इतना कम रखा गया है कि सभी व्यक्ति इसे दे सके । यह वधू मूल्य कन्या पक्ष को वर पक्ष वाले देते हैं और यह रस्म दोनों ओर के पंचों के समक्ष पूरा होता है । उराँव समाज में वर पक्ष द्वारा कन्या की खोज की जाती है । कन्या पक्ष द्वारा वर की खोज नहीं की जाती है । इस तरह के कार्य को उल्टा और समाज द्वारा अच्छा नहीं माना जाता है । इसलिए जिस घर में विवाह योग्य लड़की होती है उसके माता-पिता अपने सगे सम्बन्धियों या परिचितों को यह बता देते हैं कि घर में विवाह योग्य कन्या है । कहीं लड़का (वर) पसंद करो । लड़का खोजना और विवाह की बात तय करना माता-पिता नहीं वरन् 'अगुवा' द्वारा किया जाता है । उराँव विवाह में 'अगुवा' का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है । 'अगुवा' के बिना विवाह संभव नहीं होता है ।

उराँव समाज में दहेज-प्रथा नहीं है । इस समाज में बाल-विवाह की प्रथा भी नहीं पायी जाती है । जिस तरह लड़कों के लिए 'धुमकुड़िया' शिक्षण केन्द्र है उसी तरह लड़कियों के लिए 'पेल्लो एड़पा' है जिसमें वे एक निश्चित उम्र तक सामाजिक, सांस्कृतिक शिक्षा ग्रहण करते हैं जो एक सफल पारिवारिक, सामाजिक जीवन के लिए अनिवार्य है । यहाँ उन्हें जीवन से सम्बन्धित अनिवार्य सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती है । इस पेल्लो-एड़पा में एक निश्चित उम्र तक रखकर उन्हें शिक्षा दी जाती है ।

धुमकुड़िया में प्रवेश एवं शिक्षा ग्रहण करने की एक निश्चित उम्र होती है । इस निश्चित उम्र के बारे में श्री जियाउद्दीन अहमद ने अपनी पुस्तक 'बिहार के आदिवासी' में लिखा है – "इस 'धुमकुड़िया' घर में एक उराँव लड़के को 10-11 साल की अवस्था में लिया जाता है । साधारणतया इसके सदस्यों की उम्र दस से बीस और बाइस साल तक की होती है ।"[55] यहाँ से निकलने के बाद वे सभी कार्यों में निपुण होते हैं एवं तबतक उनकी उम्र भी विवाह योग्य हो जाती है । 'पेल्लो-एड़पा से निकलने वाली लड़कियाँ ही विवाह योग्य, हर तरह से सक्षम समझी जाती है एवं उनका विवाह किया जाता है । उराँव समाज में प्रायः बुजुर्गों द्वारा ही विवाह तय किया जाता है । जब लड़के-लड़कियाँ विवाह योग्य हो जाते हैं तब लड़के पक्ष की ओर से लड़की (कन्या) को खोज शुरू हो जाती है । 'अगुवा' द्वारा वधू-खोजने एवं विवाह तय करने का कार्य शुरू होता है । अगुवा दोनों पक्षों से परिचित होता है । अब वह दोनों तरफ से मध्यस्थता का कार्य करता है । इनके विवाह में तिलक एवं दहेज का रिवाज नहीं पाया जाता है । वधू मूल्य के अलावा कहीं-कहीं एक जोड़ा बैल एवं कुछ कपड़े दस्तूर के समय में लिये

जाते हैं जिसे 'मायसारी' कहा जाता है । इसमें 'बरकी' का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है । यह एक विशेष कपड़ा होता है जिसे दादा-दादी या नाना-नानी के लिए दिया जाता है । उराँव समाज में विवाह की रस्म को बहुत ही सरल बनाया गया है ताकि सभी लोग इस आवश्यकता की पूर्ति कर सकें और समाज में अमन चैन बनी रहे ।

उराँव समाज में विधवा विवाह का भी प्रचलन पाया जाता है । इस विवाह को 'सांगहा' कहा जाता है । यह सरल विधि द्वारा तय किया जाता है । इस विवाह में लोगों की संख्या कम होती है एवं साधारण विवाह से अलग बहुत सादे ढंग से सम्पन्न किया जाता है ।

इस समाज में विवाह-विच्छेद का भी प्रचलन है । वैवाहिक जीवन में किसी प्रकार की गड़बड़ी होने पर दोनों ओर की सहमति से विवाह-विच्छेद करा दिया जाता है । इसके लिए दोनों पक्ष के पंच आपस में मिल बैठकर यह निरीक्षण करते हैं कि गलती किसकी है । जिसकी गलती है उस पक्ष से जुर्माना लिया जाता है । यदि वधू-पक्ष से गलती के कारण विवाह विच्छेद होता है तो लड़की वाले को वधू-मूल्य वापस करना पड़ता है । वधू मूल्य रकम के रूप में बहुत साधारण होता है लेकिन उस परिवार और लड़की के लिए पूरे समाज में सम्मान की भावना कम हो जाती है । इसलिए इस तरह की समस्याओं से बचने के लिए लोग पहले से ही सचेत रहते हैं एवं काफी छानबीन एवं अच्छी जानकारी के बाद ही विवाह करते हैं । विवाह तय होने से लेकर समाप्त होने तक प्रत्येक कार्य पंचों की (गाँव के बुजुर्गों) उपस्थिति में होती है एवं विवाह के पहले कुछ (रस्म) गाँव के पाहन द्वारा सम्पन्न होता है । अधिकतर वैवाहिक रस्म महिलाओं द्वारा सम्पन्न होता है । दुल्हे को परीछने से लेकर सिंदूर दान, रोटी-पकाना, सभा-सिंदूर, बाला भेंट एवं विदाई तक का रस्म दोनों पक्ष की महिलाओं द्वारा सम्पन्न होता है । समधी जोड़ने का काम 'घरबरी' में ही हो जाता है । यह रस्म दोनों पक्ष (वर एवं कन्या के पिता) एवं रिश्ते में पिता लगने वाले पुरुषों द्वारा किया जाता है । अच्छी जाँच पड़ताल के लिए दो तीन बार दोनों पक्ष में आना जाना होता है जिसे कई नामों जैसे- 'डंडा खिर्रना' 'डंडा किर्तआना', 'सन्नी पाही' और 'कोहा पाही' कहा जाता है । कोहा पाही को ही 'घरबरी' भी कहा जाता है । 'घरबरी' वर पक्ष की ओर से किया जाता है । इसमें लड़की (कन्या) पक्ष वाले वर के घर बड़ा मेहमानी करने आते हैं । इस मेहमान में लड़की (कन्या) पक्ष वाले घर एवं वर दोनों को देखते हैं । इसलिए इस मेहमानी का नाम ही 'घरवरी' रखा गया है । यह मेहमानी दोनों पक्ष की स्वीकृति के बाद किया जाता है । 'घरबरी' का अर्थ है कि यह विवाह होना निश्चित है । इसी मेहमानी में विवाह का निश्चित दिन तय किया जाता है ।

इस मेहमान में मुख्य काम 'डाली ढीबा', कपड़े की बात तय करना, तेल रखना, कन्या पक्ष के मेहमानों द्वारा लड़का देखना एवं अंत में विवाह का दिन तय करना होता है। (विवाह का दिन तय करने में वर-वधू का जन्म दिन जानना आवश्यक है। यदि एक ही दिन दोनों का जन्म दिन हो तो उस दिन विवाह तय नहीं होता है। जन्म दिन को याद रखने के लिए ही उराँव व्यक्ति अपने बच्चों का नाम सप्ताह के दिनों पर रखते थे। प्राचीन काल में लोग अशिक्षित थें। उन्हें बच्चे का जन्म दिन याद नहीं रहता था। अत: बच्चे का नाम ही सप्ताह के दिन पर रख दिया जाता था।) विवाह का दिन तय करने के लिए वे चाँद के द्वारा अपना हिसाब करते हैं। पूर्णिमा के बाद चाँद घटते हुए छोटा होता है। इस घटती हुई स्थिति में वे विवाह नहीं करते हैं। अमावस्या के बाद जो चाँद निकलता है और बढ़ता जाता है। उस बढ़ती चाँद में 3, 5, 7, 9, जैसे बेजोड़ दिन में वे विवाह तय करते हैं।

ये चैत और पूस महीने में विवाह नहीं करते हैं। चैत तृतीय को उराँवों का प्रमुख त्यौहार खद्दी मनाया जाता है। इस दिन सूर्य देव एवं धरती माता का विवाह होता है। अत: इनके विवाह के श्रद्धा स्वरूप इस महीने में उराँव विवाह सम्पन्न नहीं करते हैं। साथ ही इनके बीच पूस महीने में भी विवाह वर्जित है। इससे सम्बन्धित एक कहावत प्रचलित है- 'पूस ता कन्या फस-फूस' अर्थात इस महीने की लायी गई बहू बहुत सुस्त एवं आलसी, ससुराल में नहीं टिकने वाली समझी जाती है। अत: समाज में इसे अच्छा नहीं समझा जाता है। इसके अलावा आषाढ़ महीने से लेकर भादो एकादशी तक उराँव समाज में विवाह वर्जित है। भादो एकादशी शुक्ल पक्ष के दिन इनका बड़ा त्यौहार 'करम' मनाया जाता है। इस पर्व के दूसरे दिन से ये लोग विवाह सम्बन्धी कार्य आरंभ करते हैं।

विवाह तय हो जाने के बाद विवाह का दिन निश्चित किया जाता है। तत्पश्चात सभी सगे-सम्बन्धियों को न्योता दिया जाता है। इनके बीच न्योता देने का अनोखा रिवाज है। ये 'अरवा चावल' को हल्दी से रंग कर पीला कर देते हैं। जहाँ भी न्योता देना हो वे उसी चावल को थोड़ा-सा देते हैं। कहीं-कहीं साल के पत्ते में कसैली व पान पत्ते की गठरी बनाकर भी दी जाती है। निश्चित दिन या उससे पहले ही सभी मेहमान कम-से-कम एक दिन पहले पहुँच जाते हैं। विवाह की पूरी तैयारी होती है। मड़वा गाड़ा जाता है। विवाह से सम्बन्धित कुछ रस्म मड़वा के दिन पूरा किया जाता है। इसमें मुख्य रूप से 'कँड़सा उठाने' की रस्म पूरी की जाती है। दूसरे दिन विवाह होता है। इसके बाद तीसरे या चौथे दिन चुमावन होता है। उसी दिन कन्या पक्ष वाले लड़की को लाने उसकी ससुराल जाते हैं। जिस तरह से वर पक्ष बारात जाता है उसी तरह कन्या पक्ष वाले 'सरात' जाते हैं। सरात के दिन कुछ विशेष कार्य (रस्म) नहीं होता है। अत: सराती सिर्फ

नाचते-गाते, खाते-पीते हैं एवं मनोरंजन करते हैं। दोनों पक्ष के लोग मिलते हैं, खुशियाँ मनाते हैं एवं अन्त में कन्या को सराती पक्ष (कन्या पक्ष) के लोग लेकर आ जाते हैं। इस प्रकार इनका विवाह सम्पन्न हो जाता है।

नाग, आर्य और अनार्य आदिवासी जातियों से सम्बन्ध

भारत की भूमि पर अनन्त काल से ही विभिन्न जाति के लोगों का समागम होता रहा है। ईसाई और मुस्लिम को छोड़ने के बाद भी इस देश में ग्यारह जाति के लोगों का आगमन और समागम का प्रमाण मिलता है। ये जातियाँ यहाँ (भारत) की संस्कृति और समाज में भली-भांति रच बस गये। इस देश में कई जाति के लोग झुण्डों में आये, जिसमें नीग्रों, आस्ट्रिक, द्रविड़, आर्य, यूनानी, यूची, शक, आभीर, हूण तथा मंगोल और मुस्लिम आक्रमण के पूर्व आने वाले तुर्क भी शामिल हैं।

कई जातियों के आगमन से यहाँ नस्ल पहचानना मुश्किल हो गया। फिर भी मूल नस्लों की पहचान भाषा और शारीरिक गठन द्वारा की जाती रही है। भाषा भेद को लेकर मनुष्य की नस्ल का पता लगाना कुछ सरल हो गया किन्तु शारीरिक गठन और रंग-रूप से मनुष्य की नस्ल पहचानना कठिन कार्य है क्योंकि मानव-शरीर पर जलवायु का प्रभाव एवं अन्तर्जातीय विवाह के द्वारा रक्त मिश्रण से कई परिवर्तन आते हैं। फिर भी नस्ल निर्धारण के लिए विद्वानों ने कुछ तत्त्वों को शामिल किया और निष्कर्ष निकाला कि गोरे रंग के लोग आर्य वंश के हैं एवं काले व्यक्ति आर्येत्तर हैं। मानवशास्त्रियों ने इन्हें तीन भागों में बांटा है- (1) गोरे-आर्य लोग, (2) काले-द्रविड़ आदिवासी लोग, (3) पीले-मंगोल जाति के लोग।

कुछ विद्वानों का मत है कि भारत में चार तरह के लोग पाये जाते हैं -

(1) जिनका कद छोटा, रंग काला, नाक चौड़ी और बाल घुंघराले हैं। ये जंगलों में निवास करते हैं। ये आदिवासियों की संतान हैं ये आर्य और द्रविड़ों के आगमन के पूर्व इस देश में आकर बस गये थे।

(2) ये द्रविड़ जाति के लोग हैं। इनका कद छोटा, रंग काला, बाल घने, नाक खड़ी और चौड़ी होती है। ये आदिवासी लोगों से थोड़ी समानता रखते हैं। ये दक्षिण भारत (विन्धयाचल) में निवास करते हैं। इनके पूर्वज आर्यों से पूर्व इस देश में आये थे और इन्होंने ही नगर सभ्यता की नींव डाली थी।

(3) ये आर्य जाति के लोग हैं इनका कद लम्बा, रंग गेंहुआ या गोरा, नाक पतली और नुकीली होती है। आरंभिक और अब के इनके रंग-रूप में परिवर्तन आ गया है। इसका कारण जलवायु की उष्णता और द्रविड़ों एवं आदिवासियों से उनका वैवाहिक मिश्रण माना जाता है।

(4) चौथे प्रकार के व्यक्ति असम, भूटान, नेपाल, उत्तर प्रदेश, बर्मा इत्यादि जगहों में पाये जाते हैं। इनका रंग काला, पीला, नाक चौड़ा, मस्तक चौड़ा एवं आकृति चपटी होती है । ये मंगोल जाति के लोग हैं। ये आर्यों के बाद भारत में आये हैं। आदिवासियों में नीग्रो और आस्ट्रिक (आग्नेय) दोनों प्रजाति के लोग शामिल हैं। ये द्रविड़ों से पूर्व इस देश में आये थे । इस देश में जितनी भी जातियाँ आयीं, सभी का सांस्कृतिक समन्वय हुआ। लेकिन आर्यों ने आग्नेय (आस्ट्रिक) लोगों की हंसी उड़ायी एवं उन्हें 'निषाद' कहा। इसके कारण लगभग 1500 वर्ष पूर्व उत्तर भारत के बहुत से आग्नेय लोग आर्य हो गये। इन चार हजार वर्षों के मिश्रण और समन्वय के बाद भी आदिवासियों को आग्नेय खानदान का माना जाता है । इनके सम्बन्धों के बारे में दिनकर जी ने अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा है- "जब आर्य भारत वर्ष में आये थे, उस समय द्रविड़ और आग्नेय लोग पड़ोसी के समान रहते थे ।"[56]

आदिवासियों के बारे में पुनः दिनकर जी ने लिखा है- "एक तरह के लोग वे हैं जिनका कद छोटा, रंग काला, नाक चौड़ी और बाल घुंघराले होते हैं। इस जाति के लोग अक्सर जंगलों में बसते हैं। ये ही लोग इन आदिवासियों की संतान हैं। जो आर्यों और द्रविड़ों के आगमन के पूर्व इस देश में आकर बसे थे और जो, शायद जंगली जीवन के आदि होने के कारण अब तक भी शहरों से दूर जंगलों में ही रहने में सुख मानते हैं।"[57]

बाहरी जातियों के आने से आदिवासी एकान्त व जंगलों में बसते चले गये। 'कोयल के किनारे-किनारे,' महावीर वर्मा के अनुसार "उराँव कर्नाटक से गुजरात और वहाँ से बिहार में प्रविष्ट हुए। संभवतः अलाउद्दीन खिलजी के दक्षिण आक्रमण के समय उराँव जाति नर्मदा को पार कर उत्तर भारत में प्रविष्ट हुई है।"[58]

उराँव का इतिहास देखने से ज्ञात होता है कि उराँव डेकन के पठार से कर्नाटक, गुजरात, हड़प्पा, मोहनजोदड़ो होता हुआ रोहतासगढ़ में जमकर रह गया था। वहाँ उसका अपना राज्य कायम हो गया था। लेकिन वहाँ भी वह स्थिर नहीं रह सका और 12वीं सदी में मुसलमानों द्वारा रोहतासगढ़ में आक्रमण हुआ। उन्हें रोहतासगढ़ छोड़कर भागने के लिए विवश होना पड़ा। रोहतासगढ़ से निकलकर उराँव छोटानागपुर में प्रवेश किये एवं यहाँ के पठारी क्षेत्र में रह गये। रोहतासगढ़ से भागने के क्रम में एक भाग राजमहल की पहाड़ियों में जा बसा जिसे माल पहाड़िया कहा जाता है जिसकी भाषा माल्टो है । यह कुड़ुख़ भाषा से समानता रखती है ।

वर्तमान में उराँव जाति मुख्यत: झारखण्ड क्षेत्र में निवास करती है । यह क्षेत्र खनिजों से भरा पड़ा है । इस क्षेत्र में घने जंगल फैले हुए हैं । उराँव जाति रोहतासगढ़ से इस क्षेत्र में आयी, तब इन्हीं उबड़-खाबड़, पत्थरीली जमीनों को समतल करके एवं सघन वनों को साफ करके अपना निवास स्थान बनाया था । उस समय यहाँ पहले से मुण्डाओं का राज था । डॉ० बी० पी० केशरी के अनुसार मुण्डा जाति का आगमन 600 ईसा पूर्व है । इतिहासकारों के अनुसार मुण्डा जाति ने इन्हें अपने क्षेत्र में रहने के लिए छोटानागपुर के पश्चिमी क्षेत्र को दिया जो जंगलों से भरा था एवं जंगली खुंखार जानवरों का निवास था । उराँव यहाँ निवास करने लगे । इनकी जीविका का साधन मुख्यत: कृषि था । उराँव कृषि-कार्य में दूसरे आदिवासियों से निपुण एवं अत्यधिक परिश्रमी थे । इन्होंने जंगल काटकर जमीन समतल किया एवं कृषि योग्य भूमि तैयार किया और खेती करने लगे । साथ ही जंगल के फल-फूल, कन्द-मूल एवं जंगली जानवरों के शिकार से अपनी जीविका चलाते थे । समय अनुसार परिवर्तन ने इन्हें गहरे रूप से प्रभावित किया जिससे इनकी जरूरतें बढ़ने लगी । अपनी जरूरतों की पूर्ति हेतु इन्होंने धीरे-धीरे अन्य जातियों को साथ रखना शुरू किया । अपने व्यापारिक लाभ के लिए दूसरी जाति के लोग भी इनसे घुलने-मिलने लगे एवं इनके गाँवों के आस-पास निवास करने लगे । जिसमें लोहरा, कुम्हार, ठठेरा, तेली, बनिया, जुलाहा, अहीर इत्यादि प्रमुख हैं । लोहरा इनके कृषि कार्य एवं घरेलू कार्य हेतु औजार निर्माण करते थे । कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाते थे जो इनके दैनिक-जीवन में प्रयोग किया जाता था । तेली तेल पेरने का काम करते थे । बनिया इनके अन्य जरूरत के सामानों की आपूर्ति करते थे । जुलाहा कपड़े बुनाई का कार्य करते थे एवं अहीर जरूरत पड़ने पर इनके पशुओं की देखभाल किया करते थे । इस तरह से सभी जाति के लोग एक गाँव में मिल जुलकर रहते थे । उराँव गाँव के किनारे-किनारे इनकी टोली बसी होती थी । इस सम्बन्ध में डॉ० केशरी द्वारा लिखित 'झारखण्ड के सदान' में - "सदान लोग आमतौर पर आदिवासियों के गाँवों में या उनके आस-पास ही बड़े गाँवों में अपेक्षाकृत व्यवस्थित ढंग से रहते हैं। बड़े गाँवों में विभिन्न जाति के लोग प्राय: विभिन्न टोलों (मोहल्लों) में रहते हैं।"[59] इनकी ग्रामीण संस्कृति एक थी । सामाजिक संस्कृति अपनी जाति के अनुसार अपना अलग-अलग होता था। ये सभी एक दूसरे के सुख-दुख में सहभागी होते थे । डॉ० केशरी के अनुसार छोटानागपुर क्षेत्र सबसे पहले असुर सभ्यता एवं संस्कृति से प्रभावित था। 5वीं ईसा पूर्व मुण्डा जाति ने इन्हें पराजित किया । इसी काल में जैनियों का भी प्रभाव इस क्षेत्र में बढ़ा । पहली शताब्दी से नागवंशियों के आगमन से आर्य जीवन पद्धति एवं धर्म भी फैलता गया । अकबर के शासन काल के पहले इस क्षेत्र में तुर्क अफगान का सम्पर्क हो चुका था । अफगान सरदार जहाँ-तहाँ स्वतंत्र होकर स्थापित हो गये लेकिन फिर भी वह प्रभावी नहीं रहा ।

उराँव समाज

डॉ० केशरी के अनुसार नागवंशियों का छोटानागपुर में प्रवेश कलि संवत् 3165 तद्नुसार 121 विक्रमाब्ध यानि 64 ईसवीं में यहाँ (छोटानागपुर) में हुआ है । इनका मानना है कि नागवंशियों का छोटानागपुर में प्रवेश संभवतः सैन्य विजय न होकर सांस्कृतिक विजय का परिणाम था एवं आदिवासियों से उनका पारिवारिक सम्बन्ध था । उस समय छोटानागपुर में अधिकांश आदिवासियों की आबादी थी । किन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, आर्य जातियाँ भी यहाँ रहती थी और उनका आगमन होता रहता था । यहाँ के आदिवासी कई जातियों में बँटी हुई हैं जिनमें मुण्डा के अलावा हो, संताल, असुर, बिरहोर, बिरजिया, पहड़िया, उराँव, कोरवा, खड़िया इत्यादि हैं । सभी का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है । लेकिन ये आपस में विवाह सम्बन्ध नहीं बनाते हैं । बाकी अन्य कामों में सभी एक दूसरे के सहयोगी होते हैं । गाँव के सभी व्यक्ति किसी न किसी नाते-रिश्ते में बंधे होते हैं जैसे- काका-काकी, बड़ा-बड़ी, दादा-दादी, दादा-भवजी, बुचू आदि । इसके अलावा यहाँ सम्बन्ध बनाने का भी एक नया एवं अनोखा रिवाज था जैसे- सहिया, करम डाइर, फूल, जितिया, मिता, संगी एवं प्रसाद इत्यादि । इससे एक नये तरह के रिश्ते की शुरुआत होती थी और मित्रता का यह सम्बन्ध अन्ततः पूरे परिवार को एक सूत्र में बांध लेता था । आज भी यह प्रथा कायम है । युगों साथ रहते हुए इनका रहन-सहन, खान-पान, आर्थिक उपार्जन के तरीके एवं जीने के तौर-तरीके एक समान हो गये । इनके बीच संस्कृति का आदान-प्रदान भी हुआ । इनके नृत्य, गीत, संगीत, बाजे, ताल इत्यादि थोड़ी भिन्नता लिए करीब एक समान है । भाषा पर भी इसका प्रभाव पूरी तरह पड़ा है । उराँव बहुल गाँव में दूसरी अन्य जाति के लोग भी अच्छी तरह से कुड़ुख़ भाषा का प्रयोग करते हैं । उसी प्रकार सदान बाहुल्य गाँव में उराँव या अन्य आदिवासी जातियाँ अपनी भाषा छोड़कर सदानी, गंवारी भाषा का प्रयोग करते हैं । डॉ० केशरी के अनुसार - जो लोग इस क्षेत्र में आये और घर बनाकर रह गये एवं लम्बे अरसे से आदिवासियों के सान्निध्य में रहे, वे सदान कहलाए । (आर्य और नाग के अन्दर जितनी भी जातियाँ आती है, सभी मिलकर सदान कहलाये)।

नाग, आर्य और अनार्य आदिवासी जातियों से सम्बन्ध को बेहतर समझने के लिए डॉ० बी० पी० केशरी द्वारा लिखित पुस्तक 'झारखण्ड के सदान' पृ० सं० 71 से 97 तक विस्तार पूर्वक अध्ययन किया जा सकता है । इसमें उन्होंने आदिवासी और सदानों के अन्तर्सम्बन्धों का उल्लेख प्रत्येक क्षेत्र में किया है जिसमें सदान समाज और संस्कृति से सम्बन्धित (समाज व्यवस्था, गाँव-घर, सामाजिक सम्बन्ध, सामाजिक अनुष्ठान, राजनीतिक संगठन और प्रशासन, विनिमय-व्यापर, धार्मिक विचार, विश्वास, पर्व-त्यौहार, भाषा, लिपि, साहित्य, नाच-गान, खेल-कूद, शिक्षा-दीक्षा, खान-पान, घर-गृहस्थी के सामान एवं रंग-रूप, वेश-भूषा) सभी पक्ष शामिल हैं ।

विकास के नृतात्विक, पुरातात्विक, ऐतिहासिक, भाषायिक साहित्यिक और सांस्कृतिक साक्ष्य

किसी समाज के विकास के लिए उस समाज विशेष के सभी पक्षों का अध्ययन करना अति आवश्यक है । उराँव समाज को समझने के लिए हमें वापस नृतात्विक विकास पर आना होगा। चार्ल्स डारविन, हक्सले एवं हेकेल जैसे विद्वानों ने यह सिद्ध किया है कि मनुष्य की उत्पत्ति एवं विकास उद्विकास (Evolution) के क्रम में हुआ है । इन्होंने दुनिया को यह बताया कि मनुष्य की उत्पत्ति पशु योनि से ही उद्विवकास के क्रम में हुई। उद्विवकास के क्रम में मनुष्य ने वर्तमान रूप को पाया है जिसमें मनुष्य के शारीरिक अध्ययन से लेकर उनके सामाजिक (क्रियाओं-कानूनों, विश्वास, धर्म) अध्ययन सभी आते हैं।

दुनिया बहुत बड़ी है और उसी के अनुसार भौगोलिक क्षेत्र एवं जलवायु है। मनुष्यों पर भौगोलिक क्षेत्र एवं जलवायु का असर बहुत अधिक होता है । यह मनुष्य की शारीरिक बनावट, रंग-रूप, ऊँचाई सभी को गहरे रूप से प्रभावित करता है । इसी आधार पर दुनिया में क्षेत्र एवं जलवायु विशेष के अनुसार अलग-अलग तरह के लोग पाये जाते हैं जिसका अध्ययन मानवशास्त्र करता है एवं उनके प्रजाति का निर्धारण करता है। धरती में पहली बार जीवन का निर्माण लगभग 1,50,00,00,000 वर्ष पूर्व कई रसायनों व प्रोटीनों से मिलकर हुआ जिसका नाम प्ररस (Protoplam) रखा गया। इसी प्ररस से पशु तथा वनस्पति बना। इस तरह उद्विवकास से सम्बन्धित कई परिवर्तन एवं उनमें विकास होता गया और मानव का उद्‌भव हुआ। मानव के शारीरिक विकास का इतिहास करोड़ों वर्ष पुराना है । मानवशास्त्रियों ने मानव को वानरगण समूह का अग्रणी जीव कहा है और मानवगण समूह के बाद मानव के विकास को इस तरह से बताया है -

वानगरण समूह

↓

दोनों पैरों पर खड़ा होकर चलने वाले मानव

↓

मेधावी मानव

मेधावी मानव पैर के बल सीधा चलने लगा। इसका काल लगभग 25 से 30 लाख वर्ष पुराना माना जाता है । इसके बाद मानव पूर्ण शारीरिक रूप से विकसित माना जाने लगा। इसी काल क्रमिक विकास में मानव (शारीरिक) के विकास के साथ अन्य जन्तुओं का भी विकास (शारीरिक) होता गया।

इतनी बड़ी दुनिया, भौगोलिक एवं जलवायु की विभिन्नता के कारण क्षेत्र विशेष के मानव में विभिन्नताएँ हुई। बाद में मानव बुद्धिमान होता गया और कालक्रम में विकास करता गया। इसी क्रम में उसने मनुष्य को प्रजातियों में बाँट दिया। प्रजातीय दृष्टिकोण से मानव को बाँटने के लिए उसने मानव आकृति एवं शारीरिक लक्षण पर व्यापक जोर दिया। साथ ही अनुवंशकीय अध्ययन के क्रम में प्रजातियों के जीन्स (रक्त) का भी अध्ययन किया एवं प्रजातीय निर्धारण में प्रमुख तत्त्व पाये गये जो निम्न हैं –
(1) रक्त समूह (2) त्वचा का रंग (3) केश वर्ण (4) केश–आकार (5) शरीर आकार (6) अन्य भेद।

भारत में प्रजातीय वर्गीकरण के लिए मानवमित्ति और रक्त समूह को मानदण्ड रखा गया। कई विद्वानों ने इस आधार पर वर्गीकरण किया। किन्तु, हार्बट रिजले एवं गुहा के वर्गीकरण को महत्त्वपूर्ण माना गया। गुहा ने झारखण्ड के आदिवासियों को प्रजातीय वर्गीकरण में प्रोटोआस्ट्रोलायड प्रजाति के अन्तर्गत रखा। किन्तु विद्वान रिजले ने उन्हें द्रविड़ ग्रुप में रखा, लेकिन झारखण्ड के संताल, मुण्डा, हो, खड़िया, असुर, कोरवा एवं उराँव के प्रजातीय मानदण्डों को देखते हुए सभी झारखण्डी आदिवासियों को एक ही ग्रुप प्रोटोआस्ट्रोलायड में रखा गया। प्रजातीय मानदण्ड के अलावा सांस्कृतिक मानवशास्त्रीय अध्ययन आस्था, एकता एवं समानता की दृष्टि से भी इन्हें एक ही परिवार में रखना उचित है ।

भाषायिक दृष्टिकोण से उराँव जाति की भाषा कुड़ुख़ द्रविड़ परिवार में है। जबकि भाषाविदों के अनुसार संताल, हो, मुण्डा, खड़िया इत्यादि आस्ट्रिक (आग्नेय) भाषा परिवार में आते हैं। भाषा विभिन्नता के बावजूद भी इनके बीच समानता पायी जाती है । इस बात की सम्पुष्टि करते हुए महावीर वर्मा अपनी पुस्तक 'कोयल के किनारे-किनारे, में लिखते हैं- "उराँव लोगों की भाषा द्रविड़ भाषा परिवार की है और मुण्डाओं की भाषा आग्नेय भाषा परिवार की है। भाषा भेद होने पर भी दोनों जातियों के रहन-सहन और परम्पराओं में काफी समानता है।"[60] उराँव शब्द कुड़ुख़ भाषा में प्रयोग नहीं किया जाता है । कुड़ुख़

शब्द जाति एवं भाषा के लिए प्रयुक्त होता है । उराँव जाति अपनी भाषा कुड़ुख़ में स्वयं को उराँव न कहकर 'कुड़ुख़' शब्द से सम्बोधित करता है जो इस प्रकार है –

कुड़ख़न – एकवचन (स्वयं के लिए)– एन कुड़ख़न तलदन। (मैं उराँव हूँ)
कुड़ख़स – एकवचन (मध्यम पुरुष)– आस कुड़ख़स तलदस। (वह उराँव है)
कुड़ख़य – एकवचन (मध्यम पुरुष)– नीन कुड़ख़य तलदय। (तुम उराँव हो)
कुड़ख़र – बहुवचन (अन्य पु०) – आर कुड़ख़र तलनर। (वे उराँव है)
कुड़ख़त – बहुवचन (सामान्य)– नाम कुड़ख़त तलदत। (हम लोग उराँव हैं)

'कुड़ुख़' शब्द से उनके आन्तरिक भाव, उनकी उत्पत्ति एवं काल क्रमिक विकास को जाना जा सकता है । उराँव शब्द उनका अपना नहीं है । यह शब्द बाहरी लोगों द्वारा दिया गया नाम है । लेकिन वर्तमान कालक्रम में इनका इतिहास इसी शब्द से जुड़ा हुआ है ।

कुड़ुख़ भाषा एक समृद्ध भाषा है । इसे बोलने वालों की संख्या 1971 के अनुसार 11,32,931 है । यह भाषा मुख्यत: झारखण्ड के लोहरदगा, गुमला, पलामू, राँची, सिंहभूम, हजारीबाग, आदि जगहों में बोली जाती है । इसके अलावा भारत के विभिन्न राज्यों – असम, बंगाल, बिहार, उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, छत्तीसगढ़, उड़ीसा तथा अण्डमान निकोबार द्वीप समूह में कुड़ुख़ भाषी लोग बहुत हैं । नेपाल में भी कुड़ुख़ भाषियों की संख्या कम नहीं है । उराँव जाति का प्रवर्जन एवं विस्थापन हमेशा से होता रहा है । वे जीविका की तलाश में विभिन्न राज्यों में जाते हैं एवं रोजी-रोटी की आस में वहीं बस जाते हैं अत: भारत के अन्य राज्यों में भी कुड़ुख़ भाषी मिल जायेंगे । कहा जाता है :-

"चार कोस में बदले पानी और आठ कोस में बदले वाणी ।"

इस कहावत को चरितार्थ करते हुए उराँव जहाँ भी गये वहाँ उनकी भाषा में कुछ न कुछ परिवर्तन होता गया। कुछ शब्द छूट गये तो कुछ नये स्थानीय शब्द जुड़ गये। कहीं बोली का टोन, लय छूट गया तो कहीं नया जुड़ गया। इसी तरह से कुड़ुख़ भाषी क्षेत्रों में बाहरी एवं दूसरी जाति के लोगों के आगमन से स्थानीय उराँव उनकी भाषा बोलने लगे एवं अपनी भाषा उन्हें भी सिखाया। इस आदान-प्रदान में कुछ-कुछ शब्दों का छूटना, बढ़ना या उनमें परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। लेकिन कुछ परिवर्तन और मिश्रण का यह अर्थ नहीं कि भाषा का अस्तित्त्व ही समाप्त हो जाय। भाषा मानव जीवन का मुख्य अंग है । भाषा के बिना मानव पशु बन जायेगा। उराँव अपनी इस समृद्ध भाषा को नित्य प्रतिदिन

प्रयोग में लाते हैं। यह भाषा विकास के रास्ते पर अग्रसर है। इसकी अपनी लिपि एवं साहित्य विकसित है। जल्द ही कुड़ुख़ भाषा आठवीं अनुसूची में नाम दर्ज करा लेगा। कुड़ुख़ भाषा साहित्य के विकास में लिपि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुड़ुख़ भाषा की लिपि 'तोलोंग सिकि' है। अपनी लिपि 'तोलोंग सिकि' के अलावा अन्य चार लिपियाँ प्रयोग में लायी जाती है। जिसमें देवनागरी प्रमुख है। इसके साथ ही रोमन, बांग्ला एवं उड़िया भी प्रयोग में लाया जाता है। सभी भाषाओं की तरह कुड़ुख़ साहित्य भी लोक साहित्य एवं शिष्ट साहित्य के रूप में आगे बढ़ रहा है। लेकिन शिष्ट साहित्य की अपेक्षा लोक साहित्य अत्यधिक भरा-पूरा है। प्रारंभिक काल में यह मौखिक परम्परा में ही फूलता-फलता रहा। अभी भी कुड़ुख़ साहित्य रचना को और आगे बढ़ाने की अति आवश्यकता है क्योंकि इनकी मौखिक परम्परा में ही उराँव समाज का धर्म, संस्कृति और इतिहास छिपा हुआ है। यदि इसे साहित्यिक रूप नहीं दिया गया तो भविष्य में उराँव समाज के पास कुछ भी लिखित रूप नहीं होगा और इसका दुष्परिणाम समाज को भुगतना पड़ेगा। आज उराँव जाति के पास रोहतासगढ़ का इतिहास लिखित विस्तृत रूप में नहीं है। आज भारतीय इतिहास में जिस तरह से अन्य जातियों का विस्तृत वर्णन मिलता है उसी तरह उराँव समाज का भी अपना इतिहास होना चाहिए। पुरातात्विक विभाग के पास उराँव जाति का साक्ष्य कुछ भी नहीं मिलता है। इसका मुख्य कारण है कि इतिहावेत्ताओं ने उराँव जाति के इतिहास को तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत किया है। पुरात्व विभाग एवं पुरातत्ववेत्ताओं ने भी उराँव जाति से सम्बन्धित कोई ठोस अनुसंधान एवं साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया है, जबकि सम्पूर्ण झारखण्ड में पुरात्त्व सम्बन्धी कार्य करने की आवश्यकता है। सरकार की नजर यहाँ की खनिज सम्पदा पर पड़कर सभी खदानों तक तो पहुँच गयी है, किन्तु झारखण्ड की सांस्कृतिक पहलुओं से सम्बन्धित परती जमीनों (पुरातात्विक अवशेषों) को अनदेखा किया है। झारखण्ड राज्य की सम्पदा का उपभोग राष्ट्र, वैश्विक रहा लेकिन यहाँ के आदिवासियों को सुधारने की सुध किसी ने नहीं ली है। अभी तक खोज-खबर न कर सरकार ने उनकी उपेक्षा ही की है। यहाँ की जनजातियाँ उपेक्षित रही हैं। उराँव वनस्पति (पेड़-पौधे), सूर्य, धरती, पहाड़, नदी पर आस्था रखते हैं एवं एक अदृश्य शक्ति को मानते एवं पूजते हैं। वे कहीं भी, किसी जगह इसकी आराधना कर सकते हैं। वर्तमान स्थिति में दुनिया से जंगल का नामोनिशान समाप्त हो रहा है। झारखण्ड क्षेत्र में यह कार्य और तेजी से हो रहा है। इनके साक्ष्य मिटाने की दिशा में बचे-खुचे जंगलों को भी जल्द से जल्द समाप्त किया जा रहा है। वर्तमान में इनकी विशिष्ट सांस्कृतिक विरासत ही इनका साक्ष्य है।

गोत्र

1	आदिमधर्म एक परिचय	ख्रिस्टोफर अगस्तुस बिकसल तिर्की	पृष्ठ 68
2	भारतीय जन संस्कृति	डी० एन० मजूमदार	79
3	आदिमधर्म एक परिचय	ख्रिस्टोफर अगस्तुस बिकसल तिर्की	77
4	वेब्सटर्स न्यू वर्ल्ड डिक्सनरी		
5	मानक हिन्दी कोश	रामचन्द्र वर्मा	
6	मुंडा एवं उराँव का धार्मिक इतिहास	दिवाकर मिंज	187
7	भारतीय समाज तथा संस्कृति	गुप्ता एवं शर्मा	520
8	भारतीय समाज तथा संस्कृति	गुप्ता एवं शर्मा	''
9	कोरकू जनजीवन	अशोक द पाटिल	125
10	भारत के आदिवासी	अजीत कुमार सिंह, अवधेश प्र० सिन्हा	37
11	बिहार का जनजातीय जीवन	उमेश कु० वर्मा	31
12	भारत के आदिवासी	अजीत कुमार सिंह, अवधेश प्र० सिन्हा	32
13	भारत के आदिवासी	अजीत कुमार सिंह, अवधेश प्र० सिन्हा	32
14	भारत के आदिवासी	अजीत कुमार सिंह, अवधेश प्र० सिन्हा	32
15	भारत के आदिवासी	अजीत कुमार सिंह, अवधेश प्र० सिन्हा	89
16	खड़िया लोककथाओं का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन	रोज केरकेट्टा	40
17	खड़िया लोककथाओं का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन	रोज केरकेट्टा	41
18	मुण्डा एवं उराँव का धार्मिक इतिहास	दिवाकर मिंज	187
19	सामाजिक मानवशास्त्र	उग्रनाथ झा, माखन झा	127
20	सामाजिक मानवशास्त्र	उग्रनाथ झा, माखन झा	127
21	सामाजिक मानवशास्त्र	उग्रनाथ झा, माखन झा	127+128

22	सामाजिक मानवशास्त्र	उग्रनाथ झा, माखन झा	127+126
23	भारतीय समाज तथा संस्कृति	गुप्ता एवं शर्मा	513-4
24	आदिवासियों के बीच	श्री चन्द्र जैन	99-100
25	आदिवासियों के बीच	श्री चन्द्र जैन	99
26	बिहार के आदिवासी	जियाउद्दीन अहमद	112
27	बिहार के आदिवासी	जियाउद्दीन अहमद	112
28	बिहार के आदिवासी	जियाउद्दीन अहमद	103
29	बिहार के आदिवासी	जियाउद्दीन अहमद	103
30	छोटानागपुर के आदिवासी और उनके गोत्र	अगस्टीन महेश कुजूर	21
31	ख्रिस्टोफर अ० बि० तिर्की	आदिम धर्म एक परिचय	71
31A	ख्रिस्टोफर अ० बि० तिर्की	आदिम धर्म एक परिचय	72
34	सामाजिक मानवशास्त्र	माखन झा, उग्रनाथ झा	77
35	सामाजिक मानवशास्त्र	माखन झा, उग्रनाथ झा	77
36	An Introduction to Anthropology (1956)	वील्स तथा हाइजर	382
37	"The Social Life of Monkey and Apes"	जुकरमेंन	225
38	Race and Culture of India	D.N. Mazumdar	163
39	भारतीय समाज में जन-जातिगण	श्री नर्मदेश्वर प्रसाद	42
40	रवि तोमर व सुमनेश कुमार	मानवशास्त्र	
41	'The Death of the Hired Man' Complete poems of Robert Frost Newyork : Henry Holt and Company Inc. (1949)	Robert Frost	49-55

42	'The Family' from Institution to Companionship (2nd Edition, American Book Co, Newyork, 1953)	Burgess, Ernest W. and Locke, Harwey J.	25
43	Dictionary of Anthropology	Charles Winick	302
44	सामाजिक मानवशास्त्र	उग्रनाथ झा, माखन झा	116
45	बिहार के आदिवासी	जियाउद्दीन अहमद	103
46	उराँव संस्कृति	मिखाएल कुजूर	60
47	Dictionary of Sociology	B. Bhushan	15
48	Dictionary of Sociology	B. Bhushan	15
49	Dictionary of Sociology	B. Bhushan	312
50	Sociology	E.S. Bogardus	75
51	An Introduction to Social Anthropology	Mazumdar & Madan	79
52	सामाजिक मानवशास्त्र	उग्रनाथ झा, माखन झा	100
53	भारत के आदिवासी	डॉ० अजीत कु० सिंह, अवधेश प्र० सिन्हा	28
54	कश्मीर देश व संस्कृति	शिवदान सिंह	103
55	बिहार के आदिवासी	जियाउद्दीन अहमद	100
56	संस्कृति के चार अध्याय	रामधारी सिंह दिनकर	34
57	संस्कृति के चार अध्याय	रामधारी सिंह दिनकर	34
58	कोयल के किनारे किनारे	महावीर वर्मा	
59	झारखण्ड के सदान	बी० पी० केशरी	78
60	महावीर वर्मा	कोयल के किनारे-किनारे	71

तृतीय अध्याय

उराँव के जीवन-वृत संस्कार

किसी भी व्यक्ति का जीवन-चक्र जन्म से प्रारम्भ होता है और मृत्यु पर समाप्त हो जाता है । प्रत्येक जाति या समाज में संस्कारों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है । प्रत्येक समाज में धार्मिक जीवन के लिए परिशुद्धता एवं पवित्रता को आवश्यक माना गया है । विश्व के सभी समाज में धर्म को जीवन का आवश्यक अंग माना ज़ाता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मनुष्य को विभिन्न संस्कारों से गुजरना पड़ता है जो समाज द्वारा निश्चित की गयी है । ये संस्कार ही वे माध्यम हैं जिनके द्वारा व्यक्ति समाज का पूर्ण विकसित सदस्य बन जाता है । किसी भी संस्कार के अन्तर्गत व्यक्ति को विभिन्न अनुष्ठान या प्रतीकात्मक क्रियाकलाप से गुजरना पड़ता है, जिससे उसका जीवन परिशुद्ध एवं पवित्र माना जाता है । इस तरह संस्कार व्यक्ति को आत्मशुद्धि एवं उसे सामाजिक दायित्वों से भली-भांति परिचित कराते हैं । इस दृष्टि से संस्कार एक धार्मिक, सामाजिक प्रत्यय है जो व्यक्ति को अपने समाज के सांस्कृतिक जीवन का बोध कराता है । संस्कार शब्द का अर्थ बताते हुए राव ने लिखा है कि "संस्कार वह है जिसके सम्पादन से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के योग्य हो जाता है ।" संस्कार शब्द को और अधिक स्पष्ट करते हुए वीट महोदय ने लिखा है कि "यह एक विलक्षण योग्यता है जिसके द्वारा व्यक्ति विभिन्न क्रियाओं के योग्य होता है एवं विभिन्न दोषों से मुक्त हो जाता है ।"

उपर्युक्त सभी कथनों से स्पष्ट है कि संस्कार वे आवश्यक माध्यम हैं जिनके द्वारा व्यक्तियों को अनुशासित एवं दीक्षित किया जाता है । ये वे माध्यम हैं जिनके द्वारा व्यक्तियों को समाज के मूल्यों, प्रतिमानों एवं आदर्शों से परिचित कराया जाता है और उनके अनुरूप व्यवहार करने की दृष्टि से ही उन्हें संस्कारित या दीक्षित किया जाता है । स्पष्ट है कि संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति के सम्मुख ऐसा वातावरण प्रस्तुत किया जाता है कि वह अपनी संस्कृति से सम्बन्धित मूलभूत बातों को समझ सके और उसी के अनुरूप अपने जीवन को ढाल सके । यह उसकी निरंतरता, अस्तित्त्व, स्थायित्व, अभिवृद्धि और उपलब्धि का आधार है । यही कारण है कि जन्म और मृत्यु के बीच सम्पादित अनेक संस्कार समाज के आकार, ढाँचे, मूल्य, आदर्श, विश्वासों और नैतिकता के प्रतिमानों के साथ ही व्यक्ति विशेष की मानसिक स्थिति, बौद्धिक स्तर, आर्थिक स्थिति व आवश्यकता के अनुरूप होते हैं । प्रत्येक समाज में मुख्यत: तीन संस्कार पाये जाते हैं ।

उराँव के जीवन-वृत संस्कार

(1) जन्म संस्कार

(2) विवाह संस्कार

(3) मृत्यु संस्कार

उराँव समाज भी इन संस्कारों से परे नहीं है ।

(1) जन्म संस्कार - जन्म संस्कार उराँव समाज का महत्त्वपूर्ण संस्कार है । स्वाभाविक प्रक्रिया के तहत जैसे ही घर की बहू गर्भवती होती है, पहला संस्कार किया जाता है जिसे उराँव अपनी भाषा में 'अचरैल कमना' या 'जोदा कमना' कहते हैं। यह जन्म से सम्बन्धित एक प्रक्रिया है इसे गर्भवती होने के 2 से 5 महीने के बीच में सम्पन्न कर लिया जाता है ताकि गर्भस्थ शिशु और माँ पर किसी तरह की विपत्ति न आये। ऐसा माना जाता है कि इस संस्कार को नहीं करने से प्रसव में बाधा आती है । प्रसव ठीक से हो भी जाय तो बच्चे को माँ का दूध नहीं मिल पाएगा अर्थात माँ का दूध सूख जाता है तथा जच्चा और बच्चा हमेशा बीमार रहते हैं। कभी-कभी बच्चा शारीरिक और मानसिक रूप से विकलांग भी पैदा होता है। कारण जो भी हो, लेकिन इनके मन में यह भय और शंका बनी रहती है कि 'अचरैल' संस्कार न करने के कारण हमें यह दुर्दिन झेलना पड़ रहा है । झारखण्ड के अन्य आदिवासी भी इस संस्कार को करते हैं। लेकिन सभी इसे अलग-अलग नामों से जानते हैं मुण्डा इसे 'गंड़ासी बोंगा' कहते हैं।

इस संस्कार का अपना नियम, विधि-विधान है । इस क्रिया को लड़के के घर में सम्पन्न किया जाता है और इसमें दोनों परिवार यानि वर-वधू दोनों के सदस्य उपस्थित होते हैं। इस संस्कार को सम्पन्न करने में जो भी खर्च आता है वह दोनों परिवार वहन करते हैं । इस क्रिया विशेष को सम्पन्न करने के लिए कई आवश्यक वस्तुओं की जरूरत होती है । इस पूजा में भेड़ अथवा सूअर की बलि दी जाती है। बलि इसलिए दी जाती है कि वधू के साथ उसके मायके से जो 'नाद' आया है वह वापस चला जाय क्योंकि वह लड़की अब किसी दूसरे परिवार, खूंट की बहू है।

इस क्रिया के पश्चात् गर्भवती महिला सामान्य होकर दैनिक कार्यों का निर्वहन करती है । सामान्यतः गर्भवती महिलाएँ घर-बाहर के सभी कामों में सक्रिय रूप से भाग लेती है । उराँव लोगों का मानना है कि गर्भवती महिला के लगातार सक्रिय रहने से वह तंदुरुस्त रहती है एवं प्रसव के समय उसे कष्ट नहीं होता है। लेकिन सामाजिक मान्यता के अनुसार कुछ निषेध भी है जिसे गर्भवती महिला एवं उनके पुरुष को मानना पड़ता है । जैसे गर्भवती महिलाओं को घर से

बाहर अकेले नहीं जाने दिया जाता है । इसके पीछे मान्यता यह है कि गर्भवती महिला को भूत या चुड़ैल का नजर लग जाएगा और ऐसी स्थिति में गर्भपात होने का डर रहता है । गर्भवती महिला के साथ-साथ उसके पुरुष को भी श्मशान में जाना निषेध होता है । छत्तीसगढ़ के कोरकू जनजाति भी गर्भ काल के दौरान कई प्रकार के निषेधों का पालन करते हैं लेकिन कोरकुओं में पुरुष पर कोई निषेध नहीं होता है जबकि उराँव पुरुषों पर भी निषेध लागू होता है । जैसे- गर्भवती महिला का पति गर्भकाल के दौरान जीव-हत्या नहीं करता है साथ ही सामूहिक शिकार में मारे गये पशु के सिर वाले हिस्से को खाने के लिए नहीं दिया जाता है ।

उराँव गर्भवती महिलाओं को खाने-पीने सम्बन्धी निषेध नहीं है जबकि कोरकू गर्भवती महिलाओं को खाने-पीने पर कुछ निषेध है । इस सम्बन्ध में डॉ० अशोक द पाटिल ने अपनी पुस्तक 'कोरकू जनजीवन' में लिखा है- "स्त्री इस दौरान न मछली पकड़ती है न मांस खाती है और न ही मद्यपान करती है ।"[1] इसी तरह अन्य आदिवासियों में भी अलग-अलग तरह के कुछ न कुछ निषेध होते हैं जिसे हर गर्भवती महिला को मानना पड़ता है । चाहे वह परम्परा के अनुसार हो या स्वयं भयवश मानती हो ।

शिशु के जन्म के बाद जच्चा-बच्चा दोनों को घर के अन्य लोगों से अलग बहुत सावधानी से रखा जाता है एवं उसकी पूर्ण देखभाल की जाती है । उसे घर के अन्य भाग में नहीं जाने दिया जाता है क्योंकि छठी न होने तक उसे छूत माना जाता है । बच्चे के जन्म के छठे दिन जच्चा-बच्चा दोनों को विधि-विधान के तहत नहलाया जाता है, पूरे घर की सफाई की जाती है एवं जच्चा-बच्चा का बिछावन को अच्छी तरह से धो-पोंछकर साफ किया जाता है । उस दिन सभी नाते-रिश्तेदार को आमंत्रित किया जाता है । आर्थिक स्थिति अच्छी रही तो लोग टोला-मोहल्ला एवं गाँव के लोगों को भी आमंत्रित करते हैं । कुछ बुजुर्ग महिलायें सभी विधियों को सम्पन्न करती हैं । कुछ नियम ऐसे हैं जिसे नदी या तालाब में ही सम्पन्न किया जाता है । घर में सफाई का कार्य पूर्णतः समाप्त करने के बाद बुजुर्ग महिलायें तालाब या नदी में स्नान के लिए निकलती हैं । घर से निकलते समय घर से कुछ कचड़ा लेकर निकलती है जिसमें मुख्य रूप से एक खजूर के चटाई का टुकड़ा और कुछ पुआल अवश्य होता है या पुराना-फटा एक चटाई होता है । घर से निकलकर कुछ दूरी पर महिलाएँ उसमें आग लगा देती हैं फिर वे सभी नदी, तालाब की ओर बढ़ जाती हैं । यह प्रतीक स्वरूप है । यह अधजला कचड़ा या राख का ढेर दो चीजों को इंगित करता है (1) पूर्ण रूपेण सफाई (2) प्रसव

का । इस चिह्न को देखकर राहगीर या टोले मोहल्ले के लोग अनुमान लगा लेते हैं कि अगल-बगल में नये बच्चे का आगमन हो चुका है । इस तरह सफाई का कार्य समाप्त हो जाने के पश्चात् सभी महिला-पुरुष नहा-धोकर छठी वाले घर में एकत्रित होते हैं एवं नामकरण की प्रक्रिया शुरू की जाती है । इसे उराँव अपनी भाषा में 'नामें पिंज्जना' कहते हैं । इस प्रक्रिया के तहत नाना-नानी या दादा-दादी कोई एक बच्चे को अपनी गोद में लेते हैं। सामने में एक बड़ा दोना जिसे उराँव अपनी भाषा में 'सोड़ा' कहते हैं, रखा जाता है । इसमें वे अरवा धान रखते हैं। इस धान को हाथ से छिलकर चावल का दाना निकाला जाता है । एक दूसरे 'सोड़ा' में पानी भरकर रखा जाता है । इस 'नामें पिंज्जना' विधि को सम्पन्न करने के लिए अन्य सामानों की भी जरूरत होती है । लेकिन मुख्य रूप से यही दो वस्तु होते हैं। सभी लोग चारों ओर बैठ जाते हैं। छिले हुए चावल का पहला दाना 'धर्मेस' का नाम लेकर पानी में डाला जाता है । यदि यह चावल का दाना पानी में डूब गया तो दूसरा दाना फिर उसी तरह पानी में गिराया जाता है । जब एक दाना तैरने लगे तब किसी भी पूर्वज का नाम लेकर (प्रायः दादा-दादी, नाना-नानी) फिर चावल का दूसरा दाना गिराया जाता है । इसके बाद यह देखा जाता है कि दूसरा चावल का दाना पहले तैरने वाले दाने से सटता है या नहीं। यदि दूसरा चावल पहले वाले चावल से सट जाता है तो जिसके नाम पर चावल का दाना गिराया गया था वही उसका 'साखी' नाम कहलाता है । यह उनके पूर्वजों का नाम होता है । (उराँव का विश्वास है कि मृत्यु पश्चात् उस मृत-व्यक्ति का शरीर खराब हो गया अर्थात शरीर मरा है, आत्मा जीवित है और वह जीवित आत्मा हमेशा उनके घर में उनके साथ रहता है) उनकी याद में वे नये बच्चे का नाम पूर्वजों के नाम पर रखते हैं। इसलिए उराँव समाज में जन्मदिन वाले वार को विवाह सम्पन्न नहीं किया जाता है। छठी (नामकरण) संस्कार के विषय में लेखक अशोक द पाटिल ने पुनः अपनी पुस्तक में लिखा है "अतीत में बालक का नाम उसमें परिलक्षित किसी विशेषता, शारीरिक दोष या गुण, जिस दिन उसने जन्म लिया है उस दिन के नाम पर पड़िहार के कथनानुसार जिस पूर्वज की आत्मा ने शिशु के रूप में पुनर्जन्म धारण किया है उस पूर्वज के नाम पर अथवा पारम्परिक शैली में प्रचलित नामों के आधार पर रख दिया जाता था।"[2] इस तरह हम देखते हैं कि 'साखी' नाम का अपना अलग महत्त्व उराँव समाज में पाया जाता है । इसके साथ ही उराँव समाज में बच्चे के जन्म दिन के आधार पर भी नामकरण होता है । जैसे- सोमरा, मंगरा-मंगरी, बुधवा-बुधनी इत्यादि । इस तरह इस समाज में तीन प्रकार से नामकरण होता है ।

तीनों की अपनी अलग विशेषता व महत्त्व है । 'साखी' नाम और पैदा हुए दिन के नाम का सामाजिक रूप से विशेष महत्त्व है । इसे उराँव अपने अस्तित्त्व से अलग नहीं कर सकते हैं क्योंकि 'साखी' नाम से पूर्वज जुड़े हुए हैं । वे अपने पूर्वजों को अपने से कभी अलग नहीं कर सकते । पैदाइस दिन का विशेष महत्त्व विवाह के समय होता है । इस सम्बन्ध में सरन उराँव ने अपनी लेख 'जनजातियों में संस्कार' में लिखा है "इसलिए जनजातीय समाज में बच्चे के जन्म दिन को उसकी शादी का मंडप नहीं गाड़ा जाता है ।"[3]

उराँव समाज में लोग भले ही आधुनिक नाम नहीं रखें लेकिन 'साखी' नाम और पैदाइस दिन के नाम से जुड़ा नाम इनके लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है । जन्म दिन छोड़कर दूसरे दिन विवाह के लिए निश्चित किया जाता है । इस तरह से शिशु का :-

पहला नाम - जन्म दिन यानि किस वार को है । यह उसका पहला नाम होता है जैसे - मंगरा-मंगरी, एतवा-एतवारी, शनिचरवा-शनिचरिया इत्यादि ।

दूसरा नाम - यह पूर्वजों पर रखा गया 'साखी' नाम होता है ।

तीसरा नाम - यह आधुनिक परिवेश के आधार पर परिवार वालों की इच्छा के अनुसार होता है ।

इस प्रकार नामकरण संस्कार के विधि-विधान समाप्त होते ही मुख्य 'साखी' नाम की घोषणा कर दी जाती है । इसके पश्चात सभी एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं, खुशियाँ मनाते हैं एवं खान-पान, नृत्य-गीत द्वारा इस संस्कार को सम्पन्न करते हैं । छठी संस्कार में लोग उपहार स्वरूप अपनी इच्छा से कुछ छोटी-मोटी वस्तुएँ देते हैं । ग्रामीण इलाकों में चावल-दाल जैसे अनाज को ही भेंट स्वरूप दी जाती है जिससे कि आयोजक परिवार को थोड़ी मदद मिल जाय । उराँव में जन्म संस्कार से सम्बन्धित मुख्य संस्कार छठी ही होता है । इसी में छुतका मिटाना (जच्चा-बच्चा को स्नान कराकर साफ करना, बच्चे का मुंडन करना घर आंगन की सफाई एवं पूरे परिवार में जच्चा-बच्चा को शामिल) किया जाता है । नहा-धोकर पवित्र होने के बाद प्रसूता महिला कुआँ, चूल्हा, रसोईघर तथा घर के पूजा स्थल में सिंदूर डालती है । तभी अन्य क्रिया में भाग लेती है । इस तरह नामकरण संस्कार की समाप्ति हो जाती है ।

बच्चे के कुछ बड़े हो जाने के पश्चात् पुनः एक संस्कार किया जाता है जिसे 'कनबेधी' संस्कार कहा जाता है । डॉ० अशोक द पाटिल ने कनबेधी के बारे

में लिखा है – "इस दृष्टि से बाल्यकाल में ही लड़के-लड़कियों के कान छेदने का प्रचलन रहा है ।"[4] उराँव समाज में इस संस्कार के बिना विवाह नहीं होता है । जिस बच्चे को कनबेधी संस्कार नहीं हुआ होता है उन्हें विवाह के पूर्व इस संस्कार को किया जाता है। तत्पश्चात विवाह की रस्म की जाती है । छठी की तरह ही 'कनबेधी' हर बच्चे के लिए आवश्यक है । इस तरह से बच्चे को उराँव जाति का सदस्य बना लिया जाता है ।

बाल्यकाल की समाप्ति पर जैसे ही बच्चे किशोरावस्था में प्रवेश करते हैं उन्हें और कई छोटे-बड़े संस्कार से गुजरना पड़ता है । जैसे- धुमकुड़िया में प्रवेश संस्कार । धुमकुड़िया उराँवों का मुख्य धार्मिक, सामाजिक, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक संस्था है । इसी में उराँव समाज का नींव खड़ा है । इसके माध्यम से उराँव समाज अपने बच्चों को भावी जीवन की सीख देता है । धुमकुड़िया के विषय में डॉ० दिवाकर मिंज ने अपनी पुस्तक 'मुण्डा एवं उराँव का धार्मिक इतिहास' में लिखा है – "धुमकुड़िया उराँव जनजाति में एक ऐसी संस्था है जहाँ उराँव युवकों-युवतियों को हर प्रकार की शिक्षा मिलती है तथा वे यहाँ कार्य कुशलता अर्जित करते हैं ।"[5]

धुमकुड़िया में कुछ वर्षों की शिक्षा (जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में) के बाद ही उन्हें विवाह योग्य समझा जाता है । जैसे लड़कियों को कृषि कार्यों में दक्ष करना, खाना बनाना, चटाई बनाना, झाड़ू बीनना, नेठो, बिंडो बनाना इत्यादि काम सीखने के बाद ही विवाह योग्य समझा जाता था। उसी तरह लड़कों को छप्पर छारना, हल चलाना, अन्य कृषि कार्य सीखना, भार ढोना, मछली पकड़ना तथा शिकार करना जैसे काम को सीखने के पश्चात् ही विवाह योग्य समझा जाता था। इन सभी कार्यों का प्रशिक्षण धुमकुड़िया में दिया जाता था। धुमकुड़िया में प्रवेश हेतु अपना विधि-विधान है जिसे गाँव वाले मिलकर सम्पन्न करते थे ।

(2) **विवाह संस्कार** – यह उराँव लोगों का एक मुख्य संस्कार है । उराँव समाज में अपनी ही जाति में बहिर्गोत्रीय विवाह का प्रचलन हैं। ये कई गोत्रों में बँटे होते हैं । इनमें सगोत्र विवाह नहीं होता है । विवाह के सम्बन्ध में बातचीत करने से पहले ही गोत्र का पता लगा लिया जाता है । एक गोत्र का लड़का-लड़की भाई-बहन माने जाते हैं । अतः विवाह दूसरे गोत्रों में ही होता है। उराँव विवाह संस्कार की यह विशेषता है कि विवाह के लिए वधू की खोज वर पक्ष वाले ही करते हैं। यह कार्य 'अगुवा' के माध्यम से होता है जो दोनों ही परिवारों से किसी न किसी तरह परिचित होता है । लड़की के माता-पिता द्वारा वर की खोज करना समाज में अपमान समझा जाता है । अतः कन्या पक्ष से वर की खोज नहीं

की जाती है । विवाह में तिलक या दान-दहेज लेने-देने का रिवाज नहीं है । विवाह का तय होना प्राय: माता-पिता या बुजुर्गों द्वारा होता है । दोनों पक्ष से सहमति मिलने पर 'मेहमानी' की रस्म अदा की जाती है । यह अति आवश्यक है । वर पक्ष के यहाँ आने वाले मेहमानी को उराँव 'घरबरी' कहते हैं। इसमें परिवार के सदस्य, सगे-सम्बन्धी करीबी दोस्त के अलावा गाँव का मुख्य व्यक्ति महतो, पाहन इत्यादि का होना अत्यंत आवश्यक है । गाँव का पाहन इस अवसर पर कुछ विधि-विधान करता है । जिसका साक्षी महतो के अलावा गाँव के अन्य व्यक्ति एवं सगे-सम्बन्धी होते हैं। उराँव समाज में विवाह को धर्म से जोड़ा गया है। इनके मुख्य पर्व 'खद्दी' में धरती माता और सूर्य देव का विवाह कराया जाता है । जिससे वनस्पति जगत् की सृष्टि हुई । प्रकृति में भी सृष्टि के विकास हेतु इसी 'ख़द्दी' पर्व का आधार माना गया है । डॉ० रामदयाल मुण्डा ने स्मारिका 'सरना' में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "आप जिस धर्म की बात करते हैं, सारा जगत् वाले परोक्ष रूप से उसी के अवलम्बी हैं "[6] ख़द्दी पर्व' (सरहूल पर्व) की विस्तृत चर्चा दूसरे अध्याय में की गयी है ।

उराँव समाज में लोगों की सुविधा हेतु विवाह के नियम को लचीला बनाया गया है । इसके तहत पति-पत्नी में सम्बन्ध विच्छेद को भी मान्यता प्राप्त है । सम्बन्ध विच्छेद के लिए पहल कन्या पक्ष का होता है तो उसे स्वयं वधू मूल्य लौटाना पड़ता है और वर पक्ष वालों का पहल रहा तो एक जोड़ा हल बैल वर पक्ष वाले कन्या पक्ष को देते हैं । इन क्रिया-कलापों में गाँव के कुछ व्यक्ति, पाहन, महतो एवं सगे-सम्बन्धी होते हैं। इस तरह सामाजिक रूप से जिस तरह विवाह के बंधन में बंधते हैं उस तरह सामाजिक रूप से विवाह-विच्छेद भी होता है । लेकिन यह कार्य आसानी से नहीं हो पाता है । सबसे पहले विवाद को आपसी और पारिवारिक रूप से हल करने की कोशिश की जाती है । लेकिन स्थिति विपरीत होने पर ही विवाह-विच्छेद की सहमति मिलती है एवं समाज का सहयोग मिलता है । अलग होने के पश्चात् दोनों ही अपनी इच्छा से कभी भी पुन: विवाह कर सकते हैं ।

उराँव समाज में विधवा विवाह का भी प्रचलन है । विधवा महिला की संतान होने पर भी विवाह सम्पन्न होता है । नियमत: संतान यदि लड़की हुई तो प्राय: विवाह करने वाला व्यक्ति उस संतान को भी अपनी संतान के रूप में स्वीकार कर लेता है । संतान यदि लड़का है तो विवाह करनेवाला पुरुष प्राय: उस बच्चे को स्वीकार नहीं करना चाहता है, क्योंकि फिर उसे सम्पत्ति में हिस्सा देना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में लड़के बच्चे को अपने ही घर में छोड़ दिया जाता है जहाँ उसके

दादा-दादी, चाचा-चाची, बुआ आदि संरक्षक होते हैं । उराँव समाज में विवाहित बेटी को पैतृक सम्पत्ति में अधिकार नहीं दिया जाता है । विवाह के पश्चात् पति के सम्पत्ति में वह बराबर की अधिकारिणी होती है ।

उराँव समाज में सभी प्रकार के अधिकार एवं कर्तव्य का निर्धारण उनके नेग दस्तूर में निहित है । उराँव समाज की प्रत्येक रीति-नीति-विधि एवं परम्परा में इसका अनुपालन होता है । जैसे - जन्म संस्कार से सम्बन्धित 'अचरैल,' उराँव समुदाय, घर परिवार एवं समाज द्वारा स्वीकृत बहू के लिए ही 'अचरैल बनाने' सम्बन्धी रस्म पूरी करता है । इससे उसके किसी खास परिवार की बहू होने का अधिकार एवं कर्तव्यों का निर्धारण होता है । उसी प्रकार छठी कनबेधी इत्यादि - संस्कारों के द्वारा भी माता-पिता, बच्चे एवं अन्य सभी रिश्तों के बीच अधिकार एवं कर्तव्यों का निर्धारण होता है ।

इसी प्रकार विवाह में कई संस्कारों द्वारा वर एवं वधू के कर्तव्य एवं अधिकारों को समाज द्वारा मान्यता प्राप्त है । विवाह के लिए आरंभ होनेवाले प्रत्येक नेग दस्तूर इत्यादि इसी के अन्तर्गत आते हैं ।

उराँव प्रथा परम्परा के अनुसार - पैतृक सम्पत्ति में अविवाहित पुत्री को उपभोग करने का पूरा अधिकार है । लेकिन जिस दिन उसका विवाह होता है उस दिन विदाई के वक्त वह अपने उपभोग करने के अधिकार को छोड़ जाती है । इस बात को विदाई के समय एक रस्म के द्वारा दर्शाया जाता है अर्थात् रस्म पूरा किया जाता है । विदाई के समय का यह महत्त्वपूर्ण नेग बहुत ही अर्थपूर्ण एवं समाज के लिए मार्गउर्शक होता है ।

विदाई की विधि – विदाई के समय माता विवाहित बेटी को अपने गोद में बैठाती है । दोनों का मुँह दरवाजे की तरफ होता है । निकट सम्बन्धी महिलाएँ कन्या के अंजूरी में धान डालती हैं । जिसे वह बैठे-बैठे ही पीछे फेंकती हैं । यह क्रिया तीन बार दुहराया जाता है । इसका अर्थ है कि वह अपने पिता की सम्पत्ति का अधिकार छोड़ रही है ।

अपने पिता की सम्पत्ति छोड़ने से पहले उसे पति के सम्पत्ति में अधिकार मिल जाता है । इसके लिए विवाह के समय का नेग दस्तूर उराँव समाज में बहुत बड़ा एवं महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । कन्या की माँग में सिन्दूर डालते समय वर के आगे कन्या खड़ी होती है । तब माँग में सिन्दूर भरने की रस्म होती है । तत्पश्चात कन्या वर को सिन्दूर टीकती है । इस महत्त्वपूर्ण एवं शुभ घड़ी में कन्या को आगे रखने का अर्थ है – "आज से जो कुछ मेरी सम्पत्ति है उसमें बराबर की

अधिकारिणी तुम हो ।" अर्थात् कन्या को (पत्नी को) पहले अधिकार मिल जाता है । तभी वह विदाई के समय इस रस्म के द्वारा अपने कर्तव्य का पालन करती है और भाइयों के लिए पिता की सम्पत्ति छोड़ जाती है । अत: वर्तमान में महिलाओं द्वारा पैतृक सम्पत्ति की माँग करना आदिवासी समाज के अनुकूल नहीं है । इससे आदिवासी समाज की संरचना बिगड़ जायगी । ये माँग किसी नजरिये से उचित नहीं है ।

उराँव विवाह

सभी जाति व समाज में विवाह की अलग-अलग पद्धतियाँ पायी जाती हैं । उराँव समाज में विवाह की अपनी ही पद्धति है ।

विवाह के लिए शुभ दिन का चयन चाँद के अनुसार तय होता है । बढ़ने वाले चाँद में ही विवाह की तिथि निश्चित की जाती है । विवाह की तैयारी महीनों पहले से आरंभ हो जाती है । सभी नाते रिश्तेदारों एवं परिचितों को न्योता दिया जाता है । विवाह मुख्य रूप से तीन दिनों में सम्पन्न होता है । पहले दिन मड़वा गाड़ा जाता है । इसी दिन दूर-दराज से आने वाले रिशतेदार पहुँच जाते हैं । दूसरे दिन



'कँड़सा उठाने' का नेग नियम किया जाता है । कँड़सा उठाने का अलग विधि-विधान है । इस विधि में कई सामग्रियों का संकलन होता है । इन सभी वस्तुओं को समाज की मान्यता के अनुसार प्रतीक चिह्न के रूप में प्रयोग किया जाता है। कँड़सा उठाने के पहले का पूजा-पाठ गाँव के पाहन द्वारा होता है । 'पाहन' गाँव के देवी-देवता एवं सम्बन्धित परिवार के पूर्वज तथा धर्मेस के नाम पर पूजा करता है । पूजा के पश्चात् महिलाएँ 'कँड़सा उठाने' की प्रक्रिया आरंभ करती हैं जिसमें मुख्य रूप से तीन वस्तुएँ हैं – (1) कँड़सा भंडा (2) सूप-दौरा (3) नाचु और टुंकी । इन तीनों वस्तुओं को फूल-पत्तियों से सजाया जाता है । कँड़सा भंडा को विशेष रूप से धान की बालियों (गूँथा हुआ) एवं दीया से सजाने का रिवाज है । वर-कन्या की दीदी या भाभी रिश्ते की महिलाएं इस विधि को करती हैं । इन तीनों वस्तुओं को तीन महिलाएं विधि पूर्वक सिर में उठाती है एवं नृत्य करती हैं । यह

(7) सीलहट – विवाह के समय पूरब-पश्चिम जुवाँठ के ऊपर रखते हैं ।
(8) काँसा थाली में थोड़ा धान – इसी थाली में वर-कन्या का पैर धोया जाता है ।
(9) काँसा लोटा में पानी – इसी पानी से वर-कन्या का पैर धोना है ।

विवाह पद्धति – वर को विवाह कक्ष में लाते ही सबसे पहले जुवाँठ में दोनों का (वर-कन्या) खड़ा करते हैं । मुँह दोनों का पूरब की ओर होता है । कन्या वर के आगे खड़ी होती है । वर एवं कन्या पक्ष की महिलाएं वहाँ उपस्थित होती हैं वे दोनों पक्ष से कीया-सिन्दूर निकालकर उन दोनों को सिन्दूर डलवाती हैं । पहले वर कन्या की माँग में, माथे और कनपट्टी में सिन्दूर डालता है । फिर कन्या भी वर के माथे एवं कनपट्टी में सिन्दूर टीकती है । इसके बाद दोनों का एक-एक पैर एक साथ थाली में रखकर महिलाएं पैर धोती है । दोनों पैर धुलने के पश्चात् उस पानी को कन्या की माता बाहर छप्पर में फेंकती है । फिर छप्पर से गिरनेवाले उस पानी को अपने आँचल में झोकती है एवं घर के अन्दर प्रवेश करती है । इन सभी प्रक्रियाओं में एवं नेग दस्तूर में केवल विवाहित महिलाएं होती हैं । इस महत्त्वपूर्ण रस्म को करने में पुरुषों का योगदान नहीं रहता है । तत्पश्चात 'रोटी पकाने' की एक महत्त्वपूर्ण रस्म पूरी की जाती है । उसमें वर एवं कन्या पक्ष की ओर से चावल का आटा मिलाकर रोटी छानने का दस्तूर है । इस विशेष प्रकार के रोटी में वर कन्या के सुखी जीवन, बच्चों का होना न होना तथा संख्या बच्चों की इत्यादि देखी जाती है । इसे बुजुर्ग एवं अनुभवी महिलाएं ही समझ सकती हैं । इसके तुरंत बाद और एक रस्म पूरी की जाती है । इसमें अधिक समय लगता है । इस रस्म को वर एवं कन्या की बड़ी बहनें पूरा करती हैं । वर को तेल लगाना-कंघी करना और सिन्दूर टीका डालने का काम कन्या की बड़ी बहन करती है एवं कन्या को ये सभी रस्म वर की बड़ी बहन करती है । वर-कन्या दोनों के ससुराल की तरफ से ये रिश्ते जेठसास के होते हैं । कुड़ुख़ में इसे 'बालनी' कहा गया है । इस रिश्ते में प्यार और आदर का भाव बहुत अधिक होता है । इस तरह से उराँव विवाह से सम्बन्धित मुख्य नेग दस्तूर समाप्त होता है । इस बीच बाराती नृत्य गीत करते हुए मनोरंजन करते हैं एवं खाते-पीते हैं । फिर विदाई की घड़ी आती है । इस समय कन्या को भेंट स्वरूप दिये गये सभी सामानों को वर पक्ष के मुख्य व्यक्ति को सौंप दिया जाता है । विदाई के रस्म की चर्चा की जा चुकी है ।

वर पक्ष कन्या को लेकर चले जाते हैं किसी-किसी परिवार में दूसरे या तीसरे दिन (अपनी सुविधानुसार) 'चुमान' रखा जाता है । इस दिन दोनों पक्ष वाले अपने रिश्तेदारों और ग्रामीणों को विशेष रूप से सम्मानपूर्वक भोजन कराते हैं । चुमान में आनेवाले अतिथि सहयोग के रूप में कुछ रुपये एवं चावल, दाल, सब्जी इत्यादि देते हैं । इससे मेजबान घर को आर्थिक सहायता मिलती है । इस तरह सभी मिलकर नाचते-गाते हैं एवं विवाह संस्कार का आनन्द उठाते हैं । इसके बाद तीसरे या चौथे दिन कन्या पक्ष वाले वर पक्ष के यहाँ 'सरात' जाते हैं एवं कन्या को वापस ले आते हैं । इस तरह सप्ताह भर वर-कन्या और घर के मुख्य व्यक्तियों का आना जाना होता है । अन्ततः कन्या को ससुराल पक्षवाले आकर ले जाते हैं । इस तरह उराँव विवाह हर्षोल्लास से सम्पन्न हो जाता है ।

नोट *– क्षेत्र विशेष एवं बाहरी अन्य संस्कृति के प्रभाव में आकर विवाह सामग्रियों या रस्म में थोड़ी सी भिन्नता कहीं-कहीं पर पाया जा रहा है ।*

(3) मृत्यु संस्कार - जन्म और विवाह संस्कार के बाद तीसरा स्थान है मृत्यु संस्कार का । जिस तरह से जन्म एवं विवाह संस्कार का महत्त्वपूर्ण स्थान है उसी तरह मृत्यु संस्कार का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है । जन्म के बाद कई संस्कार से गुजरते हुए उसे उराँव संस्कार द्वारा उराँव समाज का सदस्य बनाया जाता है । हर व्यक्ति को उसी समाज के अनुरूप स्वयं को ढालकर जीवन व्यतीत करना पड़ता है । आजीवन अपने समाज के रीति-नीति, नियम एवं परम्परा को निभाते हुए व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है । पुनः मृत्यु के बाद भी उसे (मृत व्यक्ति को) कई नियमों से गुजरना पड़ता है अर्थात् मृत शरीर के लिए, उनकी आत्मा की शान्ति के लिए कई प्रकार के विधि-विधान सम्पन्न किये जाते हैं जो कि मृत व्यक्ति के सगे-सम्बन्धी व परिवार वाले टोले-मोहल्ले के लोगों के साथ मिलकर करते हैं ।

उराँव समाज में जलाने या दफ़नाने दोनों तरह की व्यवस्था प्रचलित है । आर्थिक रूप से सुदृढ़ परिवार जलाने की प्रक्रिया को सम्पन्न करते हैं । आर्थिक रूप से कमजोर परिवार दफ़नाने की प्रक्रिया अपनाते हैं । कुछ प्रकरण अपवाद स्वरूप है । जैसे - पानी में डूबकर हुई मृत्यु, आग से जलकर मृत्यु, छोटे बच्चे की मृत्यु तथा गर्भवती महिला की मृत्यु या प्रसूति महिला की मृत्यु होने पर निश्चित रूप से दफ़नाया जाता है । ऐसे प्रकरण में मृतक को नहीं जलाया जाता है ।

उराँव समाज में मृत व्यक्ति को दफ़नाने या जलाने के लिए एक सामूहिक स्थान होता है जिसे 'मसड़ा' कहा जाता है । इसी मसड़ा में स्त्री-पुरुष, बुढ़ा-बढ़िया सभी को दफ़नाया जाता है । उराँव समाज में तीन तरह का मसड़ा पाया जाता है -

(i) मसड़ा यह साधारण 'मसड़ा' होता है जिसमें किसी भी स्वाभाविक मृत्यु वाले शरीर को दफ़नाया या जलाया जाता है । यह पूरे ग्रामवासियों का होता है। यह गाँव के किनारे एवं गाँव से दूर होता है ।

(ii) ख़द्द मसड़ा - इसमें छोटे बच्चों का दफ़न किया जाता है । इनका विश्वास है कि बच्चे स्वभाव में बहुत चंचल होते हैं । जिस तरह अपने जीवन काल में बच्चों की चंचलता से माता-पिता परेशान रहते या यूं कहा जाय कि बच्चे अपने अभिभावकों को तंग करते रहते हैं उसी तरह वहाँ (मृत्यु के बाद) भी वे बड़ों को तंग करते रहेंगे, इसलिए उनको अलग से दफ़नाया जाता है । खड़िया जाति में भी इस नियम का पालन होता है । इसलिए रोज केरकेट्टा ने अपनी पुस्तक 'खड़िया लोक कथाओं का साहित्यक और सांस्कृतिक' अध्ययन में लिखा है- "दूध पीते बच्चों को तथा जिनका कर्ण छेदन नहीं हुआ रहता है, उन्हें अलग गाड़ा जाता है। इनके लिए महुआ और बरगद का पेड़ चुना जाता है । कहा जाता है कि महुआ और बरगद के दूध से कब्र के अन्दर उन्हें भोजन प्राप्त होता रहेगा। इनका तिलजङ, संस्कार नहीं होता ।"[7]



दूसरा कारण यह भी है कि कुछ बच्चों का संस्कार अधूरा रहता है। इसी बीच यदि उसकी मृत्यु हो जाय तो उसे भी 'ख़द्द मसड़ा' में ही दफ़नाया जाता है। बच्चों को जलाने का नियम नहीं है। इसके अलावा आग में जलकर मृत्यु तथा पानी में डूबने से हुई मौत में भी मृत शरीर को दफ़नाया जाता है।

(**iii**) उराँवों का एक और मसड़ा होता है। यह ऐसा स्थान होता है जहाँ दफ़न तो किया जाता है लेकिन इसे 'मसड़ा' का नाम नहीं दिया जाता है। यह स्थान किसी भी नदी का किनारा या जंगल का क्षेत्र होता है जो अपने गाँव की सीमा से दूर होता है। गर्भावस्था या बच्चे जनने के बाद (छठी से पहले), छूतका मिटाने से पहले यदि स्त्री की मृत्यु हो जाती है तो उसे उपर्युक्त दोनों मसड़ा को छोड़कर गाँव की सीमा से दूर सुनसान जगहों याने नदी-नाले के बीच में दफ़न किया जाता है। जिससे कि वह अपने गाँव व परिवार में वापस नहीं आ सके। इसलिए रोज केरकेट्टा ने पुनः आगे लिखा है "गर्भवती या नवप्रसूता की मृत्यु हो जाय तो उसे 'मसान' में न दफ़नाकर गाँव से बाहर दूर में दफ़नाया जाता है। विश्वास किया जाता है कि ऐसी स्त्री चुड़ैल बनकर लोगों को सबसे ज्यादा सताती है। इसे बाँधने के लिए मृतिका के हाथ पैर तोड़ दिये जाते हैं और रस्सी से बांध दिये जाते हैं, ताकि चुड़ैल बनने के बाद भी लोगों को सताने में अक्षम हो।"[8]

उराँव अपने पूर्वजों की पूजा करते हैं। उन्हें अपने घरों में विशेष स्थान देकर रखते हैं। लेकिन गर्भवती मृत महिला की आत्मा को वापस अपने घर में न लाने एवं न रखने का मुख्य कारण यह माना जाता है कि वह अपने बच्चे को ढूंढ़ेगी एवं बच्चे के लिए अपने पति तथा घर के सदस्यों को तंग करेगी। इसे बुरी आत्मा माना जाता है एवं 'चुड़ैल' के नाम से जाना जाता है। यह चुड़ैल कभी-कभी लोगों की जान भी ले लेती है। इस तरह डर एवं परेशानी से बचने के लिए उसे दूर एकान्त में दफ़नाया जाता है। दफ़न के लिए ले जाते समय लाश को कई टेढ़े-मेढ़े रास्ते से ले जाया जाता है तथा पीछे में सरसों का दाना फेंक दिया जाता है या फिर रास्ते में काँटे फेंक दिये जाते हैं। कहीं-कहीं झाड़ी को घसीटा जाता है जिससे कि रास्ते में बने पैर के निशान मिट जाय। इसके अलावा मृत शरीर को दफ़न करने के पहले पैर को तोड़ दिया जाता है। इन सभी प्रक्रियाओं के पीछे विश्वास यह है कि वह चलकर वापस नहीं आ सकेगी या फिर रास्ता भटक जायगी इत्यादि। उराँव समाज के सभी संस्कारों में महिला की भागीदारी बराबर रूप से होती है। महिला 'मसड़ा' भी जाती है एवं वहाँ सभी क्रियाकलापों में भाग लेती हैं लेकिन

इस तीसरे तरह के प्रकरण में महिलाएँ दफ़न की प्रक्रिया में भाग नहीं लेती हैं। पुरुष वर्ग दफ़न की प्रक्रिया समाप्त कर नदी तालाबों में स्नान कर घर आते हैं। घर की महिलाएँ घर-द्वार साफ कर शुद्ध करती हैं। मृत्यु सम्बन्धी अन्य संस्कार ऐसी महिलाओं की मृत्यु पर नहीं की जाती हैं। इनका विश्वास है कि ये आत्मा घर वालों को तंग करेंगी जबकि सामान्य मृत्यु वाले आत्मा को श्रद्धा एवं प्यार से रीति-विधि के साथ लाकर 'कुन्डी' में रखा जाता है। ये आत्मा घर-परिवार के लोगों के साथ रहकर उनका भला करते हैं।

उराँव जाति की विश्वास के अनुसार व्यक्ति मरता है लेकिन आत्मा जिन्दा रहती है। उस आत्मा को अपने घर में रखा जाता है। इस सम्बन्ध में सरन उराँव ने 'श्रद्धा' नामक पत्रिका के लेख 'जनजातियों में संस्कार' में लिखा है "जनजातियों में विश्वास है कि आत्मा नहीं मरता है और जबतक उसका श्राद्ध या छाई भितारने का काम नहीं करते हैं, तब तक उसकी आत्मा भटकती रहती है।"[१]

उराँव जाति का मानना है कि- इतनी सावधानी बरतने के बाद भी कभी-कभी बुरी आत्मा 'चुड़ैल' का रूप धारण कर लेती है और सुनसान जगहों तथा घर परिवार में लोगों को तंग करती है। चुड़ैल गर्भवती महिलाओं को भी तंग करती है। उसका असर इतना तेज होता है कि भुक्त भोगी गर्भवती महिला का गर्भपात भी हो जाता है। राह चलने वाली औरत तथा शिशु को भी वह तंग करती है जिससे विशेष कर शिशु को कई तरह की तकलीफें होती है। इन सभी तरह के तकलीफ एवं उलझनों का निदान ओझाओं द्वारा संभव होता है। चुड़ैल बुरी आत्मा होती है। अतः वह लोगों का भला न करके सिर्फ बुराई ही करती है। लोगों का मानना है कि यह सभी व्यक्ति को दिखाई भी नहीं देती है। कुछ विशेष लोगों को ही यह दिखाई देती है। यह पूर्णतः अंधविश्वास पर आधारित है।

जिस तरह गर्भवती महिला की मृत्यु के अन्य संस्कार नहीं किये जाते उसी तरह असंस्कारित बच्चे की मृत्यु पर भी सभी मृत्यु संस्कार नहीं किये जाते हैं। स्वाभाविक मृत्यु वाले व्यक्ति के नाम से मृत्यु के सभी संस्कार आयोजित किये जाते हैं। मृत शरीर को दफ़नाने के बाद एक मुख्य संस्कार किया जाता है जिसे प्रत्येक परिवार द्वारा अपनी सुविधा एवं समर्थता के अनुसार तीन दिन, दस दिन या फिर एक महीने के बाद किया जाता है। किसी-किसी क्षेत्र में माघ के महीने में यह क्रिया सम्पन्न की जाती है। किसी-किसी क्षेत्र में इस संस्कार को एक परिवार अकेला ही करता है। किसी क्षेत्र में पूरे गाँव के लिए एक निश्चित दिन तय होता

है । उस दिन पूरे गाँव का या पूरे क्षेत्र में इस संस्कार को सम्पन्न किया जाता है । इसे उराँव 'कोहा बेंज्जा' या 'हड़गड़ी' कहते हैं। जहाँ लम्बे समय के अन्तराल में इस संस्कार को सम्पन्न किया जाता है वैसे क्षेत्र में 'छुतका मिटाने' का काम दाह संस्कार के बाद तुरंत कर लिया जाता है । क्योंकि उराँव लोगों की मान्यता है कि गाँव में किसी की मृत्यु होने पर गाँव अशुद्ध हो जाता है और जिसके शुद्धिकरण करने के कुछ विशेष नियम है जिसे परिवार, गाँव वाले एवं पाहन मिलकर सम्पन्न करते हैं। गाँव की शुद्धिकरण के बगैर गाँव में कुछ भी शुभ कार्य जैसे- विवाह सम्बन्धी क्रिया-कलाप, विवाह, धानबुनी तथा पर्व-त्यौहार इत्यादि सम्पन्न नहीं किया जा सकता। समय के अनुसार इसे जल्द से जल्द निपटा लिया जाता है । जैसे- यदि किसी परिवार में बारात आने वाला हो या आ गया हो । इस दौरान गाँव में किसी की मृत्यु हो जाय तो विवाह का सारा कार्य रोक दिया जाता है । मृत शरीर को जल्दी से जल्दी जलाने/दफ़न करने के बाद छुतका मिटाने तथा गाँव बनाने वाले नियम को सम्पन्न कर लिया जाता है । इस कार्य के पश्चात् ही पुनः विवाह के नीति-रीति को सम्पन्न किया जाता है । इन कार्यों को सम्पन्न करने में पूरे गाँव के व्यक्ति सम्मिलित होते हैं। छुतका मिटाने की क्रिया के दौरान मुर्गी की बलि दी जाती है एवं पूजा पाठ किया जाता है । पूजा के बाद उस मृत व्यक्ति की आत्मा को घर के अन्दर लाने के लिए एक क्रिया की जाती है जिसे 'एख़ मन्खना' कहते हैं। इस क्रिया के बगैर मृत व्यक्ति की आत्मा बाहर भटकती रहती है और इस तरह भटकने के दौरान गाँव और परिवार वालों को तंग करती है, उन्हें किसी न किसी रूप में हानि पहुँचाती है। उराँव समाज मानता है कि वो हमारा व्यक्ति जो अब मर चुका है उसका शरीर तो नाश हो गया लेकिन उसकी आत्मा बाहर भटक रही है जबतक उसे नियम के साथ घर के अन्दर नहीं ले आते एवं 'कोहा बेंज्जा' या 'हड़गड़ी' नहीं करते तब तक वह आत्मा पूर्वजों के साथ शामिल नहीं हो सकेगा। प्रत्येक उराँव परिवार में पूर्वजों का एक निश्चित स्थान घर के भीतरी हिस्से में होता है जो बहुत ही पवित्र स्थान होता है। इसे उराँव 'कोठा एड़पा' कहते हैं। पवित्रता के ख्याल से इस कमरे में वे जूता-चप्पल पहनकर नहीं घुसते हैं। इस कमरे में बाहरी लोगों का घुसना वर्जित है । इस सम्बन्ध में शरत चन्द्र राय ने अपनी पुस्तक 'Oraon Religion and costum' में लिखा है The shade or spirit finally goes underneath the earth when the bones are relegated to the kundi. The soul of the departed are believed to reside under the earth near the kundi in communities like those of the living"[10] उराँव अपने पूर्वजों को बहुत मानते हैं। सभी

पर्व-त्यौहार और विशेष अवसरों पर पूर्वजों की पूजा होती है । प्रत्येक मौसम का पहला अनाज पहले पूर्वजों के नाम पर चढ़ाया जाता है । इनका विश्वास है कि 'धर्मे बाबा' (सर्वशक्तिमान ईश्वर) के बाद हमारे पूवर्ज ही हमारे रक्षक हैं । सरन उराँव, अपने लेख 'जनजातियों में संस्कार' में लिखते हैं "ये विश्वास है कि हमारे पूर्वजों की आत्मा हमें हर दु:ख तकलीफ एवं मुसीबतों से बचाती है, इसलिए प्रत्येक वर्ष पर्व-त्यौहारों तथा अन्य अवसरों पर पूर्वजों को याद किया जाता है ।"[11]

इस सम्बन्ध में डॉ० रामदयाल मुण्डा ने अपना मन्तव्य स्मारिका 'सरना' में व्यक्त किया है कि "हमलोग उन मृत आत्माओं को हरेक पर्व-त्यौहारों में याद करते हैं और खाने पीने से पहले हमारे पूर्वजों के आत्माओं को खिलाते-पिलाते हैं, हम उनसे बात चीत करते हैं ।"[12]

इस बात को पुन: डॉ० मुण्डा लिखते हैं "हमारे सरना, धर्म के अनुसार हम मरने के बाद भी उन्हें अपने घरों में ही रखते हैं ।"[13]

इस विषय में 'Tribal identity in the context of displacement- report of the seminar में कहा गया है - "Tribals belief in the life after death. The burial ceremony the calling inof the spirits clearly show that for the tribals death is not the end of life."[14]

उराँव समाज में नये जन्में बच्चे को कई विधि-विधानों से गुजरने के बाद समाज में स्वीकार किया जाता है उसी तरह मृत्यु के बाद भी कई विधि-विधानों के द्वारा मृत आत्मा को घर के अन्दर प्रवेश कराया जाता है और आदर एवं स्नेह के साथ घर में रखा जाता है । इसमें होने वाले विधि-विधान में घर परिवार के लोग रिश्तेदार, गाँव के अन्य व्यक्ति तथा पाहन आवश्यक रूप से होते हैं। विधि-विधान को करने में कई तरह की सामग्रियाँ प्रयोग में लायी जाती है । सभी सामानों को एक-एक प्रतीक के रूप में प्रयोग किया जाता है, जिसका कुछ अर्थ होता है और समाज को यह मान्य होता है ।

उराँव पुनर्जन्म पर भी विश्वास करते हैं । वे सोचते हैं कि मृत व्यक्ति किसी भी योनि में जन्म ले सकता है या किसी भी जीव के रूप में । अत: वे पशु-पक्षी अवश्य रूप से पालते हैं । इसलिए परिवार में किसी के मृत्यु के दिन ही घरेलू पशु-पक्षी, बच्चे जन्मते हैं तो उसे शुभ माना जाता है ।

उराँव मान्यता एवं विश्वास के अनुसार स्वर्ग और नरक का कोई अस्तित्त्व नहीं है । कोई भी मनुष्य अपने-अपने कर्मों के अनुसार इसी जन्म में जीते जी सभी कुछ देखता एवं महसूस करता है । अच्छा कर्म करने से अच्छे नतीजे, सुखी

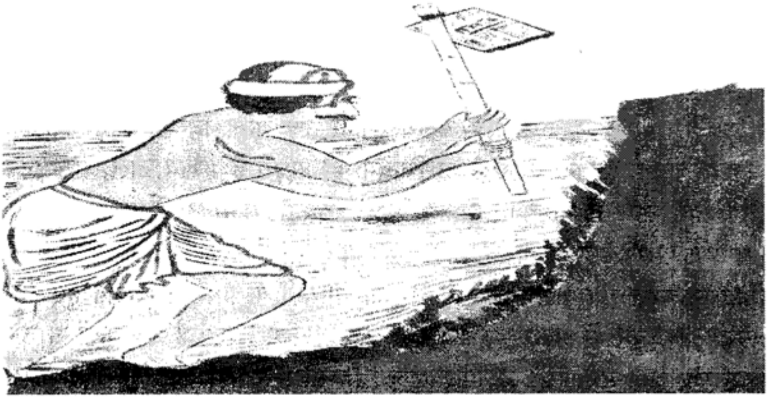
जिन्दगी तथा बुरे कर्मों का फल बुरा, दु:ख, तकलीफ तथा जीवन में कष्ट होता है। ये स्वर्ग की अवधारणा को मात्र एक कल्पना मानते हैं। हालांकि ईसाई धर्म, हिन्दू धर्म तथा इस्लाम धर्म सभी में स्वर्ग-नरक की परिकल्पना की गयी है। भले ही इसे अलग-अलग नामों से जाना जाता हो। लेकिन आज तक किसी ने स्वर्ग और नरक का भोग, अनुभव और अवलोकन नहीं किया है।

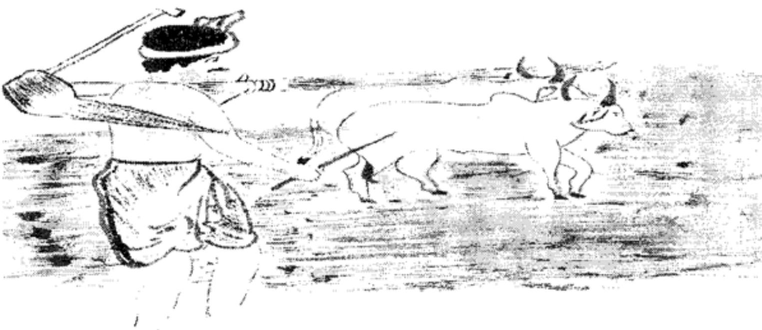
जीविका के साधन

झारखण्डी आदिवासियों के जीविका का मुख्य साधन कृषि है। कृषि के साथ-साथ पशु पालन, शिकार करना एवं वनोपज भी इनके जीविका के अन्य साधन हैं। विभिन्न भौगोलिक वातावरण, जलवायु एवं संसाधन के कारण कुछ आदिवासियों का आर्थिक स्तर प्रथम चरण में ही है। जैसे- बिरहोर, असुर, नगेसिया आदि। मुण्डा, हो, संथाल, उराँव आदि स्थायी कृषक हैं। इनका मुख्य पेशा कृषि है। उराँव इनमें से सबसे अधिक उन्नत कृषक हैं। इनकी कृषि तकनीक अच्छी है। इनके पास करीब-करीब सभी परिवारों के बीच कुछ न कुछ खेत अवश्य ही हैं। ये खेत दो तरह के पाये जाते हैं।

(1) दोन खेत - यह गड्ढा खेत होता है जिसमें बरसात के समय धान की खेती की जाती है। यह भदई फसल कहलाता है। जिन जगहों पर सिंचाई की व्यवस्था है वहाँ इन दोन खेतों में दो फसल उगाई जाती है। जिन परिवारों में दोन खेती द्वारा दो फसल उगायी जाती है उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी है।

(2) टाँड़ खेत - यह ऊँची जमीन है। इसमें वर्षा का पानी जमा नहीं होता। अत: ऐसे खेतों में गोड़ा धान - जो कम पानी (बारिस) में होता है। मड़ुवा, गोंदली, मकई, आलू, शकरकंद तथा बरसाती सब्जियाँ भी उगायी जाती है। इसके अलावा तेलहन के लिए मुंगफली, सरसों, सरगुजा, सूर्यमुखी, सोयाबीन आदि की खेती की जाती है। दलहन के लिए अरहर, ऊरद तथा कुरथी की खेती बरसात के समय में ही की जाती है। भदई खेती के अलावा ये रबी फसल में भी बहुत ध्यान देते हैं। रबी फसल में ये गेहूँ, तीसी, मसूर, खेसरी, चना, सरसों तथा कई प्रकार की सब्जियाँ उगाते हैं। इसे स्वयं खाने के अलावा बिक्री भी करते हैं एवं मुद्रा का अर्जन करते हैं। कुछ व्यापारिक फसल हैं, जिन्हें बेचकर वे अन्य जरूरत का सामान खरीदते हैं। जैसे - कपास, तम्बाकू, जूट इत्यादि की भी ये खेती करते हैं। ये लाह की खेती भी करते हैं लेकिन इसके लिए उनके पास उन्नत तकनीक एवं





जीविका के साधन



सही जानकारी नहीं है । इस की कमी के कारण लाह की खेती सही तरीके से नहीं हो पाती है। कृषि के साथ-साथ इनके जीविका का दूसरा मुख्य साधन पशुपालन है । पशुपालन उराँव लोगों के जीवन का मुख्य अंग है । प्रत्येक उराँव परिवार में गाय-बैल, भैंस, भेड़-बकरी, सुअर तथा कुत्ता-बिल्ली आवश्यक रूप से पाये जाते हैं। इनके बगैर इनकी जिन्दगी ही अधूरी है । गाय, बैल, भैंस इनके कृषि कार्य में मुख्य भूमिका निभाते हैं। भेंड़, बकरी, सुअर, मुर्गी, बत्तख, कबूतर, हंस तथा खरगोश इनके भोजन का मुख्य अंग हैं । कुत्ता-बिल्ली घर एवं खेतों की रखवाली करते हैं। पालतू जानवरों से आदिवासियों के प्रेम को दिखाते हुए ओंगे जनजाति के बारे में अंकुर जयसवाल ने एक लेख में लिखा है – "कुत्तों से उन्हें खास प्रेम है । कुत्ते इनके घर परिवार का हिस्सा हैं । यहाँ तक कि ओंगी औरतें पिल्लों को अपना दूध तक पिलाती हैं। ये लोग अपना भोजन भी कुत्तों के साथ मिलकर करते हैं।"[15] तोता मैना ये शौक से पालते हैं। ये पक्षी इनके घर की शोभा है । उराँव परिवार दूध का प्रयोग अधिक मात्रा में नहीं करते हैं। ये अधिकतर दूध उनके बछड़ों के लिए छोड़ देते हैं, ताकि बछड़ा तंदुरुस्त हो और कृषि कार्य में अधिक सहयोगी बने। जरूरत पड़ने पर ये इन पशु पक्षियों को बेचकर अपना अन्य कार्य भी सम्पन्न करते हैं।

इसके अलावा उराँव जाति में शिकार खेलना एवं मछली पकड़ना भी विशेष महत्त्व रखता है । ये दोनों इनके धर्म से जुड़ा हुआ है । लेकिन मुख्य आधार भोजन सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति करना है । उराँव इसे अपनी भाषा में 'सेन्दरा' कहते हैं। शिकार में मारा गया पशु-पक्षी एवं मछली-केकड़ा इत्यादि इनके खाने के लिए होता है, बिक्री के लिए नहीं। एक दूसरे की जरूरतों को पूरा करने के लिए वे अभी भी गाँवों में वस्तु विनिमय पद्धति को अपनाते हैं । इनके बीच संचय की प्रवत्ति नहीं थी। सबों की प्राथमिक आवश्यकता की पूर्ति हो, इस भावना से सभी ओत-प्रोत थे। इसलिए समाज में समानता एवं सामूहिकता की भावना थी। शिकार पर जाना इनके जीवन का मुख्य अंग था। आज सामाजिक स्वरूप एवं आर्थिक स्थिति में बदलाव आने के कारण शिकार की मान्यता बदल रही है । इसलिए मुख्य रूप से फग्गु सेन्दरा, ख़द्दी सेन्दरा, बिसु सेन्दरा तथा मुक्का सेन्दरा को ही उराँव निभा रहे हैं। शिकार के बारे में उमेश कु० वर्मा ने अपनी पुस्तक में लिखा है – "इसके बाद गाँव के सभी पुरुष, नवयुवक, बच्चे मिलकर जंगल में शिकार करने जाते हैं।"[16] इसी सम्बन्ध में लेखक सुधांशु शेखर मिश्र एवं विलियम एक्का ने अपनी

पुस्तक 'मुड़मा जतरा' में लिखा है "इस समय अलग-अलग पड़हा के लोग आपस में मिल-जुलकर बड़े उत्साह से शिकार में जाते थे ।"[17] उराँव के अलावा अन्य आदिवासी भी शिकार से अपनी जीविका चलाते हैं। जैसे - बिरहोर, पहाड़ी खड़िया, पहड़िया, बिरजिया और कोरवा आदि। भारत के अन्य भागों में भी आदिवासी शिकार पर अपनी जीविका चलाते हैं। आन्ध्र प्रदेश की चेन्चु एवं चांडी, केरल में कदार एवं कुरूम्बा, तमिलनाडु में पलियन एवं अंडमान निकोबार द्वीप समूह में ओंगे, जरवा एवं सोपेन जनजाति भी शिकार से अपनी जीविका चलाते हैं। ओंगे जनजाति के बारे में अंकुर जयसवाल ने एक पत्रिका में लिखा है- "जंगली सुअर की शिकार करने में कुत्ते इनकी मदद करते हैं।"[18] पुनः अंकुर जी लिखते हैं- "मछली इनका खास भोजन है जिनका शिकार ओंगी मर्द तीर कमान से करते हैं जबकि औरतें मछली पकड़ने के लिए टोकरियों का इस्तेमाल करती हैं। 'हारपून' भाला या कांटेदार बरछी से यह लोग कुछओं तथा डुगोंम (समुद्री गाय) का शिकार करते हैं।"[19]

उराँव आदिवासी अपनी जीविका के लिए वनों पर भी आश्रित रहते हैं। वन से उनका गहरा लगाव है। वनों के बगैर उनके जीवन का अस्तित्त्व ही नहीं है। वनों की पारम्परिक उपयोगिता एवं उनके महत्त्व को विस्तृत रूप से दर्शाते हुए पूनमचन्द सिकलीगर ने अपनी पुस्तक 'वन एवं आदिवासी' में लिखा है- "वन-सम्पदा आदिवासी या जनजातीय सामाजिक व्यवस्था के लिए एक अभिन्न विशेषता रही है ।"[20]

उनके जीवन का एक-एक क्रियाकलाप, संस्कार, जीवन-मृत्यु और धर्म का वनों से गहरा सम्बन्ध है । इनके पशु-पक्षी का चारागाह जंगल है । उराँव अपने घर का निर्माण जंगल की लकड़ियों, बांस और घास-फूस से करते हैं । जंगल से इन्हें कई तरह के फल-फूल लकड़ी, रस्सी, दातुन, पत्ता तथा कई प्रकार के बीज मिलते हैं। मौसम के अनुसार इन फल-फूलों को खाने के काम में लाया जाता है। कुछ सुखाकर संग्रह किया जाता है । बरसात के मौसम में कई प्रकार के मशरूम तथा पुटू पाया जाता है जो खाने में स्वादिष्ट एवं लाभप्रद होता है । आम, इमली, खजूर, जामुन, केंद, पियार, पिठोर, बैर और न जाने कितने ही तरह के फल इन जंगलों से प्राप्त होते हैं। इनके बीज भी खाने या बेचने के काम आते हैं। लकड़ी से ये अपनी जरूरत का सामान बनाते हैं। रस्सी बनाते हैं। सखुवा का डंठल दतुवन का काम आता है तथा इसके पत्ते से दोना-पत्तल तथा केंदू के पत्ते बीड़ी बनाने के काम आते हैं। सखुवा के तने का रस जो सुखकर धुवन बनता है । यह पूजा-पाठ

और धार्मिक कार्य में उपयोगी है । बांस से टोकरी इत्यादि बनायी जाती है । खजूर के पत्ते चटाई बनाने के काम आते हैं । उराँव भोजन के अलावा दवाइयों के लिए कई प्रकार के जड़ी-बूटी की खोज भी अपने इन्हीं वनों में कर लेते हैं । तेलहन की जरूरतों को भी ये जंगल से पूरा करते हैं । जैसे- नीम, करंज, कुसुम, महुवा आदि के बीज से तेल निकाला जाता है । वनों से ही इन्हें मधु रस जैसा कीमती खाद्य पदार्थ मिलता है जो स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभदायक है । कदार एवं दक्षिण भारत की जनजातियाँ भी मधु संग्रह कर अपनी खाद्य पदार्थों की पूर्ति करते हैं ।

मौसम के अनुसार इनके खान-पान में थोड़ा पविर्तन होता है । बरसात के मौसम में उराँव मछली, केकड़े एवं घोंघे को भी अपने भोजन में शामिल करते हैं । नदियों, तालाबों और खेतों में वे मछली पकड़ते हैं जिसमें महिला एवं पुरुष दोनों भाग लेते हैं । कभी-कभी अधिक मछली, केकड़ा पकड़ने पर इसे बेच दिया जाता है या सुखाकर रखा जाता है । इस तरह हम देखते हैं कि उराँव अपनी सीमित जरूरतों को स्वयं पूरा करने के लिए पूरी तरह प्रकृति पर निर्भर है । विशेषकर वनों पर । इनके जीविका का मुख्य साधन कृषि, पशुपालन एवं वनोपज है ।

वर्तमान में कुछ उराँव शिक्षित होकर नौकरी पेशे में आये हैं । कुछ उद्योग धन्धे में भी आये हैं । सरकार द्वारा चलाये जा रहे योजनाओं के अन्तर्गत उराँव लोगों को भी कुछ लाभ मिला है । इससे इनके जीविका के साधन में थोड़ा परिवर्तन हुआ है । युवक-युवतियों को उद्योग-धन्धे, कारीगरी तथा व्यापार के लिए तकनीकी शिक्षा आंशिक रूप से मुफ्त प्रदान की गयी एवं ऋण देकर इन्हें व्यापार व उद्योग धन्धे शुरू करने के लिए प्रोत्साहन दिये गये । जिसमें मुर्गी पालन, बत्तख पालन, सुअर पालन, टोकरी बनाना, दोना-पत्तल बनाना, अचार एवं पापड़ बनाना जैसे गृह उद्योग आदि शामिल हैं । इसके साथ ही छोटे मैक्नीकल ट्रेनिंग देकर उन्हें ऋण दिया गया । इन सब सरकारी सुविधाओं का लाभ उठाकर अब इनके बीच इनके जीविका के साधनों में परिवर्तन आया है । लेकिन इनका मुख्य पेशा कृषि ही है । अत: इनके कृषि के तकनीकी में सुधार लाना अति आवश्यक है । साथ ही सिंचाई की पूरी सुविधा उन्हें मिले ताकि वे छः मसिया श्रमिक के रूप में बाहर न जायें । ईंट भट्टों में काम करने बंधुवा मजदूर तथा चाय बगान में श्रमिक के रूप में ये काफी मात्रा में पलायन करते हैं । इन्हें इस पलायन से रोकने के लिए तकनीकी प्रशिक्षण एवं सिंचाई की पूर्ण सुविधा देना अति आवश्यक है ताकि इनकी जीविका के साधन को पूर्ण रूप से उन्नत एवं स्वतंत्र बनाया जा सके ।

गोत्र पूजा-सामाजिक संगठन - आदिवासियों के जीवन में उनके सामाजिक संगठन में गोत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है । गोत्र के बिना आदिवासी जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती । झारखण्ड के सभी आदिवासियों की संरचना इस पर आधारित है । भारत के अन्य आदिवासियों के बीच भी गोत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है । मध्य प्रदेश में निमाड़ अंचल में निवास करने वाले कोरकू जनजाति भी कई गोत्रों में विभाजित हैं। इनके परम्परागत गोत्र वनस्पति जगत, जीव जगत एवं भौतिक वस्तुओं से सम्बन्धित हैं । प्रत्येक गोत्र का एक चिह्न होता है जिसे 'टोटेम' कहते हैं । 'टोटेम' पर सभी सदस्यों का दृढ़ विश्वास होता है । यह टोटेम वृक्ष, पशु-पक्षी तथा खनिज पदार्थ हो सकते हैं । टोटेम को किसी भी प्रकार से हानि पहुँचाना वर्जित होता है । विश्व के अन्य आदिवासियों के बीच भी गोत्र संरचना पायी जाती है । कुछ आदिवासी अपने गोत्रों के टोटेम (चिह्न) को दीवारों पर भी बनाते हैं । न्यूजीलैंड के 'माओरी' अपनी नौकाओं पर अपने टोटेम के चित्र को बनाते हैं । कुछ अन्य आदिवासी जातियों में पहनने के वस्तु, शस्त्र, उपकरण और झण्डे इत्यादि पर टोटेम चित्रित किया जाता है । उराँव जाति अपनी टोटेम को गुप्त रखते हैं । टोटेम की जरूरत सिर्फ विवाह एवं सामाजिक पूजा-पाठ के समय जरूरत के आधार पर ही इसका प्रयोग किया जाता है । सभी आदिवासियों के बीच गोत्र उत्पत्ति की अपनी-अपनी कथा है । उराँव के बीच भी गोत्र उत्पत्ति की अपनी रोचक कथा है जो मानव सभ्यता एवं विकास को दर्शाती है ।



गोत्र पूजा-सामाजिक संगठन

उराँव के जीवन-वृत संस्कार

'धर्मे बाबा' ने जिस समय दो मानव बनाये तब गोत्र की उत्पत्ति नहीं हुई थी। उन दो मानव (भाई-बहन) से वंश वृद्धि हुई उनके वंश वृद्धि होने पर पहचान की आवश्यकता हुई। इसी पहचान की आवश्यकता को दूर करने के लिए गोत्र का निर्माण हुआ। गोत्र के निर्माण में मानव ने अपने निवास स्थान (जंगल-झाड़) पेड़-पौधे, पशु-पक्षी एवं पदार्थों को आधार माना। स्थिति के अनुसार जिस वस्तु ने जिस किसी तरह से भी आदि मानवों की रक्षा की थी या उनकी मदद की थी वे उनके आभारी हो गये। उनकी आराधना की और उन्हें अपने पूर्वज के रूप में मान लिया तथा उसी के नाम से स्वयं को 'गोत्र' से जोड़ दिया। इस तरह दो भाई-बहन की वंश वृद्धि ने अपनी अत्यधिक संख्या में भी अपनी अलग-अलग पहचान बना ली एवं अलग-अलग गोत्रों से पहचाने जाने लगे। इस व्यवस्था से उन्हें सुविधा महसूस होने लगी और यह आदिवासी उराँव समाज में नियम के रूप में स्थापित होता चला गया। गोत्र सभी जाति और आदिवासियों के बीच में पाया जाता है। जैसे झारखण्ड के उराँव, मुण्डा, हो, संथाल, खड़िया इत्यादि। भारत के विभिन्न प्रदेशों में रहने वाले सभी आदिवासी समाज गोत्र व्यवस्था पर ही आधारित है।

खड़िया आदिवासियों के बीच गोत्र का विशेष महत्त्व है। खड़िया जाति तीन शाखाओं में विभाजित है जैसे- हिल खड़िया अपना गोत्र कुसली, हेमरोम, भुंइया आदि बतलाते हैं। ढेलकी खड़िया के गोत्र सोरेंग, केरकेट्टा, डुंगडुंग, किड़ो इत्यादि है। इसी तरह दूध खड़िया के गोत्र कुल्लू, डुंगडुंग, बिलुंग इत्यादि हैं। इस तरह यह देखा जाता है कि मुण्डा, संथाल, हो आदि सभी आदिवासियों के बीच गोत्र की महत्ता है। सभी आदिवासियों के बीच गोत्र का सामाजिक महत्त्व है। खड़िया आदिवासियों के बीच कुछ गोत्र को ऊँचा स्थान प्राप्त है जैसे- डुंगडुंग-राजा, कुल्लू-रानी, केरकेट्टा-भंडारी। उराँव के बीच किसी भी गोत्र को इस तरह का ऊँचा स्थान प्राप्त नहीं है। इनके बीच सभी उराँव जाति के सदस्य हैं। इसलिए सभी गोत्र को एक समान स्थान प्राप्त है। गोत्र मातृवंशीय और पितृवंशीय होते हैं। झारखण्ड के सभी आदिवासी पितृवंशीय गोत्र के होते हैं। पितृवंशीय गोत्र में एक पुरुष उसके भाई, पुरुष की संतानें व भाइयों की संताने सम्मिलित रहती हैं। चूंकि बहनें विवाहोपरान्त दूसरे मूल की मानी जाती है। अतः बहन व उसकी संतानें एक (उस) गोत्र में शामिल नहीं हो सकती है।

गोत्र की सदस्यता जन्मजात होती है। उसे बदला नहीं जा सकता है। गोत्र के द्वारा ही समाज में पारस्परिक सहायता एवं सुरक्षा प्रदान की जाती है। समगोत्रीय

व्यक्ति, सम्बन्धी या परिचित न होने के बावजूद भी एक दूसरे के लिए अपनत्व महसूस करता है और जरूरत पड़ने पर एक दूसरे की सहायता करता है । गोत्र सामाजिक नियंत्रण का आधार भी है । इसके द्वारा न्यायिक यौन सम्बन्ध निर्धारित किये जाते हैं। गोत्र के द्वारा सम्पत्ति विभाजन में भी सहायता मिलती है । गोत्र धार्मिक कार्यों का भी संचालन करता है । गोत्र-पूजा एक गोत्र के सदस्य ही कर सकते हैं। समगोत्रीय सदस्यों के बीच बहिर्गोत्रीय सदस्य गोत्र-पूजा नहीं कर सकता है।

मध्यप्रदेश के निमाड़ अंचल में रहने वाले कोरकू जनजाति भी बहिर्गोत्रीय विवाह करते हैं। कोरकूओं के परम्परागत गोत्र झारखण्डी आदिवासियों की तरह ही वनस्पति जगत, जीव जगत् एवं भौतिक वस्तुओं से सम्बन्धित हैं । इनके बीच भी गोत्र के कार्य मुख्यतः वैवाहिक सम्बन्धों को निर्धारण करने का है । कोरकूओं के बीच पारम्परिक गोत्र जांबू-जामुन का पेड़, भुरीराना-कबूतर, शिलू-केकड़ा, दावड़ा- धान का पौधा इत्यादि है । इनके बीच भी सामाजिक सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था में उस गोत्र के सदस्यों की सक्रियता एवं सहभागिता अधि क रहती है ।

उराँव आदिवासियों के बीच में भी गोत्र की अलग व्यवस्था एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है । उराँव का गोत्र वृक्षों, पशु-पक्षियों, जीव-जन्तु तथा खनिज पदार्थों पर होता है । जैसे- कच्छप-कछुआ, ख़लख़ो-एक प्रकार की मछली, कुजूर- एक प्रकार का पौधा, बाड़ा,-वटवृक्ष, ख़ाख़ा-कौआ, लकड़ा-बाघ, पन्ना-लोहा, बेक-नमक इत्यादि । इन सभी गोत्रों का एक टोटेम (चिह्न) होता है । इन गोत्र चिह्नों को किसी भी प्रकार से हानि नहीं पहुँचाया जाता है । इसलिए कि इन्होंने किसी भी तरह से किसी जमाने में इनके पूर्वजों की रक्षा की है, एक पहचान दी है तथा मदद की है । जिसके आधार पर आज इनका वंशज चला आ रहा है। उराँव समाज की संरचना भी इसी पर आधारित है । उराँव गोत्रों पर बहुत श्रद्धा रखते हैं तथा उनके नाम पर पूजा-अर्चना की जाती है। शादी-विवाह से सम्बन्धित क्रियाकलापों व नेग-दस्तूरों पर गोत्र-पूजा एवं पूर्वजों की पूजा अनिवार्य है । इस विषय पर जोसेफ कन्डुलना द्वारा संकलित पुस्तक 'छोटानागपुर के आदिवासी और उनके गोत्र' - डानियल जोजो के लेख मुण्डा गोत्र उत्पत्ति कथा के अनुसार- "मुण्डा लोग अपनी पितृकुल, गोत्र के जरिये किसी वंश विशेष में रहने का खास प्रमाण देते हैं। घराने के पूजा-पाठ में भी संगोत्रों को ही हाजिर होने का अधिकार है । अन्यों को प्रसादी भोजन खाने का कोई हक नहीं है । मरने पर एक गोत्र के लोग एक कब्र स्थान में गाड़े जाते हैं। उनका अपना 'ससन' और 'ससन दिरी' (कब्र पत्थर) है ।"[21]

पर्व-त्यौहार

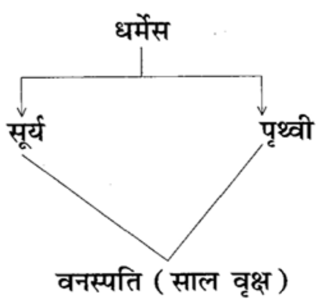
आदिवासी स्वभाव से ही प्रकृति-प्रेमी होते हैं। आदिकाल से लेकर अब तक इनका जीवन प्रकृति पर निर्भर है । समय और सभ्यता के साथ-साथ इनके जीवन में थोड़ा परिवर्तन हुआ और कृषि युग में इनका प्रवेश हुआ। कृषि में निरन्तर विकास के साथ ही इनकी आर्थिक स्थिति में परिवर्तन आया। इसलिए इनके पर्व-त्यौहार का मुख्य आधार कृषि है । इनका प्रत्येक पर्व-त्यौहार कृषि से जुड़ा है । झारखण्डी आदिवासियों का मुख्य पर्व सरहुल, करम, सोहराई, फगुवा, सेन्दरा एवं जतरा है । उराँव अपनी भाषा में सरहुल को 'ख़द्दी' के नाम से जानते हैं । मुण्डा, हो, सन्थाल तथा खड़िया इसे 'बा' या 'बाहा' के नाम से जानते हैं। ये जहाँ कहीं भी हों, वहाँ अपने मुख्य त्यौहारों को मनाते हैं। उराँव आदिवासियों का मुख्य त्यौहार 'ख़द्दी' और 'करम' हैं । इसके अलावे सोहराई, फग्गु, तुस्गो, सेन्दरा तथा जतरा त्यौहार भी मनाते हैं।

(सरहुल) ख़द्दी - ख़द्दी उराँव आदिवासियों का मुख्य त्यौहार है । यह पर्व चैत महीने शुक्ल पक्ष तृतीय को मनाया जाता है । इसी दिन से उराँवों का नया वर्ष आरंभ होता है । यह पर्व पूरी तरह कृषि से सम्बन्धित है । यह पर्व कृषि कार्य शुरू करने से पहले मनाया जाता है । इस पर्व में उराँव अपने सर्वशक्तिमान 'धर्मेस' से प्रार्थना करते हैं कि इस वर्ष बारिस अच्छी तरह से हो ताकि धरती माँ तृप्त रहे और हमारी फसल अच्छी हो । इस त्यौहार में उराँव 'धर्मेस' की सर्वश्रेष्ठ देन धरती माँ एवं सूर्य देव का विवाह करते हैं। पाहन और पाहन की पत्नी को सूर्य एवं धरती स्वरूप माना जाता है और उस दिन उनका विवाह कराया जाता है। इस विवाहोपरान्त उत्पन्न वनस्पति (साल को सर्वश्रेष्ठ माना गया है) की पूजा आराधना करते हैं। इनकी मान्यता है कि जिस तरह कुँवारी कन्या के बच्चे को समाज स्वीकार नहीं करता, उसी तरह उराँव ख़द्दी से पहले नये फल एवं सब्जी को ग्रहण नहीं करते ।[22] इस नियम को ये बहुत कड़ाई से पालन करते हैं। इस धारणा को नहीं मानने वाले व्यक्ति 'सोतबोड़आ' कहलाता है । लोग उससे छूआछूत मानते हैं। और जब तक यह पर्व नहीं बीत जाता तब तक ऐसे 'सोतबोड़आ' लोगों से दूर रहा जाता है । इस धारणा के मानने वाले लोग उन्हें अपने घर के अन्दर घुसने नहीं देते हैं। 'सोतबोड़आ' घर का खाना-पीना वर्जित रहता है । ख़द्दी में शाल-वृक्ष की पूजा की जाती है, क्योंकि इनका सर्वशक्तिमान 'धर्मेस' अदृश्य होता है । अतः प्रत्यक्ष रूप में पूजा अर्चना के लिए 'धर्मेस' की श्रेष्ठ कृति वनस्पति और इसमें भी श्रेष्ठ साल के वृक्ष ही एक अति उपयोगी वनस्पति है जो पशु एवं मनुष्यों के

लिए उपयोगी है । इस पेड़ का एक-एक चीज उपयोगी है । इसकी उपयोगिता को देखते हुए ही इस वृक्ष को सर्वश्रेष्ठ माना गया एवं इसकी आराधना की गयी । ब्रदर मिखाएल कुजूर ने अपनी पुस्तक 'उराँव संस्कृति' में लिखा है- "फलत: जंगल में गुजरते समय इनका मुख्य आहार साल फल (नौर) ही था । अकाल में



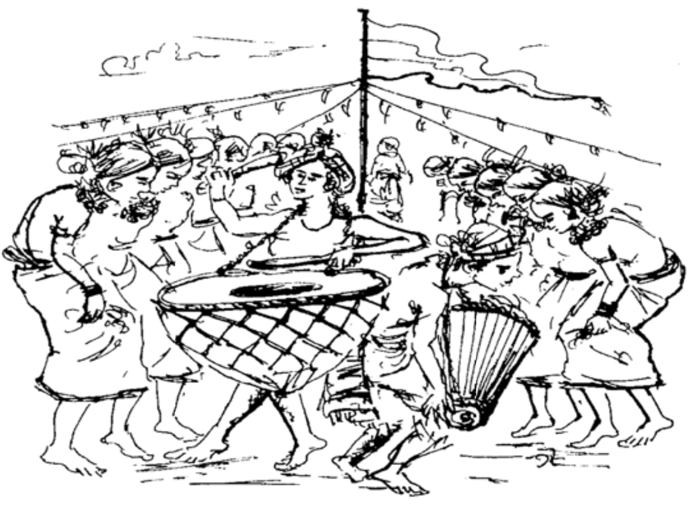
तो यह उनके लिए अमृत ही होता था । साल बीज को महुवा या अन्य किसी अन्न के साथ उबाल कर खाते थे । कभी इससे तेल भी निकालते थे । यह तेल उस समय घी के बराबर था जो रोटी और तरकारी बनाने के काम आता था । साल फल खाये बिना पूर्वजों का पेट नहीं भरता था ।"[23] इस तरह हम देखते हैं कि उराँवों का जनजीवन साल वृक्ष पर ही आधारित है । इनके जीवन का प्रत्येक संस्कार साल वृक्ष के साथ जुड़ा हुआ है । इनका कोई भी संस्कार शाल वृक्ष के बिना/बगैर अधूरा है । चाहे जन्म संस्कार हो, विवाह संस्कार हो या मृत्यु संस्कार हो । इस त्यौहार में प्रत्येक घर के बुजुर्ग पुरुष एवं महिला उपवास रखते हैं एवं दूसरे दिन पूजा करते हैं । अपने-अपने घरों में पूजा समाप्ति के बाद सभी लोग गाँव के 'चाला टोंका' में जमा होते हैं । चाला टोंका इनका बहुत ही पवित्र स्थल होता है । इस विषय में पुन: ब्र० मिखाएल कुजूर लिखते हैं - "यों सरना (चाला टोंका) उनके लिए मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर आदि स्वरूप एक पवित्र मण्डप है ।"[24] जहाँ 'चाला अयंग' और 'धर्मेस' की सामूहिक रूप में पूजा होती है । यहाँ चाला टोंका में सामूहिक पूजा गाँव के पाहन द्वारा सम्पन्न होता है । सामूहिक पूजा के पश्चात पाहन एवं पुजार गाँव वालों को यह सूचना देते हैं कि इस वर्ष बारिश कैसी होगी । हमारी



फसल कैसी होगी । इस तरह वे अपने आनेवाले वर्ष की भविष्यवाणी स्वयं कर लेते हैं । बारिश अच्छी हुई तो फसल अच्छी होगी, तब जीवन खुशहाल होगा । इस त्यौहार के पश्चात उराँव अपना कृषि कार्य प्रारंभ कर देते हैं । जैसे खेतों में खाद डालना, ढेला फोड़ना आदि ।

नोट- पूजा विधि को नहीं लिखा जा रहा है ।





(सरहुल) खद्दी नृत्य

करम – खद्दी परब के पश्चात भादों महीने के एकादशी को करम त्यौहार मनाया जाता है । यह उराँवों का दूसरा मुख्य त्यौहार है । यह पर्व भी कृषि से सम्बन्धित है । यह पर्व उस समय मनाया जाता है जब खेतों में पौधे लहलहाने लगते हैं । अर्थात खेतों में रोपने का कार्य समाप्त हो जाता है और चारों ओर हरियाली आ जाती है । इस त्यौहार में उराँव करम देव से प्रार्थना करते हैं कि खेतों में लगी फसल ठीक से हो उसमें अच्छी तरह से दाने आये तथा फसल में रोग (कीटाणु) न लगे । इसके साथ ही अपने परिवार की सुख-समृद्धि की कामना की जाती है । यह पर्व सामूहिक रूप से मनाया जाता है । पूजा के एक दिन पहले सभी लड़के-लड़कियाँ एवं महिलाएँ उपवास रखते हैं । दूसरे दिन शाम के समय गाँव के उपवासी लड़के विधि-विधान द्वारा करम की तीन, कहीं-कहीं पाँच डालियाँ काटकर लाते हैं । करम डाल को अखड़े में परिछाया जाता है । इसके बाद पाहन द्वारा पूजा-पाठ के बाद डाली अखड़े की बीच में गाड़ दी जाती है । तत्पश्चात गाँव की सभी उपवासी लड़कियाँ पूजा करती हैं । इसकी विशेष पूजा लड़कियों द्वारा होती है । बुजुर्ग उपवासी महिलाएँ करम डाली में सिर्फ जल चढ़ाती हैं एवं अगरबत्ती व धूवन दिखाती हैं । लड़कियाँ पाहन और पूजार के निर्देशन में पूजा करती है । पूजा के दौरान करमा-धरमा दो भाइयों की पारम्परिक कहानी सुनायी जाती है । इस पूजा के नौ दिन पहले 'जवा पूँप' उगाया जाता है । यह इस पर्व का मुख्य पूजन सामग्री है । इसमें सात या नौ प्रकार के बीजों को मिलाकर विधि पूर्वक अंकुर किया जाता है । करम पूजा में इसे चढ़ाया जाता है । पूजा के बाद इसे सबों के बीच वितरित किया जाता है । यह बड़ों के प्रति सम्मान, छोटों के प्रति प्यार एवं हम उम्र तथा सगे-सम्बन्धियों एवं नाते-रिश्तेदारों के बीच समानता, भाईचारा तथा सौहार्दता की सीख देता है । 'जवा पूँप' देने के सम्बन्ध में एक पारम्परिक गीत उराँवों के बीच प्रचलित है –

(1) साल भइर नू जवा पूँप बरचा
ओंदा ददा झोकदय का मला रे ओंदा 2

(2) माया लगो झोकओन बहिन
मल माया लगो मला झोकओन-2

अर्थ – साल में एक बार यह शुभ दिन, जवा का फूल लेकर आया है भैया । मैं यह फूल आपको सप्रेम भेंट कर रही हूँ । आप इसे स्वीकार करेंगे या नहीं ।



करम नृत्य

प्यारी बहन, मुझे तुमसे प्यार है तो मैं अवश्य इसे ग्रहण करूँगा, और यदि तुमसे प्यार नहीं है तो मैं इसे ग्रहण नहीं करूँगा। पूजा के दूसरे दिन सुबह में करम डाली का विसर्जन नदी या तालाब में कर दिया जाता है । घर के बड़े बुजुर्ग खेतों में भेलवा /या सिन्दवार की डाली गाड़ते हैं। भेलवा/या सिन्दवार की डाली गाड़ने के पीछे उनकी धारणा और विश्वास यह है कि फसल में कीटाणु नहीं लगेंगे एवं किसी प्रकार का नुकसान नहीं होगा ।

करम त्यौहार कई तरह का मनाया जाता है जिसमें जितिया करम, दसई करम, बूढ़ी करम तथा बाम्बा करम इत्यादि है । लेकिन इन सभी करम त्यौहार को सभी जगह नहीं मनाया जाता है । सिर्फ राजी करम को सभी जगहों पर धूम-धाम से मनाया जाता है । समय, जगह, आधुनिकता एवं बाहरी लोगों के प्रभाव के कारण पूजा विधि एवं करम कहानी में थोड़ी भिन्नता पायी जातीहै ।

सोहराई – सोहराई उराँवों का बड़ा त्यौहार है। यह त्यौहार भी कृषि से सम्बन्धित है। यह कार्तिक अमावस्या के दिन मनाया जाता है । इस त्यौहार में उराँव अपने मवेशियों की सुरक्षा एवं बढ़ोतरी के लिए 'गोरेया देवता' की पूजा करते हैं। उराँवों

का मुख्य पेशा कृषि है । उनका आर्थिक जीवन कृषि पर निर्भर करता है । कृषि कार्य के लिए वे अपने पशु पर आश्रित रहते हैं इसलिए इस दिन विशेषकर इन्हीं मवेशियों की पूजा की जाती है । कार्तिक महीने तक बारिश समाप्त हो जाता है । खेतों में फसल तैयार होने लगता है । कुछ फसल कटना शुरू हो जाता है । लोग सोहराई की तैयारी करने लगते हैं । सभी अपने-अपने घरों को लीप-पोतकर साफ करते हैं । सोहराई के दिन घर के मवेशियों को नहा धोकर साफ किया जाता है एवं उनका श्रृंगार किया जाता है । विभिन्न रंगों से उनके शरीर पर चिह्न बनाया जाता है । रंग-बिरंगे धागे से बना श्रृंगार एवं फूल माला पहनाया जाता है । सभी मवेशियों के माथे एवं सिंग में तेल एवं सिन्दूर डालते हैं । उनके रहने के स्थान को साफ सुथरा कर उसमें धुवन जलाया जाता है । वहीं 'गोरेया देवता' की पूजा की जाती है एवं कामना की जाती है कि उनके मवेशियों को किसी प्रकार की बीमारी और तकलीफ न हो । उनके मवेशियों में हमेशा वृद्धि होती रहे आदि । गोरेया देवता चारागाह में मवेशियों की रक्षा करता है इसलिए ब्रदर मिखाएल कुजूर ने 'उराँव संस्कृति' में लिखा है- "यह बलि गोरैया के नाम पर पशुओं के जंगल पहाड़ों में रक्षा के लिए दिया जाता है ।"[25] इस तरह सभी आदिवासियों में अपने पशुओं के प्रति विशेष लगाव देखने को मिलता है । पशुओं की रक्षा के लिए वे वन देवी, गोरेया देवता और अन्य नामों से जाने वाले देवताओं की पूजा अर्चना करते हैं । मध्य



सोहराई नृत्य

प्रदेश के कोरकू जनजाति इसी तरह की पूजा करते हैं। लेखक अशोक द पाटिल ने अपनी पुस्तक 'कोरकू जनजीवन' में लिखा है- "इसी प्रकार वन में चरने गये पालतू पशुओं की हिंसक वन्य पशुओं से रक्षा के लिए 'धनपालुदेव' और पशुओं की बीमारियों से रक्षा के लिए 'थानदेव' अस्तित्त्व में आये।"[26] इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी आदिवासियों के बीच अपने मवेशियों की रक्षा-हेतु देवी देवताओं की आराधना करने की प्रथा है। इसके बाद मवेशियों को 'दाना' खिलाया जाता है। यह दाना मवेशी के लिए विशेष रूप से बनाया जाता है। मवेशी के प्रेम और सम्मान में 'दाना' को उस दिन परिवार के सभी सदस्यगण खाते हैं। इसके पश्चात 'गोरेया' देवता को दी गयी बलि के मुर्गे का मांस से खिचड़ी बनाया जाता है जिसे 'सूड़ी' या 'तहड़ी' कहते हैं। इसे प्रसाद के रूप में सभी को दिया जाता है। इस दिन घर के चरवाहे की भी विशेष खातिरदारी की जाती है। चरवाहे के लिए नये कपड़े दिये जाते हैं। इसी विशेष दिन, नये चरवाहे की नियुक्ति की जाती है। यदि चरवाहा पुनः रहना चाहे तो परम्परागत विधि से उसकी नियुक्ति की रस्म पूरी की जाती है। इसी दिन उसके साल भर के कार्य का लेन-देन तय किया जाता है। कहीं-कहीं इसकी प्रक्रिया में भिन्नता पायी जाती है। कुछ क्षेत्रों में यह रस्म माघ पूर्णिमा के दिन किया जाता है, जैसे- मध्य प्रदेश, सरगुजा, उदयपुर तथा जशपुर आदि स्थानों पर।

फग्गु – फग्गु भी उराँवों का पर्व है। यह फागुन महीने में मनाया जाता है। यह उराँवों के वर्ष समाप्ति का महीना है। चैत का महीना इनके वर्ष का पहला महीना है। वर्ष के अन्तिम माह में साल के विदाई में 'फग्गु' पर्व मनाया जाता है। फग्गु में सेमल की डाली तथा ईरेंडी की डाली को गाड़कर विधि-विधान द्वारा पूजा करके उसे काटा जाता है। कहीं-कहीं दोनों में से एक डाली को ही गाड़ा जाता है। फिर आग लगाया जाता है। आग लगाने का अर्थ है इस वर्ष में जो भी बुराइयाँ थी वह सभी आग के साथ जलकर समाप्त हो गई। राख से टीका लगाया जाता है और 'डंडा कट्टा' नामक विधि करने के पश्चात गाँव के युवक शिकार पर निकल जाते हैं। इसे 'फग्गु सेन्दरा' कहते हैं। शिकारियों के सम्मान में उनके लौटने तक गाँव के कुएँ से पानी नहीं भरा जाता है। जब वे वापस आते हैं तो घर महिलाएँ उनका पैर धोती है उन्हें आदर के उन्हें लेकर बैठाती है। इसके पश्चात किसी भी कुएँ से पानी भरा जाता है। नियम का उल्लंघन करने वालों को सामाजिक दण्ड दिया जाता है।

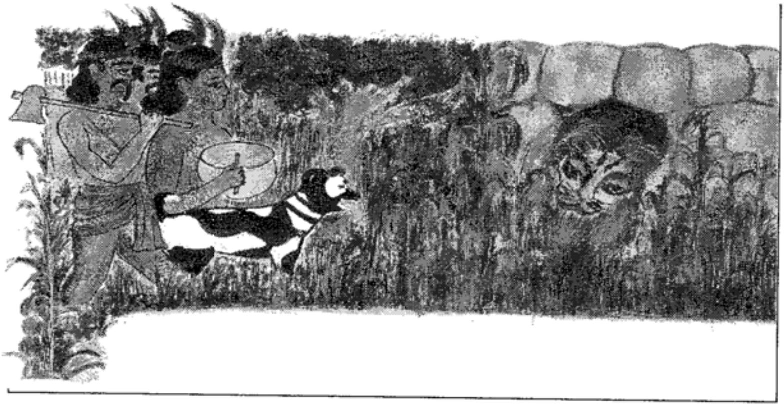


तुस्गो (नयाखानी) - यह त्यौहार भी कृषि से सम्बन्धित है । इसे उराँव बहुत धूमधाम से मनाते हैं । इस त्यौहार में मुख्यत: पूर्वजों को और सर्वशक्तिमान 'धर्मेस' को धन्यवाद दिया जाता है । इसलिए कि उन्होंने जीविका के लिए भूमि दिया । इनका सोचना है कि उनकी दया, दुआ एवं कृपा से हमारे पास अन्न आया । इसलिए इस अन्न का सबसे पहले 'धर्मेस' एवं हमारे 'पूर्वज' ही ग्रहण करेंगे । इस विषय में बोनिफास तिर्की अपनी पुस्तक में लिखते हैं "-

"The point of 'Nayakhani is keeping the memory of the ancestors, and the thanking them for the gift of life, land and livestock, which they have bequeathed to their descendants."[27]

इस त्यौहार में अधिक पूजा-पाठ और विधि-विधान नहीं है । टाँड़ खेतों में हल्के धान जिसे 'गोड़ा धान' कहते हैं, लगाया जाता है । यह जल्दी पकता है । इस तरह अन्य अन्न जो पहले तैयार होता है उससे पकवान तैयार किये जाते हैं । उसे इस त्यौहार में पूर्वजों और धर्मेस को अर्पित किया जाता है फिर लोग खाते पीते हैं एवं खुशियाँ मनाते हैं ।

सेन्दरा - सेन्दरा उराँवों के जीवन का मुख्य अंग है । यह उनके आर्थिक जीवन का एक मुख्य आधार है एवं इनके धर्म तथा संस्कृति से जुड़ा हुआ है । आदिम जमाने से इस परम्परा की शुरुआत हुई है । जो अब इनकी संस्कृति एवं धर्म का हिस्सा बन गया । सेन्दरा कई दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण है । इससे आत्मरक्षा, युद्ध विद्या, भोजन तथा अन्य कई जरूरतों को पूरा किया जाता है । शिकार का सम्बन्ध



सेन्दरा

भोजन और जीविका से था। आदिम जमाने में शिकार एवं कंद मूल ही भोजन का मुख्य स्रोत था। विकास के क्रम में इसका स्वरूप बदलता गया और धीरे-धीरे आज सिर्फ रस्म के नाम पर इसे निभाया जाता है।

उराँव के बीच महिलाओं द्वारा भी शिकार खेलने का रिवाज है। इसे उराँव आदिवासी अपनी कुड़ुख़ भाषा में 'मुक्का सेन्दरा' के नाम से जानते हैं। यह प्रत्येक वर्ष न होकर 12 वर्ष के अन्तराल में होता है। यह एक विशेष सेन्दरा है जो उराँव इतिहास से जुड़ा है।

सेन्दरा कई प्रकार के हैं। इसका आयोजन अलग-अलग समय और अवसरों पर किया जाता है। जैसे- फग्गु सेन्दरा का आयोजन फागुन माह में किया जाता है। बिसु सेन्दरा बैशाख के महीने में होता है। यह सेन्दरा किसी युवक के पारिवारिक जीवन में खरा उतरने का परिचायक है। इस सेन्दरा की अवधि तीन दिन से लेकर डेढ़ माह तक की होती है। सेन्दरा के लिए जाने के पूर्व अच्छी तैयारी की जाती है। मुर्गे की बांग के साथ ही सभी व्यक्ति अपने-अपने पड़हा के अनुसार जमा होते हैं। वहाँ पर सेन्दरा में ले जाने वाले सभी प्रकार के हथियारों, औजारों तथा फन्दों को जमा किया जाता है जिसमें तीर, धनुष, बरछा, तलवार, कुलहाड़ी, छूरा, गुलेल, फन्दे, जाल तथा लाठी-डण्डे होते हैं। सेन्दरा निकलने के पूर्व गाँव का पाहन पूजा-पाठ करता है इस पूजा में सभी सेन्दरा जाने वालों को शामिल होना आवश्यक होता है। नियम का उल्लंघन करने वाले दंड के भागीदार होते हैं। इसके बाद सभी सेन्दरा के लिए निकल पड़ते हैं। इनके साथ इनका कुत्ता

भी सहभागी होता है । कुत्ता भी शिकार पकड़ने में इनकी मदद करता है इसलिए कुत्ते को भी बराबर की हिस्सेदारी मिलती है । यह उराँव समाज में स्थित समानता एवं पशु प्रेम को दर्शाता है ।

इसी प्रकार एक और सेन्दरा का आयोजन किया जाता है जिसे 'छछड़ा बेचना' कहते हैं । इस सेन्दरा का आयोजन एक पक्षी विशेष के सहयोग से किया जाता है । इस सेन्दरा में 'शिकरा' नामक पक्षी की मुख्य भूमिका होती है । इस पक्षी को उराँव लोग बहुत शौक से पालते हैं । यह एक शिकारी पक्षी होता है । यह दो तरह का होता है एक छोटा एवं एक बड़ा जाति का । शिकारी पक्षी होने के कारण इसका शरीर गठीला होता है । यह पक्षी उड़ने में तेज तथा कड़े व बड़े नाखून वाला होता है । यह पक्षी अपने मालिक का बहुत ही स्वामीभक्त होता है । वह उसे पहचानता एवं उसकी भाषा समझता है । यह पक्षी सेन्दरा में अपने मालिक की मदद करता है ।

उराँव समाज में मछली मारना भी शिकार के अन्तर्गत आता है लेकिन इसे 'सेन्दरा' नहीं कहा जाता है । यह क्रिया भी इनके धर्म से जुड़ा है । खद्दी पर्व में उपवास के दिन पुरुषों को मछली, केकड़ा पकड़ने के लिए जाना आवश्यक होता है । इन वस्तुओं को पूजा में शामिल किया जाता है । इसके पश्चात् इसे चूल्हे के पास टांग कर रख दिया जाता है । इन चीजों को बोनेवाले बीज में मिलाया जाता है । इसके पीछे इनकी धारणा है कि उपज बहुत अधिक होगी ।

जतरा – उराँवों के बीच एक और पर्व है जिसे ये जतरा के नाम से आयोजित करते हैं । यह मौसम और मुख्य पर्वों के आधार पर होता है । जैसे – जेठ जतरा, ईंद जतरा, सोहरई जतरा इत्यादि । प्रत्येक जतरा पर्व का आयोजन मौसम तथा त्यौहार के अनुसार होता है । अतः प्रत्येक जतरा का गीत, नृत्य एवं मांदर के ताल में भिन्नता होती है । सभी गीतों के अलग-अलग लय एवं राग होते हैं । इस नियम का कड़ाई से पालन होता है । बुजुर्ग व्यक्ति (महिला या पुरुष) इस पर नजर रखते हैं कि कोई गलत गीत या नृत्य तो नहीं कर रहा है । जतरा पर्व के एक सप्ताह पहले से नृत्य-गीत की तैयारी की जाती है । सभी व्यक्ति शाम को भोजन के पश्चात् गाँव के अखड़ा में एकत्रित होते हैं और मौसम के अनुसार गाते एवं नाचते हैं । यह उनका अभ्यास का समय होता है ।

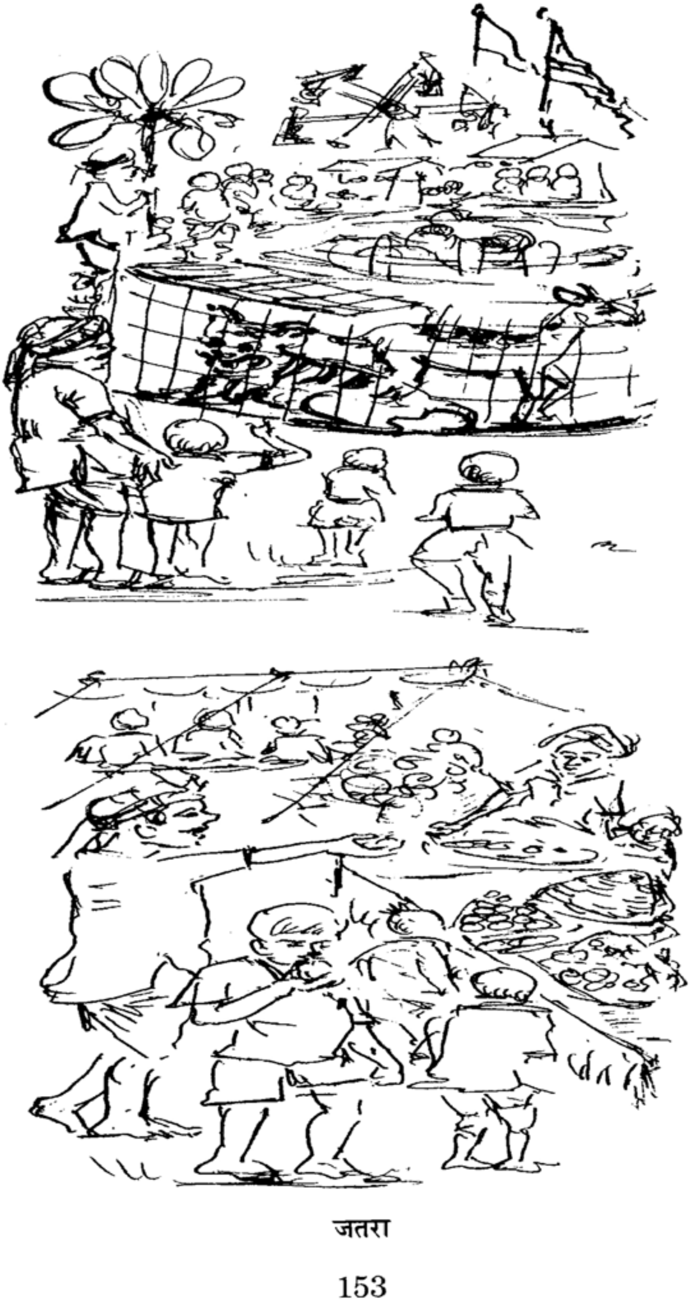
प्रत्येक जतरा का आयोजन के लिए अलग-अलग दिन एवं स्थान निश्चित किया गया है । इस उत्सव को मनाने के लिए जो भी स्थान निश्चित किया गया उस स्थान के देवी-देवताओं को खुश करने के लिए गाँव के पाहन द्वारा पूजा- पाठ की जाती है । तत्पश्चात् जतरा पर्व का आयोजन किया जाता है । यह इनकी सदियों पुरानी परम्परा है ।

मेजबान गाँव अन्य गाँवों को 'जतरा पर्व' में शामिल होने के लिए निमंत्रण देता है । 'जतरा' के दिन 'जतरा टाँड़' में सभी एकत्रित होते हैं निमंत्रित गाँव अपने-अपने गाँव के नृत्य-दल के साथ शामिल होते हैं । सभी अपने-अपने गाँव और पड़हा के निशान चिह्न के साथ जतरा में पहुँचते हैं । आमंत्रित गाँव के लोग जब निश्चित 'जतरा टाँड़' में पहुँचते हैं तो मेजबान गाँव नृत्य-गीत के साथ उनका स्वागत करता है । तथा गाँव के महतो व पाहन को काठ के घोड़े, हाथी में बैठा कर 'जतरा टाँड़' में घुमाया जाता है । फिर हर उम्र के लोग अपने-अपने गाँव के समूह में नाचते-गाते हैं और आनन्द उठाते हैं । अंत में मेहमान गाँव के नृत्य दल को झण्डा देकर सम्मानित किया जाता है और 'जतरा' का समापन होता है । मेजबान गाँव के करीब-करीब सभी परिवार में मेहमान (सगे सम्बन्धी) आये होते हैं । इनकी खातिरदारी में अच्छे खान-पान (पकवान) बनते हैं, चावल का 'हंड़िया' तैयार किया होता है । सभी मिलजुलकर खाते-पीते हैं एवं जतरा पर्व का आनन्द उठाते हैं ।

'जतरा पर्व' का मुख्य उद्देश्य है - सगे सम्बन्धियों से मिलना-जुलना, आनन्द मनाना, विवाह के लिए वर-वधू दिखाना एवं पसन्द करना तथा आपसी प्रेम को बनाये रखना है ।

उराँव मूलतः कृषि पर आश्रित हैं । कृषि कार्य की अधिकता गाँव की दूरी तथा यातायात के साधन की कमी के कारण लोगों ने इस उत्सव को मनाने का निर्णय लिया ताकि इसी बहाने लोग एक दूसरे से मिल सके । इसके अलावा 'जतरा' के माध्यम से आसपास के सभी गाँव प्रेम के सूत्र में बंधे होते हैं । इससे बंधुत्व व भाईचारे की भावना को प्रोत्साहन मिलता है । प्रत्येक वर्ष 'जतरा' में सामूहिक रूप से मिलने के कारण सभी गाँव में भाईचारे का सम्बन्ध होता है, आपसी मनमुटाव नहीं होता एवं किसी एक गाँव मे विपत्ति आने पर पड़ोसी गाँव उसके सहयोगी होते हैं ।

वैसे तो उराँव जाति के बीच कई प्रकार के जतरा का आयोजन किया जाता है लेकिन 'मुड़मा जतरा' एक विशेष 'जतरा' है । यह झारखण्ड की प्रमुख जाति उराँवों के बीच प्रचलित है । यह एक ऐतिहासिक जतरा है जिसका आयोजन 'मुड़मा' नामक स्थान में किया जाता है । यह उराँवों के बीच सबसे बड़ा जतरा है । इसे उराँव बहुत धूम-धाम से तीन दिन तक मनाते हैं ।

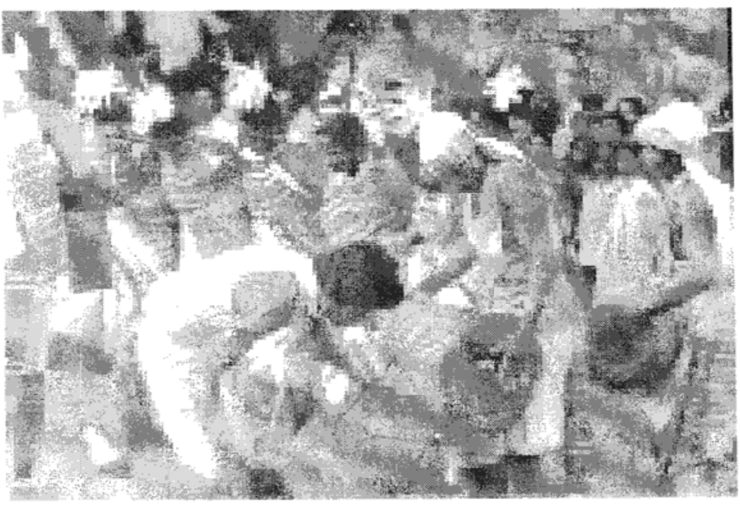


जतरा

नृत्य-संगीत

नृत्य और संगीत ऐसे माध्यम हैं जो प्रत्येक मनुष्य के जीवन को रंगीन तरोताजा और खुशहाल बनाते हैं । समयान्तराल में मनुष्य के वास्तविक गुण और प्रकृत आकांक्षाएँ इन्हीं कला रूपों में समादृत होकर समूह और जाति विशेष की अभिव्यक्ति में ढलती है । यह प्रक्रिया चैतन्य होती है और किसी गुण या आकांक्षा को स्वयं में अंकित कर उसका पोषण करने लगती है । आदिवासियों के नृत्य और संगीत में इसकी छवि मिलती है । उराँवों के जीवन में भी नृत्य संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है । नृत्यगीत इनके जीवन का अभिन्न अंग है ।

नृत्य संगीत के बिना उराँव सामाज अधूरा है । नृत्यगीत इनके जीवन का अभिन्न अंग है । तभी तो कुड़ुख़ में एक कहावत है – "एकना दिम तोकना, कत्था दिम डण्डी अर्थात् चलना ही नृत्य है एवं बोलना ही गीत है ।" उराँव जन जीवन में प्रत्येक मौसम, पर्व-त्यौहार तथा संस्कारों से सम्बन्धित भिन्न-भिन्न गीत एवं नृत्य शैलियाँ हैं जो स्वयं में विशिष्ट हैं । ये विशिष्टता ही इनकी पंहचान और अस्मिता है ।



आदिवासी नृत्य संगीत

उराँव लोकगीत मौसम विशेष एवं पर्व त्यौहारों से सम्बन्धित हैं । इसलिए इन्हें साहे डण्डी कहा जाता है । इसलिए डब्ल्यू० जी० आर्चर ने लिखा है "उराँवों का एक भी गीत नहीं, जो नृत्य, पर्व, विवाह, कृषि – जैसे किसी आयोजन से सम्बन्धित न हो और एक भी आयोजन नहीं जो गीत के बिना पूर्ण हो सके ।"[28] इनका जीवन कृषि पर आधारित है और कृषि वर्षा पर निर्भर है । इसलिए इनके गीत नृत्य भी मौसम पर आधारित हैं । विभिन्न मौसम के ये गीत एवं नृत्य इनके जीवन के विभिन्न पहलूओं को प्रतिबिम्बित करते हैं । ये विभिन्न प्रकार के गीत एवं नृत्य ही इनकी श्रमसाध्यता हैं । दिनभर की कड़ी मेहनत के पश्चात् शाम होते ही सभी उम्र के लोग गाँव के अखड़ा में एकत्र होते हैं । फिर शुरू होता है नृत्य और गीत का दौर । मौसम के अनुरूप गीत नृत्य वाकई मन को मोह लेते हैं । अखड़ा पहुँचते ही सभी की थकान दूर हो जाती है । मौसमी गीत कई हैं जैसे – फग्गु, ख़द्दी, टुंटा, जदुरा, जतरा, धुड़िया, जेठवारी, आसारी, माठा, लुफ्फकी, रोपा, करम इत्यादि । इन सभी गीतों का अपना-अपना अलग राग है जो नृत्य आरंभ होने से लेकर नृत्य समाप्त होने तक अलग-अलग समय के लिए निर्धारित हैं । इन गीतों को गाने के लिए जो राग एवं समय का निर्धारण किया गया है वह प्रकृति के नियमों को ध्यान में रखकर किया गया है अतः इन गीतों का राग एवं समय के साथ समन्वय समाज के लिए या पूरे जीव जगत के लिए महत्त्वपूर्ण है । इसके अलावा जतरा एवं बेंज्जा (विवाह) गीतों का अलग महत्त्व है । इन गीतों का राग एवं समय भी अलग होता है । अर्थात उपरोक्त सभी गीतों के राग पर्व विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं । साथ ही मौसम एवं समय का भी निर्देशन करते हैं । नर्तक व गायक इसका पूर्ण ख्याल रखते हैं । कभी-कभी भूलवश या अनजाने में समयानुकूल गीत न होने पर बुजूर्ग सतर्कता बरतते हैं एवं उन्हें मौसम के अनुकूल गीतों, नृत्यों पर मार्ग दर्शन हैं । 'साहे डण्डी' की महत्ता को बरकरार रखने के लिए बुजुर्गों ने एक निषिद्धता बरती है । वे कहते हैं कि मौसमानुकूल गीत नृत्य न करने पर फोड़ा- फूंसी का प्रकोप होगा जो सम्बन्धित गायक व नर्तक को त्रस्त करेगा । इसलिए उराँव इस मान्यता को मानते हुए इन नियमों का पालन करते हैं ।

उराँव नृत्य समूह में होता है । नृत्य के लिए सभी नर्तकों को कतारबद्ध होना पड़ता है । सभी एक दूसरे से जुड़ने के लिए हथेलियों को फँसाते हैं । कुछ नृत्यों में कंधे में हाथ रखकर या कमर पर हाथ रखकर एक दूसरे से जुड़ते हैं । नृत्य की भिन्नता के कारण कभी-कभी जोड़ाने की सभी पद्धतियों को छोड़कर स्वतंत्र

रूप से प्रत्येक नर्तक नृत्य करते हैं । फिर सभी आपस में जुट जाते हैं । यह एक प्रकार का नृत्य का क्रम है । इस बीच में कभी बैठकर दाँये-बाँये झूमते हुए ताली बजाना भी शामिल है । कभी झुककर आगे बढ़ना, कभी पीछे लौटना, पीछे मुड़ना इत्यादि नृत्य की विभिन्नताएँ एवं विशिष्टताएँ हैं । इन्हें हम नृत्य कला के रूप में जान सकते हैं । ये सभी देखने में सुन्दर लगते हैं एवं मन को मोह लेते हैं । नृत्य के लिए पुरुषों का दल अलग से जोड़ाता है । उनका समूह कतारबद्ध रूप में आगे-आगे बढ़ता है । उनके पीछे महिला नृत्य दल होता है महिला पुरुष दोनों के कतारों में नृत्य का ताल-मेल होता है जो बिल्कुल नपा तुला होता है । इसलिए बड़े समूह का नृत्य दल होने के बावजूद भी आपस में टकराने की स्थिति नहीं आती है । यह देखने में अत्याकर्षक और मन को मोहने वाला होता है ।

उराँव गीत प्राय: दो-दो कड़ी के छोटे-छोटे होते हैं जिसमें पहली कड़ी 'ओरे नन्ना' कहलाता है एवं दूसरी कड़ी 'किरतअना' कहलाता है । इन्हीं दो कड़ी की गीतों को दुहरा-दुहरा कर गाया जाता है एवं स्त्री पुरुष अलग-अलग बारी-बारी से गाते हैं । दुहराने के क्रम में छोटे-छोटे शब्द जोड़ा जाता है जो राग बनाने में सहायक होता है । फा० जोन लकड़ा ने अपनी पुस्तक मौसिमी राग में लिखा है "बहुधा पक्तियाँ दुहरायी जाती हैं और दूसरी बार में अंत के कुछ शब्द जैसे - 'रे', 'हो', 'भाई' आदि छोड़ दिये जाते हैं ।"[29] इस तरह से नृत्य और गीत आधी रात तक चलता रहता है । ये नृत्य गीत मनोरंजन के ख्याल से प्रत्येक मौसम में होता रहता है । परन्तु कोई पर्व विशेष के पहुँचने पर उस पर्व विशेष से सम्बन्धित नृत्य गीत ही गाया जाता है जिससे सम्बन्धित पर्व-त्यौहार का भरपूर आनन्द लिया जा सके । नित्य दिन के अभ्यास से अखड़ा या जतरा में नृत्य करते समय कतारबद्धता और लयबद्धता बनी रहती है जो देखने में मोहक और सुन्दर लगता है तथा नर्तक दल भी नृत्य का पूरा आनन्द उठा सकते हैं । आदिवासी संस्कृति की हृदय स्थली 'अखड़ा' में हर व्यक्ति कलाकार हो जाता है । हर व्यक्ति गायक और वादक भी होता है बारी-बारी से सभी नृत्य गायन एवं वादन का आनन्द लेते हैं । इस तरह से पर्व-त्यौहारों में रातभर अखड़ा गुलजार रहता है ।

उराँव संस्कृति में विवाह सम्बन्धी गीतों का अलग ही महत्त्व है । ये विवाह गीत विवाह के प्रत्येक नेग दस्तूर के लिए अलग-अलग होते हैं । जैसे - मेहमानी के गीत, विवाह के सप्ताह भर पहले डोमकच गीत, बरात परीछने के गीत, विवाह बैठने के गीत, तेल सिंदूर के गीत एवं विदाई के गीत इत्यादि प्रमुख हैं । कहीं-कहीं समधी जोड़ाने की 'प्रक्रिया' मेहमानी में ही होती है कहीं-कहीं विवाह के दिन

होता है । लेकिन यह नेग अधिकत्तर मेहमानी में ही सम्पन्न किया जाता है । शहरों में 'बाला भेंट' का भी नेग होता है जिसमें समधिनों का मिलन व परिचय होता है । इन दोनों नेग से सम्बन्धित भी कई गीत हैं जो तीव्र, लोच व रोचक ढंग से गाये जाते हैं । जगदीश त्रिगुणायत जी ने अपनी लेख में लिखा है "विवाह गीत सभी अनुष्ठानों के लिए होते हैं जिन्हें स्त्री-पुरुष उन अवसरों पर बैठकर गाते हैं । वे उराँव के विनोदशीलता से भरे हैं । साथ ही उनमें मनोहर प्रतीकों की भरमार है ।"[30]

इन सभी नृत्य गीतों में वाद्य यंत्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान हैं । गाँव का सामुहिक वाद्य यंत्र धुमकुड़िया में सुरक्षित रखे जाते हैं । उराँवों द्वारा प्रयोग में आनेवाले प्रमुख वाद्य यंत्र निम्नलिखित हैं - मांदर, नगड़ा, ढुलंकी, झाँझ, सहनाई, घंटा, भेंर, टुइला, ठेचका, केन्दरा इत्यादि । इनमें मांदर का प्रयोग सबसे अधिक होता है । कोई भी पर्व-त्यौहार हो या विवाह, मांदर की प्रधानता होती है । करम, फग्गु, ख़द्दी, सोहराई, सभी प्रकार के जतरा इत्यादि में तो मांदर के बिना सब कुछ सूना हो जाता है । सभी नृत्य गीतों में मांदर ही गुंजित होती है । तभी तो ब्र० मथियस टोप्पो लिखते हैं "यह अत्यन्त उत्साहवर्द्धक वाद्य है । इसकी आवाज गंभीर एवं मधुर होती है ।"[31] मांदर के बिना कोई भी गीत नृत्य करना संभव नहीं, क्योंकि विभिन्न नृत्य गीतों के लिए मांदर में विभिन्न तालों का निर्माण किया गया है । यही ताल और गीत नृत्य में स्फूर्ति एवं जान लाता है । अतः पुनः लेखक महोदय लिखते हैं "ताल में प्रत्येक मात्रा की अपनी विशेषता एवं महत्ता है । ताल की मात्राएँ नाचने वालों को विभिन्न अंगस्थितियों को पदर्शित हैं करती हैं । नाचने वालों का कौन सा पैर ताल के किस मात्रा पर कहाँ पड़ता है, उसका समुचित समन्वय करने का प्रयत्न तालों में किया गया है । अतः नाचने वालों के प्रत्येक कदम, गति, उछलने, रुकने आदि के लिए मांदर ताल में विशेष मात्राएँ हैं ।"[32] नृत्य दल में कई मांदर वादक भी होते हैं । वे भी नृत्य व गीत के अनुसार ही अपना ताल ठोंकते हैं । वे भी अपने अनुसार से नृत्य करते हैं और नृत्य दल के साथ ही आगे बढ़ते हैं व पीछे मुड़ते हैं । वे नृत्य दल के आगे-आगे मांदर बजाते हुए नृत्य भी करते हैं । इस क्रिया में मांदर वादक (मंदरिया) झाँझ वादक व ठेचका वादक की मुख्य भूमिका होती है । ये सभी तीव्र गति से नृत्य करते हैं । एक तरह से वे नृत्य का संचालन भी करते हैं । मांदर भी काफी सजा संवरा होता है । इस सजे संवरे रूप में मांदर वादक की नृत्य कला चित्ताकर्षक और अति सराहनीय होती है । फा० जोन लकड़ा ने मौसिमी राग में लिखा है "मांदर बजाने वालों की कदमों की अपनी ही विशेषता है ।"[33] इस तरह से उराँव जनजीवन में नृत्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

उराँव समाज में धार्मिक विश्वास और प्रथाएँ

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । वह समाज में रहता है । प्रत्येक मनुष्य में कुछ सामान्य प्रकार की विशेषताएँ पायी जाती हैं । कुछ सामान्य गुण कुछ सामान्य अवगुण पाये जाते हैं। कुछ शारीरिक कुछ मानसिक। ऊपरी तौर पर शारीरिक रंग-रूप के आधार पर एक तरह के लोगों को एक वर्ग में बाँटा गया जिसे प्रजातीय वर्गीकरण कहा गया। आदिम काल से एक तरह के गुण, अवगुण, चारित्रिक विशेषता वाले एक समाज में एकत्रित होते चले गये । इस तरह आदिवासी समाज भी एकत्रित होता चला गया। प्रत्येक समाज के अपने-अपने प्रचलित, धर्म, विश्वास, संस्कार एवं अपनी-अपनी प्रथाएँ हैं । जिसपर सबका अपना-अपना, परम्परागत, विश्वास, मान्यताएँ, संस्कार, प्रथाएँ एवं धर्म है जिसे सभी किसी न किसी रूप में मानते हैं।

ये सभी शब्द धर्म, विश्वास, मान्यताएँ, संस्कार एवं प्रथाएँ सभी एक दूसरे से गूंथे हुए हैं । ये एक दूसरे के पूरक हैं, एक के बिना दूसरे का अस्तित्त्व नहीं है। धर्म को ही लें । यदि मनुष्य को विश्वास है तभी वह धर्म स्वीकारता है, धर्म की बात मानता है, तभी संस्कार करता है, संस्कार को मानता है, तभी वह परम्परा से चला आ रहा है, तभी वह प्रथा कहलाता है । इन सभी बातों को, क्रियाओं को, विश्वास को, परम्परा को, प्रथा को, मनुष्य, परिवार, समाज, राज्य मानता है तभी वह धर्म कहलाता है । इन सभी क्रियाओं को कोई व्यक्तिगत रूप से न मानता हो लेकिन सामाजिक रूप से स्वीकारना ही पड़ता है। धर्म मनुष्य के लिए ऐसा ही विश्वसनीय और संवेदनशील है । धर्म क्या है एवं इसकी शुरुआत या नींव मानव मस्तिष्क में कब और कैसे हुई ? यह कहना बहुत कठिन है फिर भी यहाँ विद्वानों का मत जानना अति आवश्यक है :-

(1) **विद्वान जेम्स फ्रेजर के अनुसार** - "मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियों की संतुष्टि या आराधना जिनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति और मानव-जीवन को मार्ग दिखलाती और नियंत्रित करती है ।"

(2) **मैंलिनोवस्की के अनुसार** - "धर्म क्रिया का एक तरीका है और साथ ही विश्वासों की एक अवस्था भी, और धर्म एक समाजशास्त्रीय घटना के साथ-साथ एक व्यक्तिगत अनुभव भी है ।"

(3) टॉयलर - "धर्म आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास है ।"

(4) हॉवेल - "धर्म अलौकिक शक्ति के ऊपर विश्वास पर आधारित है जो आत्मावाद और मन को सम्मिलित कराता है ।"

(5) **मैरेट** - "धर्म आदिवासी मानव की बौद्धिक कल्पनाओं का परिणाम है ।"

(6) **मजूमदार तथा मदन** - "धर्म किसी वस्तु अथवा शक्ति जो अलौकिक एवं अज्ञेय के भय का प्रत्युक्तर है, यह उस व्यवहार का प्रदर्शन है जो लोगों को अलौकिक शक्ति की कल्पना से उत्पन्न होता है ।"

(7) **बकेट** - शब्द विधा के अनुसार Religion लैटिन शब्द Religio से बना है जो स्वयं 'Ligare' से निकला है । इसका तात्पर्य बाँधने से है । इसका अर्थ कुछ ऐसे संस्कारों को सम्पादन करने से है जो मनुष्य और उस अलौकिक शक्ति को एक दूसरे से बाँधते हों । इससे स्पष्ट होता है कि धर्म का निर्माण विश्वास एवं विभिन्न प्रकार के संस्कार करते हैं । सभी धर्मों में ये दो तथ्य पाये जाते हैं । सभी धर्म अपनी एक मानसिक विचारधारा उस अलौकिक शक्ति के लिए रखते हैं । विश्वास तथा विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ उनका वृहतर रूप हैं । धर्म पुराने हो या नये, सभी का आधार विश्वास तथा संस्कार हैं अर्थात धर्म एक आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास है जिसे प्रकट करने के लिए मानव विभिन्न प्रकार के संस्कार करता है । इसलिए विश्वास (Belief) तथा उपचार (Rituals) किसी भी धर्म के दो अटूट अंग है । कुछ विद्वान जैसे - जेरल्ड एल बेरी, लूक्रे तियुस, मैलिनोवस्की तथा रेडक्लिफ ब्राउन का विचार है कि - "मनुष्य की भय भावना से धर्म की उत्पत्ति हुई है ।" चूंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है । वह अकेला रहकर जीवन नहीं बिता सकता । समाज पर निर्भर रहकर समाज के साथ ही उसे रहना है । समाज व्यक्ति के जीवन की रक्षा करता है । समाज व्यक्ति को और अपने को जीवित रखने के लिए कुछ ऐसे कल्याणकारी कार्यों की ओर संकेत करता है जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए । मनुष्य चेतनाशील प्राणी है उसे भय है कि यदि वह समाज के नियमों का पालन न करे तो अलौकिक शक्ति उसे अवश्य दंड देगी । इस प्रकार अलौकिक शक्ति के प्रति भय और श्रद्धा उत्पन्न होती है । सम्भवतः यही चेतना धर्म का आरम्भिक रूप है । समय के साथ भौतिक विकास होता गया और धर्म का भी विकास होता गया, जिसे हम मनुष्य के विकास की कहानी भी कह सकते हैं ।

धर्म की उत्पत्ति को भली-भांति समझने के लिए विद्वानों ने आदिवासी समाज को आधार माना है एवं इनका गहन अध्ययन के पश्चात् कुछ विद्वानों ने अपने निष्कर्ष दिये हैं जिसके, आधार पर कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं।

(1) प्रसिद्ध विद्वान एडवर्ड टॉयलर ने जीववाद या आत्मावाद (Animism) सिद्धान्त को माना है। जिसके अनुसार मृत व्यक्ति की आत्माएँ अदृश्य रूप में मनुष्यों के जीवन के हर पहलू पर नियंत्रण रखती है जिससे मनुष्य को नुकसान ही होता है। यही कारण है कि मनुष्य आत्माओं से डरते हैं एवं श्रद्धा एवं भक्ति से इनकी आराधना करते हैं। इस तरह टॉयलर महोदय धर्म की उत्पत्ति पूर्वजों की आत्मा की पूजा से बताते हैं।

(2) मैक्समूलर, प्रीयम तथा मैरेट आदि विद्वानों ने आत्मावाद (Animism) को माना है। इसे मानावाद या जीवित सत्तावाद (manaism) (Animitism) भी कहा गया है। इसके अनुसार प्रत्येक चेतन-अचेतन पदार्थ में जीवन सत्ता है, जो अलौकिक है और जिसे प्रसन्न रखने में मनुष्य का कल्याण है। अर्थात संसार की सभी वस्तुओं में एक विशेष परालौकिक, असीम तथा मानवेत्तर शक्ति निहित है किसी में कम किसी में अधिक। अत: आदिकालीन समाज के सदस्यों में यह विश्वास दृढ़ हो गया कि 'माना' अर्थात अलौकिक शक्ति ही मनुष्य को किसी कार्य में सफलता दिला सकती है।

(3) प्रकृतिवाद (Naturalism) - मैक्समूलर जैसे विद्वानों के अनुसार प्रकृति पूजा ही धर्म का आदि रूप है। आदि मानव प्रकृति की गोद में पलता-बढ़ता था उसे अपनी जरूरतें प्रकृति से पूरी होती थी। परिणाम स्वरूप एक ओर प्रकृति के प्रति श्रद्धा और भक्ति की भावना उत्पन्न होती थी। वहीं दूसरी ओर प्राकृतिक विपदाओं के कारण जैसे - आँधी, तूफान, बाढ़, इत्यादि से भय आतंक एवं आश्चर्य होता था। इस तरह प्राकृतिक विपदाओं को वे प्रकृति की नाराजगी समझते थे। अत: प्रकृति के कोपों से बचने के लिए उसे खुश रखना आवश्यक था। इसलिए उसकी पूजा, प्रार्थना तथा आराधना की जाने लगीं। इसी प्रकृति पूजा से धर्म की उत्पत्ति मानी जाती है।

उपरोक्त सभी सिद्धान्त धर्म की उत्पत्ति एवं सिद्धान्त को इंगित करते हैं। आदिकालीन अवस्था से आदि मानव विकास करता हुआ वर्तमान वैज्ञानिक युग में कदम रख चुका है। वर्तमान में धर्म का क्रमिक विकास

हो चुका है । लेकिन फिर भी करीब-करीब सभी धर्मों में इन तीनों सिद्धान्तों का मिश्रण या कुछ अंश अवश्य ही पाया जाता है । जैसे- आत्मा की पूजा, अलौकिक शक्ति की पूजा तथा प्रकृति की पूजा । जैसे- हिन्दू धर्म में आत्मा याने पूर्वजों की पूजा, प्रकृति की पूजा की जाती है, साथ ही कई देवी देवताओं की पूजा की जाती है । ईसाई धर्म में पूर्वजों एवं आत्मा की पूजा-पाठ होती है । मुस्लिम धर्म में प्रकृति की पूजा (चांद तारे) को आधार माना जाता है । आदिवासियों के धर्म में इन सभी तीनों सिद्धान्तों का मिश्रण है । उराँव इस पर पूरी आस्था रखते हैं ।

(1) अलौकिक शक्ति के रूप में वे सर्वशक्तिमान 'धर्मेस' को मानते हैं जिसने पूरी सृष्टि की रचना की । इनका कोई आकार नहीं है । 'धर्मेस' या 'धर्मे बाबा' को कहीं भी किसी भी स्थान में याद किया जा सकता है । इनकी पूजा अर्चना की जा सकती है । इनके ऊपर अपनी आस्था जताने के लिए, चिन्तन-मनन के लिए या प्रार्थना करने के लिए किसी मंदिर, मस्जिद, चर्च एवं गुरुद्वारों की आवश्यकता नहीं होती है ।

(2) सर्वशक्तिमान 'धर्मे बाबा' ने अपनी अपार शक्ति से प्रकृति को बनाया । जिस प्रकृति ने मानव को, जीव जन्तुओं को जीने के लिए साधन उपलब्ध कराया । उस प्रकृति को 'धर्मे बाबा' की उत्तम कृति मानकर प्रत्यक्ष रूप में उनकी पूजा अर्चना एवं आराधना की गयी । संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्रकृति आदिवासियों की आत्मा है । इनकी गहन अनुभूति प्राकृतिक सौन्दर्य प्रसूत हैं । यदि प्रकृति इन आदिवासियों को श्रृंगार करती है तो ये वन प्रेमी, एकान्तमयी भी प्रकृति को और अधिक लावण्यमयी बनाने में लगे हुए हैं । साधारणत: आदिवासी प्रकृति की एकान्त गोद में निवास करते हैं । फलत: प्रकृति और उनके बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया है । वे अपने ढंग से प्रकृति के क्रियाकलापों का विश्लेषण एवं विवेचन करते हैं, जो आधुनिक या अन्य सभ्यता के लिए अनूठा है । इस सम्बन्ध में ललिता प्रसाद विद्यार्थी ने अपनी पुस्तक में लिखा है – 'वे अपनी जीविका के लिए भी प्रधानत: प्रकृति पर आश्रित हैं । इसलिए एक ओर उनमें प्रकृति के प्रति श्रद्धा है तो दूसरी ओर भय भी । इसी श्रद्धा तथा भय के बीच उनके सामाजिक रीति-रिवाज, धार्मिक विश्वास और जादू-मंत्र पल्लवित एवं पुष्पित होते रहे हैं । वस्तुत: इनकी जीवन शैली एवं संस्कृति एक ओर प्रकृति से तो दूसरी ओर भूत-प्रेतों की दुनिया से सम्बद्धता एवं संघर्ष की कहानी है ।"[34]

(3) हमारे पूर्वजों ने हमें जीवन दिया, जीने की राह दिखायी, जीवन-यापन हेतु खेत-खलिहान दिया एवं सुसंगठित पद्धति दिया। अतः इन तीनों के प्रति आभार प्रकट करना सभी उराँव अपना परम कर्तव्य समझते हैं और इसे आवश्यक रूप से करते हैं। आवश्यक रूप से करना अर्थात बाँधना। विद्वान बॉकेट महोदय के अनुसार लैटिन शब्द - Rel + igio से धर्म की उत्पत्ति हुई है जिसका अर्थ इकट्ठा करना, गिनना निरीक्षण करना या बाँधना है । अत: किसी परालौकिक शक्ति में विश्वास रखना, उसका निरीक्षण करना या दूसरे अर्थ में आवश्यक कार्यों की पूर्ति करना जो मनुष्य तथा किसी अलौकिक शक्ति को परस्पर बाँधते हैं इसलिए विश्वास (Belief) तथा उपचार (Rituals) किसी भी धर्म के दो अटूट अंग है । इसलिए धर्म, विश्वास, संस्कार, परम्परा, रीति-रिवाज एवं प्रथा एक दूसरे से पूर्णत: गूंथे हुए हैं । जिन्हें अलग करना असंभव है ।

एक के बिना दूसरे की कल्पना करना मुश्किल एवं असंभव है । उराँव इन्हीं सामाजिक मान्यताओं, प्रथा, परम्परा तथा विश्वास के आधार पर अपने प्रत्येक अनुष्ठान और संस्कार करते हैं । इनका प्रत्येक पर्व-त्यौहार, प्रत्येक संस्कार, धर्म से जुड़ा हुआ है । उराँवों का प्रत्येक अनुष्ठान व संस्कार अलग-अलग रीति-रिवाज, नीति-विधि के रूप में दिखाई देते हैं, जो पारम्परिक रूप से प्रथा के रूप में चली आ रही है । वर्तमान रूप आधुनिकता की चपेट में आ रहा है । लेकिन मुख्य रूप से उनका विश्वास 'धर्मे बाबा' की अलौकिक शक्ति एवं पूर्वजों की पूजा तथा प्रकृति के प्रति कृतज्ञ होना ही है । इस आधार पर उराँव समाज में विश्वास और प्रथा तथा धार्मिक क्रियाकलाप को उनके पर्व-त्यौहार के माध्यम से विस्तार पूर्वक अध्ययन किया जा सकता है ।

आदिवासियों की सांस्कृतिक विरासत दुनिया में सबसे अलग विकसित एवं समृद्ध है। प्रकृति और मनुष्य के बीच जितनी रागात्मकता इस संस्कृति में है अन्यत्र नहीं। आदिवासियों के जितने भी पर्व त्यौहार हैं, सभी प्रकृति एवं कृषि से जुड़े हुए हैं। मानव के क्रमिक विकास की जितनी अवस्थाएँ आयीं, उनमें कृषि-युग ने मानवीय चेतना को सबसे अधिक प्रभावित किया। आदिवासियों के जीवन में सबसे अधिक। आज का समाज विकास के चरम सीमा पर है । वैज्ञानिक युग इतना विकसित हो चुका है कि लोग अन्य ग्रहों में निवास करने की सोच रहे हैं। वैज्ञानिक क्षण भर में दुनिया को नष्ट करने का दावा कर रहे हैं। लोग जमीन पर चलने की बजाय अब आसमान में यात्राएँ कर रहे हैं, उड़ रहे हैं। ऐसे समृद्ध समय

में भी आदिवासियों का धार्मिक विश्वास, कृषि एंवं कृषि कार्यों तथा वनों से सम्बन्धित है । प्रारंभिक काल में जब मानव पशुओं की भांति जी रहा था तब से लेकर आज तक में जो भी इनके बीच परिवर्तन आया यह सब सर्वशक्तिमान 'धर्मेस' की देन है । 'धर्मेस' उराँवों का सर्वशक्तिमान देवता है । यह वह अदृश्य शक्ति है जिसने इस सुन्दर दुनिया को बनाया जिसमें सूर्य, चाँद, तारे, आकाश-पाताल, धरती, नदी-पहाड़ वनस्पति एवं जीव जन्तु बनाये । इन सभी में से उसने मानव को श्रेष्ठ बनाया । इसलिए मानव सृष्टि के साथ ही उनके जीवन यापन हेतु इस धरती में वनस्पति एवं अन्य जीव-जन्तु भी दिया । उराँवों का विश्वास है कि 'धर्मेस' अदृश्य है । वह बहुत ही शक्तिशाली है । वह सभी जगहों में रहते हैं । हम जहाँ कहीं भी उन्हें स्मरण कर उनको अपनी श्रद्धा, प्यार एवं भक्ति प्रदर्शित कर सकते हैं । उराँवों ने अपने विकास क्रम में इसी 'अदृश्य शक्ति' को नियमित तौर तरीके से स्मरण करने, अपनी श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिए एक समय एवं विधि-विधान निश्चित किया जिसे ख़द्दी कहा । सभी आदिवासी अपनी भाषा के अनुसार उसे अलग-अलग नामों से जानते हैं । कई जातियों के आगमन एवं सम्पर्क के कारण सादरी और हिन्दी में इस त्यौहार को 'सरहुल' कहा जाता है । विकास के काल क्रम में उनकी आस्था बढ़ती गयी । पूजा अर्चना के नियम विधि-विधान बनते गये और आज इसका विकसित रूप हम सभी के समक्ष है । उराँव समाज की विशेषता के अनुरूप पूरे उराँव समाज के लोग मिल-जुलकर चैत तृतीय शुक्ल पक्ष को 'धर्मे बाबा' की पूजा आराधना सामूहिक रूप से करते हैं । यह पर्व कृषि-कार्य प्रारंभ करने के पहले मनाया जाता है । उराँव इस समय 'धर्मे बाबा' से आराधना करते हैं कि हम अपनी कृषि कार्य आरम्भ करने जा रहे हैं । हमें किसी तरह की कमी मत करना । अच्छी बारिस देना, जिससे हमारी फसल अच्छी हो सके और हमारा जीवन सुखी हो । चूंकि जल के बिना किसी जीव मात्र का जीवन संभव नहीं है । मानव जाति जितनी भी तरक्की कर ले लेकिन भोजन के लिए अन्न कृत्रिम तरीके से नहीं बना सकता । इसके लिए मानव को वनस्पति पर ही निर्भर रहना पड़ेगा । इस सत्य को झुठलाया नहीं जा सकता । वनस्पति को धरती, आसमान, सूर्य की रोशनी, चाँद की शीतलता, हवा एवं जल की आवश्यकता है । इसके बिना किसी वनस्पति की हम कल्पना नहीं कर सकते जो मानव को जीवन दे सकता है । 'धर्मे बाबा'की सर्वश्रेष्ठ कृति के रूप में मानव के सामने वनस्पति ही है जो उन्हें जीवन प्रदान करती है । इसके बदले में वह इससे (मानव से) कुछ भी नहीं लेती है बल्कि अन्न, फल, फूल शुद्ध हवा एवं शीतल छाया देती है जिससे मनुष्य एवं

अन्य जीव जन्तु राहत महसूस करते हैं। इस तरह उराँव जाति अपने विश्वास को प्रदर्शित कर 'धर्मे बाबा' के प्रति कृतज्ञता अर्पित करते हैं। धीरे-धीरे यही पर्व के रूप में प्रचलित हुआ एवं 'ख़द्दी पर्व' के अन्दर जो भी धार्मिक क्रियाकलाप किया जाता है, वह एक प्रथा बन गयी।

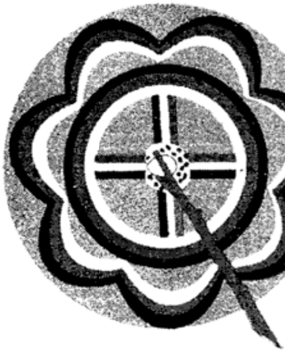
उराँवों का विश्वास है कि मानव के लिए अति उत्तम शाल वृक्ष है। 'धर्मे बाबा' की उत्तम कृति शाल वृक्ष में ही हमारी 'चाला अयंग' का निवास भी है। इसलिए चाला अयंग की पूजा अर्चना शाल वृक्ष के पास किया जाता है। जहाँ शाल वृक्ष नहीं है वहाँ किसी अन्य वृक्ष का समूह होता है। इसका अर्थ वनस्पति है। इसे 'धर्मे बाबा' की उत्तम कृति का प्रतीक माना जाता है। 'चाला अयंग' उराँवों की दूसरी शक्तिशाली देवी माता है जिसने दुनिया में मानव को विपत्तियों से बचाया। इसलिए 'ख़द्दी' पर्व के सभी पूजा पाठ पाहन 'चाला टोंका' में करते हैं। इस पूजा आराधना में सबसे पहले सर्वोच्च एवं सर्वशक्तिमान 'धर्मे बाबा' को याद किया जाता है। इसके बाद 'चाला अयंग' की आराधना की जाती हैं। उराँवों का विश्वास है कि 'धर्मे बाबा' ने हमें सारी प्राकृतिक वस्तुएँ दे दी है और हमेशा 'धर्मे बाबा' ही देंगे एवं 'चाला अयंग' दुनिया के अन्य मुसीबतों से हमारी रक्षा करेंगी।

इन अदृश्य शक्तियों के पश्चात् उराँव अपनी पूर्वजों की पूजा करते हैं जिसे वे 'पचवा-आलर' कहते हैं। वे अपनी पूर्वजों पर असीम श्रद्धा रखते हैं। घर का बना हुआ खाना सबसे पहले वे अपने पूर्वजों के लिए देते हैं। प्रत्येक पर्व-त्यौहार में उनको याद किया जाता है। उनके नाम पर पूजा-अर्चना की जाती है तथा बलि एवं तपवन के रूप में 'हंड़िया' दिया जाता है। उराँवों का विश्वास है कि इन्हीं पूर्वजों के द्वारा आज हमारा अस्तित्त्व है। इसने हमें जन्म, कर्म दिया अर्थात जीवन दिया। समाज में नाम, स्थान एवं इज्जत दिया तथा जीवन यापन हेतु सामग्री दिया एवं जीने की राह दिखायी। सामान्यतया पूर्वजों की श्रद्धांजलि एवं याद प्रत्येक परिवार रोज ही करता है लेकिन इनके लिए विशेष पूजा आराधना साल में एक बार किया जाता है। इसे पूरे उराँव समाज के सदस्यों द्वारा मिलकर एक दिन में सम्पन्न किया जाता है जिसे 'हड़बोड़ी' या 'कोहा बेंज्जा' कहते हैं। उराँवों का विश्वास है कि वे मृत्यु पश्चात् अपने ही घर-परिवार में रहते हैं। मृत्यु पश्चात 'एख़ मन्खना' की क्रिया द्वारा विधि-विधान के तहत उन्हें घर के अन्य सदस्यों के साथ रखा जाता है। तत्पश्चात् 'कोहा बेंज्जा' संस्कार के द्वारा उन्हें अपने-अपने 'कुण्डी' में मिला लिया जाता है जहाँ सभी पूर्वजों की अस्थि एक साथ रखी जाती

है या नदी में बहा दिया जाता है । ये संस्कार उराँव प्रथा परम्परा के अनुसार किया जाता है । चूंकि इनके विश्वास में स्वर्ग-नरक की व्याख्या नहीं है । ये इसे सिर्फ काल्पनिक मानते हैं । डॉ० राम दयाल मुण्डा ने इस सम्बन्ध में अपनी पुस्तक 'आदि धर्म' में लिखा है - "आदि धर्म व्यवस्था में मनुष्य पाप-पुण्य और स्वर्ग-नरक की अवधारणाओं से अपेक्षाकृत कम ग्रसित हैं । समाज सम्मत काम ही पुण्य है और समाज विरोधी काम पाप। आदमी स्वर्ग नरक या अन्यत्र कहीं नहीं जाता। सामाजिकता ही स्वर्ग है असामाजिकता नरक ।"[35]

उराँवों का विश्वास कई भागों में विभक्त है । वे अपने पशु-धन पर भी श्रद्धा व्यक्त करते हैं। उराँव सोहराई में अपने पशु-धन की पूजा अर्चना करते हैं या इसे हम यह भी कह सकते हैं कि उराँव सोहराई के दिन अपने पशुओं का आभार व्यक्त करते हैं । जिस तरह हिन्दुओं में लक्ष्मी को धन की देवी माना जाता है और यह विश्वास किया जाता है कि धनी या निर्धन होना पूर्णतया इसी देवी माँ की कृपा कर निर्भर करता है । उसी तरह आदिवासियों का सोहराई पर्व है । इस पर्व में उराँव अपने आर्थिक आधार अपने पशु-धन की सेवा सुश्रुषा करते हैं। उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं एवं उनकी रक्षा के लिए 'गोरेया' देवता की पूजा अर्चना की जाती है । साथ ही उनकी वृद्धि की कामना की जाती है । 'गोरेया देवता' गोहाल घर में निवास करते हैं। अतः गोहाल घर में ही 'गोरेया देवता' के नाम पर मुर्गी की बलि दी जाती है । इस पूजा-पाठ से यह विश्वास किया जाता है कि उनके पशु-धन सही-सलामत, स्वास्थ्य, तंदुरुस्त रहेंगे तो कृषि काम सही तरीके से होगा और उनका जीवन भी सुखी सम्पन्न होगा । उराँवों का जीवन कृषि, वन एवं शिकार पर आधारित है । कृषि-कार्य के लिए आज भी वे अपने पशुओं पर आश्रित हैं।

उराँव आदिवासी **'डंडा कट्टना'** पर बहुत विश्वास रखते हैं। यह एक धार्मिक क्रिया है जिसे मुण्डा लोग 'सोसो पड़आ' एवं सादरी में 'भेलवा फारी' कहते हैं। यह उराँवों की ऐसी पूजा है जिसे वे किसी भी दिन एवं किसी भी मौके पर करते हैं। इस पूजा के लिए किसी निश्चित अवसर या निश्चित दिन का होना जरूरी नहीं माना जाता है । किसी भी परिवार के लोग कभी भी इसे सम्पन्न कर सकते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि अधिकतर परिवार इस अनुष्ठान को करम पूजा के दूसरे दिन, विवाह की समाप्ति पर, गृह-प्रवेश अनुष्ठान पर एवं छठी अनुष्ठान पर आवश्यक रूप से करते हैं । इसके अलावा पर्व-त्यौहारों या किसी भी शुभ कार्य के शुरुवाती या अन्त में इसे आवश्यक रूप से करते हैं। इस धार्मिक



डंडा कट्टना

अनुष्ठान के बाद घर परिवार में सुख-शान्ति कायम होता है । ऐसा विश्वास किया जाता है कि कहीं भी, किसी का भी, किसी तरह का नजर-गुजर या अन्य बुरी बात किसी परिवार या व्यक्ति को लगने पर इस अनुष्ठान से सभी प्रकार का नजर-गुजर का बुरा प्रभाव समाप्त हो जाता है । मुख्यत: इस क्रिया में बुराइयों को नष्ट किया जाता है एवं 'धर्मे बाबा' की अपार शक्ति एवं कृपा को जानने की कोशिश की जाती है । इस धार्मिक अनुष्ठान में 'धर्मे बाबा' की आराधना की जाती है । 'धर्मे बाबा' से प्रार्थना की जाती है कि सब कुछ तो उन्हीं ने, आप ही ने, ('धर्मे बाबा') ने ही बनाई फिर इस तरह की बुराई और कष्ट क्यों ? इससे अपनी रक्षा करने की गुहार की जाती है । इस धार्मिक अनुष्ठान को बुजुर्ग व्यक्ति द्वारा सम्पन्न किया जाता है । वह बुजुर्ग व्यक्ति किसी दूसरे परिवार का एवं दूसरे गोत्र का होता है । इस पूजा के लिए कई सामग्री उपयोग में लायी जाती है । सभी चीजों का अलग स्थान, महत्त्व एवं विशेषता है । इन सभी के बिना इस अनुष्ठान को सम्पन्न कराना संभव नहीं है ।

डंडा कट्टना अनुष्ठान के लिए आवश्यक सामग्री –

(1) एक सूप जो साफ सुथरा धुला हुआ या नई हो ।
(2) एक देशी मुर्गी का अण्डा – ब्रायलर मुर्गी के अण्डे का प्रयोग इस क्रिया में नहीं किया जाता है ।
(3) अरवा चावल का आटा या हड़िया बनाने की 'रानू' का चूर्ण ।
(4) चूल्हे के मिट्टी का चूर्ण – रोज दिन चूल्हे में जलने के कारण शुद्ध माना जाता है ।

(5) कोयले का चूर्ण-काला होने के कारण बुराई का असर नहीं पड़ना समझा जाता है ।

(6) अरवा चावल - 'धर्मेस' की अनोखी एवं मानव के लिए महत्त्वपूर्ण वस्तु जिससे उनका जीवन जुड़ा हुआ है । अरवा चावल को शुद्ध माना जाता है, इसलिए प्रत्येक शुभ कार्य में इसकी उपयोगिता है ।

(7) भेलवा डंठल का टुकड़ा - भेलवा पौधे को शुद्ध माना जाता है । इस पौधे में ऐसा गुण है जिससे कीड़े-मकोड़े मर जाते हैं। इसे सफाई एवं पवित्रता के ध्येय से उपयोग में लाया जाता है । प्राचीन जमाने में जब कीटनाशक का आविष्कार नहीं हुआ था । तब कृषक अपने खेतों में इसका उपयोग किया करते थे जो अभी भी उराँव परम्परा में विद्यमान है ।

(8) सखुवा पता का दोना - सखुवा का पेड़ उराँवों के लिए पूज्यनीय है । इस पेड़ में अत्यधिक गुण है । जो मनुष्य को, जीव-जगत् को जीवित रखने में पूर्ण सक्षम है । इसलिए उराँवों ने इसकी पूजा आराधना की । उराँवों ने शाल-वृक्ष के प्रत्येक भाग को शुद्ध व उपयोगी माना एवं अपने जीवन में इसका भरपूर प्रयोग किया। उराँवों का कोई भी अनुष्ठान सखुवा पत्ते के बिना संभव नहीं है ।

(9) हंड़िया - हंड़िया एक नशीला पेय पदार्थ है । इसका सम्बन्ध उराँव की उत्पत्ति कथा से जुड़ा हुआ है । उराँव के प्रत्येक अनुष्ठान में इसकी आवश्यकता होती है । इन सभी पूजन सामग्रियों की मदद से बुजुर्ग व्यक्ति 'डंडा कट्टना' अनुष्ठान को सम्पन्न करता है । तत्पश्चात् पूजा में प्रयोग किये गये अण्डे एवं चावल को दोना में रखकर आग में पकाया जाता है । इसे सिर्फ पुरुष वर्ग खाते हैं । इसके बाद पूजा में उपयोग किये गये हंड़िया को सभी मिलकर पीते हैं । इस तरह 'डंडा कट्टना' अनुष्ठान सम्पन्न हो जाता है ।

उपरोक्त विश्वास के साथ ही उराँव 'गाँव देवती' पर भी विश्वास रखते हैं । प्रत्येक उराँव गाँवों में गाँव देवती की पूजा आराधना की जाती है । यह देवी गाँव की सुरक्षा करती है । गाँव को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किसी प्रकार ही हानि होने से बचाती है । गाँव में महामारी, अकाल तथा दूसरे भूत-प्रेत से होने वाले हानियों से बचाती है । गाँव वाले इस देवी को हमेशा खुश रखना चाहते हैं । उनका विश्वास है कि गाँव देवी के नाराज होने से कौन उनकी सुरक्षा करेगा । गाँव देवती की पूजा के लिए मुर्गे की बलि दी जाती है । प्रत्येक पूजा-पाठ में उनके नाम पर अलग से मुर्गी की बलि दी जाती है । प्रत्येक उराँव गाँव में गाँव देवती के नाम से विशेष पूजा होती है ।

उराँव के जीवन-वृत संस्कार

उराँव अपने जीवन-दाता वन-देवी पर भी काफी श्रद्धा रखते हैं। वे प्रत्येक साल वन देवी की पूजा सेन्दरा के पहले करते हैं। उराँवों का जीवन वन के बिना अधूरा है। वे वन के बगैर जीवित नहीं रह सकते लेकिन समय के अनुसार परिवर्तन आया। अब वन समाप्ति की ओर है। वनों की समाप्ति के साथ आदिवासियों का जीवन भी संकट में है। उराँव भी इससे अछूते नहीं है। उनके ऊपर भी संकट के काले बादल घिर आये हैं। अपनी जीविका के लिए उराँव लोग वन पर ही आश्रित रहते थे। मनुष्य के जीवन का अनिवार्य भाग भोजन, वस्त्र एवं आवास सभी कुछ उन्हें वनों से प्राप्त होता था। अतः वन देवी का आभारी होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य था। अपनी जरूरतों को पूरा करने वाली इस शक्ति को उन्होंने वन-देवी के रूप में माना और पूजा आराधना की। उराँवों की भाषा कुड़ुख़ की विशेषता के अनुसार दुनिया की हर वस्तु स्त्रीलिंग है सिर्फ 'धर्मेस' और 'पुरुष' को छोड़कर। इसलिए प्रकृति की हर वस्तु के स्त्रीलिंग रूप में देखा गया। वन को सुरक्षा देने वाली शक्ति को वन देवी के रूप में पूजा गया। उराँव जब भी सेन्दरा जाते हैं, वन देवी की पूजा आराधना के पश्चात् ही सेन्दरा निकलते हैं। इस पूजा में वे वन देवी से अपनी सुरक्षा एवं अधिक शिकार मिलने की कामना करते हैं।

आचार-विचार :- आचार-विचार हिन्दी शब्द है जिसका सामान्यतः अर्थ लोगों के व्यवहार से लिया जाता है। किसी व्यक्ति विशेष के व्यवहार में उसका किसी दूसरे व्यक्ति से मिलने का तौर-तरीका, चेहरे का हाव-भाव, शिष्टाचार, बातचीत इत्यादि सम्मिलित रहता है। ये सभी चीजें निर्भर करता है कि मिलने वाला व्यक्ति सगा है या दूर का रिश्तेदार है, परिचित है या अपरिचित यदि परिचित है तो कम या अधिक। नजदीकी रिश्तेदार है या दूर का रिश्तेदार है, अपना दोस्त है या दोस्त का दोस्त। याने कि व्यक्ति जिस तरह से भी करीबी या दूर के रहे उनका आपस में मेल-मिलान और बातचीत में खुलापन के आधार पर ही आचार-विचार निश्चित होता है। एक व्यक्ति यदि अपने गहरे दोस्त से मिलता है तो उनका मिलना-जुलना, हँसना-बोलना खुलकर होगा। दोनों ही एक प्रकार की खुशी का अनुभव करेंगे। लेकिन यह निर्भर करता है कि वे कितने दिनों पर मिल रहे हैं। मिलने का स्थान और समय कैसा है। सामान्यतः ये सभी बातें प्रत्येक व्यक्ति के साथ लागू होती है चाहे वह स्त्रीलिंग हो या पुलिंग। मानव-जाति का एक स्वभाव होता है। उसे एक सामाजिक प्राणी कहा गया है। सामाजिक प्राणी होने के नाते हँसना-रोना,

गाना या संक्षेप में वह व्यवहार जो हर व्यक्ति को अच्छा लगता है । वह सभी गुण मानवजाति में है । लेकिन कुछ बातों में भिन्नता पायी जाती है जो देश दुनिया, भौगोलिक क्षेत्र, अलग-अलग संस्कृति, अलग रीति-रिवाज तथा कई कारणों से होती है । आदिवासी समाज भी इन सभी कारणों से पूरी तरह प्रभावित हैं । इनका भौगोलिक क्षेत्र, रहन-सहन, इनकी संस्कृति, सभ्यता, विकास इनकी अन्य जातियों से सम्पर्क, इनकी भाषा इत्यादि का प्रभाव इनके आचार-विचार पर पड़ा है । पहले यह देखा जाता था कि पर जातियों के साथ आदिवासी जल्दी अपनी घनिष्ठता नहीं बढ़ाते थे । इसके कई कारण होते थे । समय परिवर्तन के कारण अब ये स्थिति नहीं है । लेकिन अपने लोगों, अपनी जाति, घर-परिवार, दोस्तों के प्रति इनकी श्रद्धा बहुत होती थी । अपने लोगों के लिए आचार-विचार अच्छा होता था । वर्तमान में उराँव लोगों का आचार-विचार सामान्य है । लेकिन इस सामान्य में भी अपनी जाति, अपने घर-परिवार और करीबी व्यक्ति के लिए असामान्य होती है । जैसे- घर में अपनी ही जाति बिरादरी के सगे-सम्बन्धी मेहमान आते हैं तो सबसे पहले सामान वगैरह रखने के पश्चात् उन्हें लोटा में पानी दोनों हाथों से देकर प्रणाम किया जाता है । लोटा पानी देने वाला व्यक्ति छोटा हुआ तो देने वाली को पुनः प्रणाम करता है । लोटा पानी देने के बाद हाथ पैर धोने का स्थान दिखा दिया जाता है । जब तक मेहमान हाथ पैर धोकर आते हैं तब तक उनके बैठने के लिए चटाई, बोरा, पीढ़ा इत्यादि दिया जाता है । मेहमान जब हाथ-पाँव धोकर आते हैं तो फिर पोंछने के लिए तौलिया या साफ कपड़ा दिया जाता है । फिर उन्हें बैठाया जाता है । घर के जो भी व्यक्ति है, उनके साथ मिलते हैं, फिर उनकी सलामती पूछी जाती है । इस तरह से धीरे-धीरे बात विस्तृत रूप लेती है और बात फिर किसी विशेष मुद्दा पर या फिर दुनियादारी की होती है । इस दौरान पानी, चाय और खाने की व्यवस्था की जाती है । यदि घर में कोई मजाकिया रिश्ते वाले होते हैं तो हंसी मजाक भी चलता रहता है जैसे- ननद, देवर-भाभी, जीजा-साली, गुइया, सइहा, नाना-नानी, दादा-दादी, नाती-नतिनी, पोता-पोती इत्यादि ।

एक भाभी अपने देवर से मजाक करते हुए पति-पत्नी की तरह की बातें कर सकती है । इसका यह अर्थ नहीं कि वे सचमुच में ही पति-पत्नी है । उसी तरह ननद-भाभी का रिश्ता भी हँसने-हँसाने का होता है । यहाँ भाभी अपनी ननद को भाभी कहकर चिढ़ा सकती है । ये सभी आपस में हंसी मजाक करते हुए आपस में लड़ाई भी करते हैं परन्तु यह माहौल प्यार एवं मनोरंजन से परिपूर्ण होता है ।

जीजा-साली, गुइया, सइहा इत्यादि सम्बन्धों में भी इस प्रकार का हँसी-मजाक उराँव समाज में प्रचलित है । नाना-नानी और दादा-दादी का भी अपने पोते-पोतियों, नाती-नतनियों के साथ इस तरह का मजाक पसंद किया जाता है । इन रिश्तों में एक मिठास, छोटों के लिए प्यार एवं बड़ों के लिए आदर और श्रद्धा का भाव होता है ।

बाहरी लोगों से मिलना या क्षणिक मिलने पर ये व्यवहार बदल जाते हैं । राह चलते हुए शिष्टाचार का पालन करना संक्षिप्त में समाचार पूछना इत्यादि होता है । आचार-विचार जगह और परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है । खुशनुमा माहौल का आचार-विचार अलग होता है एवं दुर्घटना वाले स्थान का आचार-विचार अलग होता है । खुशनुमा माहौल में उराँव व्यक्ति बहुत खुश, हँसते-गाते हुए मिलेंगे या आपस में बहुत अधिक बात विचार करेंगे । या फिर मजाक करते हुए मिलेंगे। वही व्यक्ति दुर्घटना वाले माहौल में कम एवं धीरे-धीरे बातचीत करेंगे एवं हँसी-मजाक नहीं करेंगे । सामान्यत: यह देखा जाता है कि उराँव लोगों में पर्दा प्रथा नहीं है । बड़ा भाई छोटे भाई की पत्नी के साथ आदर एवं स्नेह का भाव रखता है । ठीक उसी तरह अपने जेठ के प्रति बहू का व्यवहार भी यही होता है अर्थात वह भी अपने जेठ के प्रति आदर का भाव रखती है । बहुत अधिक पर्दा (घूंघट) का व्यवहार उराँव समाज में नहीं है । साधारणत:, तरीके से कपड़ा पहना होना चाहिए इसे ही ठीक माना जाता है । उराँव समाज में बड़ी बहन, छोटी बहन के पति से भी इसी तरह का व्यवहार करती है । इन दोनों प्रकार के रिश्ते में उराँव समाज हँसी मजाक का निषेध करता है । यह इनके आचार-विचार का एक विशिष्ट पहलू है । उराँव समाज में समधी-समधिन के बीच पर्दा प्रथा नहीं है । वे सामान्य होकर सामान्य तौर-तरीके से एक दूसरे से बातचीत कर सकते हैं। वे भी एक दूसरे के प्रति आदर एवं श्रद्धा का भाव रखते हैं। बाकी सभी रिश्तों में सामान्य बातें करीब-करीब एक ही होती है । प्रत्येक उराँव परिवार बाहरी लोगों, परजातियों से एक दूरी बनाकर रखता है । बात विचार के अलावा उन्हें अपने चूल्हे व घर के भीतरी हिस्से में नहीं ले जाता । वर्तमान में इनका आचार-विचार को सामान्य माना जा सकता है लेकिन कुछ परिस्थितियों में आसामान्य भी ।

सामान्य परिस्थितियों में आचार-विचार के कारण ये बाहरी लोगों (दिकू) से छले गये जिसका परिणाम वे वर्षों से भुगत रहे हैं। वर्तमान परिस्थितियों में उराँवों ने स्वयं को असामान्य स्थिति में करने की कोशिश की है । वर्तमान समय में शिक्षा के प्रचार-प्रसार से इनके आचार-विचार में कुछ परिवर्तन हुए हैं। कहीं-कहीं,

किसी-किसी मुद्दे पर यह आवश्यक भी है क्योंकि इनके भोलेपन का गलत उपयोग किया गया। इनकी सादगी के बारे में डॉ० बी० पी० केशरी ने अपनी पुस्तक 'छोटानागपुर का इतिहास' में लिखा है- "सर्वथा प्राकृतिक जीवन व्यतीत करने वाले भोले भाले आदिवासी है । जो नगर सभ्यता से आज भी बहुत दूर हैं ।"[36]

रीति-रिवाज - रीति और रिवाज ये दो शब्द हैं । इस छोटे-छोटे दो शब्दों का अर्थ बहुत विस्तृत है। रीति-रिवाज सामान्यत: वह कार्य पद्धति है जो किसी समाज विशेष की धरोहर होती है । एक समाज के लोग ऐसे कार्यों को पीढ़ी दर पीढ़ी करते रहते हैं। इन कार्यों से समाज विशेष की एक खास पहचान बंधी होती है। समाज विशेष के लोग इन कार्यों को अपने समाज के डर से करते हैं चाहे उन कार्यों से विशेष लाभ हो अथवा न हो। उस कार्य विशेष पर विश्वास हो अथवा न हो। ये कार्य रीति-रिवाज के नाम से जाने जाते हैं। साधारणत: किसी एक मनुष्य के खाने-पीने, सोने, जागने या पूजन पद्धति को रीति-रिवाज नहीं कहा जा सकता लेकिन किसी समाज द्वारा किये गये वह कार्य जिसे हमेशा किया जाता रहा हो रीति-रिवाज कहलाता है । आदिवासी समाज के अपने रीति-रिवाज हैं । कुछ रीति-रिवाज सभी आदिवासियों में सामान्य है। लेकिन कुछ रीति-रिवाज अलग-अलग हैं। जैसे संथाल आदिवासी के बीच प्रणाम करने के अलग तरीके हैं, मुण्डा आदिवासी में भी अलग तरीके हैं। उसी तरह उराँव आदिवासी में भी प्रणाम करने का अलग तरीका है । घर आये मेहमानों की खातिरदारी करने का, स्वागत करने का एक अलग तौर तरीका है। ये सभी अपने समाज के रीति-रिवाज कहलाते हैं।

उराँव समाज में जन्म, विवाह एवं मृत्यु सम्बन्धी सभी संस्कारों के मध्य जो भी क्रियाकलाप है, सभी उराँव रीति-रिवाज के अनुसार होते हैं। समाज के रीति-रिवाज अलग-अलग होते हैं। जैसे- जन्म संस्कार से सम्बन्धित छठी (नामकरण) सभी आदिवासी समूह में किया जाता है लेकिन रीति विधि में थोड़ा-थोड़ा अन्तर अवश्य ही होता है । उसी तरह विवाह संस्कार में बारात आने से लेकर लड़की (कन्या) को विदाई तक तरह-तरह के नियम किये जाते हैं। ये सभी कार्य रीति-रिवाज कहलाते हैं। प्रत्येक नियम के कुछ न कुछ अर्थ होते हैं। उनसे (नियम से) सम्बन्धित एक-एक वस्तु किसी न किसी अर्थ के प्रतीक (सूचक) होते हैं। जैसे- उराँव समाज में कन्या के मांग में सिन्दूर डालने से पहले कन्या को वर के आगे पूरब मुँह करके खड़ा किया जाता है । इसका अर्थ अपने दाम्पत्य जीवन में महिला का स्थान प्राथमिक है। पति उसे पहला स्थान देता है। इस समय जितने भी नियम किये जाते हैं, सभी का सार्थक एवं महत्त्वपूर्ण अर्थ होता है। प्रत्येक छोटी से छोटी वस्तु का स्थान अहम होता है । उसी तरह विदाई के समय

माँ अपनी बेटी (कन्या) को गोद में लेती है । कन्या के दोनों हथेली एक साथ जोड़कर उसमें धान रखा जाता है जिसे कन्या पीछे की ओर फेंकती है । यह क्रिया तीन बार दुहराया जाता है । इसका अर्थ उराँव समाज में यह लगाया गया है कि आज से उस विवाहित कन्या का पिता के सम्पत्ति पर से अधिकार समाप्त हो गया । उसका अधिकार अपने पति के सम्पत्ति पर बराबर का हो जाता है । मांग में सिन्दूर डालते समय कन्या को वर के आगे रखने का यही अर्थ है । इसी तरह प्रत्येक नेग-नियम और विधि से जुड़ी क्रियाओं का कुछ न कुछ अर्थ है । इस तरह के नेग-नियम एवं रीति-नीति सभी समाज में अलग-अलग हैं । किसी समाज विशेष की इन रीति-नीति एवं नियमों को देखकर ही यह जाना जा सकता है कि ये कौन-सा समाज है । अन्यथा अज्ञानता की स्थिति में मानव-मन की इच्छा शक्ति जागती है कि ये कौन जाति के लोग हैं, ये क्या कर रहे हैं और क्यों कर रहे हैं इत्यादि । मानव-समूह जाति के नाम पर जितने भी भागों में बंटा है सभी के कुछ अपने नियम-परिनियम हैं । किसी में समानता है तो किसी में भिन्नता । यही भिन्नता एक दूसरे को भिन्न जाति समूहों में विभक्त करती है । जिसे हम रीति-रिवाज कहते हैं । रीति-रिवाज समाज की परम्परा है । इसके बिना मानव-समाज सूनापन महसूस करता है । इससे पारिवारिक जीवन की नींव मजबूत होती है । ये मनुष्य के रिश्ते को, समाज के बन्धन को मजबूत बनाता है तथा मनुष्य के जीवन को आनन्द से सराबोर कर देता है ।

सामाजिक अनुष्ठान

मानव-जीवन में अनुष्ठानों का महत्त्वपूर्ण स्थान है । बच्चा जब जन्म लेता है तब वह सिर्फ बच्चा होता है । वह किसी भी जाति और समुदाय का नहीं होता है । जन्म के बाद उस बच्चे को कई अनुष्ठानों से गुजरना पड़ता है । समाज विशेष के अनुसार प्रत्येक अनुष्ठान में किये गये प्रतीकात्मक कार्यों एवं प्रतीकात्मक चिह्नों का संदेश बच्चे तक किसी न किसी रूप में अवश्य पहुँचता है । इन अनुष्ठानों का असर बच्चे के नन्हें मन-मस्तिष्क पर पड़ना शुरू हो जाता है और उसी के आधार पर वह अपनी प्रतिक्रियाएँ करता है । इसी क्रम में धीरे-धीरे उसकी आयु बढ़ती है और अपनी उम्र के अनुसार वह परिपक्व होता जाता है ।

उसी तरह वैवाहिक अनुष्ठानों का भी जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है । फिर मृत्योपरान्त मृत शरीर को भी कई अनुष्ठानों से गुजरना पड़ता है । अत: अनुष्ठान के बिना मानव का जीवन पशु की भांति है । उराँव समाज के अपने अनुष्ठान हैं । जन्म से लेकर मृत्यु तक एवं मृत्यु के बाद भी अनुष्ठानों का चक्र चलता रहता है ।

अनुष्ठान समाज विशेष को उसकी पहचान देता है एवं समाज को बाँधकर रखता है । अतः अनुष्ठान के बिना सामाजिक जीवन की कल्पना अधूरी है । प्रत्येक मनुष्य अनुष्ठानों की परम्परा को निभाता है चाहे वह किसी भी समाज से सम्बन्ध रखता हो । उराँव समाज का व्यक्ति भी सभी अनुष्ठानों को पूरी तरह से निभाता है । यही कारण है कि जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त सभी अनुष्ठानों को करता है । तब वह उराँव समाज का सदस्य कहलाता है । ईसाई मिशनरियों के आगमन के पश्चात् कई उराँव परिवार ईसाई धर्म में परिवर्तित हो गये । इस परिवर्तन के दौरान उसने ईसाई धर्म के अनुष्ठानों को स्वीकार किया । इससे उराँव समाज दो भागों में बंट गया । वे उराँव जो मूल रूप से अपने धर्मों में डटे रहे 'सरना' या 'अद्दी' धर्मावलम्बी हैं । जिन्होंने धर्म परिवर्तन किया, ईसाई कहलाये ।

वर्तमान में शिक्षा के प्रचार-प्रसार, संचार माध्यमों की अधिकता एवं कई लोगों के सम्पर्क में आने से अन्तर्जातीय विवाह को बढ़ावा मिला है । फिर भी उराँव समाज में दूसरे जाति, समाज से आयी बहू को आसानी से स्वीकार नहीं किया जाता है । उराँव समाज के सदस्य विवाह से सम्बधित अनुष्ठान का आयोजन करते हैं । इस दौरान अन्तर्जातीय बहू को लाल रंग के मुर्गे का 'खून' और 'हंड़िया' पिलाया जाता है । इस तरह उसे उराँव जाति में मिला लिया जाता है ।



सामाजिक अनुष्ठान

किसी किसी परिवार की लापरवाही के कारण इन अनुष्ठानों को सम्पन्न नहीं किया जाता है । ऐसे परिवार में उस अन्तर्जातीय बहू की कुछ अहमियत नहीं होती है । घर के पूजा-पाठ में उसे शामिल नहीं किया जाता । यह माना जाता है कि उसकी दी हुई वस्तु को पूर्वज एवं देवी-देवता ग्रहण नहीं करेंगे एवं नाराज हो जायेंगे और इसका बुरा परिणाम परिवार को भुगतना पड़ेगा । ऐसी बहू को मृत्यु पश्चात् सामूहिक 'मसड़ा' में न दफ़नाकर अलग से दफ़नाया जाता है ।

परन्तु ऐसी स्थिति बहुत कम ही देखने को मिलती है । उससे उत्पन्न होने वाले बच्चे को किसी तरह की समस्या न हो यह सोचकर सभी सामाजिक अनुष्ठानों को सम्पन्न कर दिया जाता है । अनुष्ठान ऐसी क्रिया है जिसे अकेला नहीं किया जा सकता । अनुष्ठान की क्रिया सामाजिक होती है । किसी भी अनुष्ठान में समाज के लोगों की सहभागिता होती है । वर्तमान में सम्पर्क अधिक होने के कारण समाज से बाहर के लोगों को भी आमंत्रित किया जाता है । सभी मिलते-जुलते हैं एवं अनुष्ठान क्रिया (पूजा पाठ) सम्पन्न करते हैं तथा खा-पीकर, नाच-गाकर, मनोरंजन करते हैं । एक तरह से सभी लोगों को इसकी सूचना दी जाती है चाहे वह जिस प्रकार का अनुष्ठान हो । अनुष्ठान व्यक्ति के मन में एक प्रकार का भय एवं श्रद्धा उत्पन्न करता है जिससे व्यक्ति समाज विरोधी कार्यों को करने से डरता है । इससे समाज को मजबूती मिलती है एवं समाज विशेष की पहचान बनती है ।

आदिम प्रथायें : आखेट एवं बलि

मानव सभ्यता में आखेट का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है । वर्तमान में आखेट समाप्त हो गया है । लेकिन उराँव और कुछ अन्य आदिवासियों में अभी भी इस प्रथा का प्रचलन है । इसे प्रत्येक आदिवासी अलग-अलग नामों से जानते हैं । उराँव अपनी इस प्रथा को सेन्दरा के नाम से जानते हैं । सेन्दरा कई प्रकार के हैं जिनकी चर्चा पिछले अध्याय में की जा चुकी है । उराँवों के बीच एक विशेष सेन्दरा पर्व है जिसे 'मुक्का सेन्दरा' कहा जाता है । इसे 12 वर्ष में एक बार सम्पन्न किया जाता है । इस मुक्का सेन्दरा से उराँवों का इतिहास जुड़ा हुआ है । अतः मुक्का सेन्दरा पर्व का उराँव समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान है । कोई भी सेन्दरा में जाने से पहले ग्रामीण मिलकर वन-देवी की पूजा करते हैं एवं अपनी सुरक्षा तथा ढेरों शिकार मिलने की कामना करते हैं । इस पूजा में वे मुर्गे की बलि देते हैं । बलि वाले मुर्गे के मांस को सूड़ी पकाकर सभी खाते हैं । तत्पश्चात् सेन्दरा पर निकलते हैं । सेन्दरा जाते समय प्रत्येक विवाहित पुरुष अपनी पत्नी के मायके से लाया गया

तीर (विवाह के बाद विदाई के वक्त दुल्हन के हाथ में तीर पकड़ाया जाता है) अवश्य ले जाता है । इस तीर के कई अर्थ होते हैं। (1) किसी तरह की बुरी नजरों तथा बुरी आत्मा की परछाई से बचना (2) दुश्मनों से बचाव तथा (3) अच्छा, सुखी वैवाहिक जीवन व्यतीत करना। (पहले उराँवों के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जीवन में शिकार करना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था) इसलिए सुखी वैवाहिक जीवन के लिए हथियार को प्रतीक के रूप में तीर कन्या को दिया जाता है । उराँवों का यह विश्वास है कि उस तीर से सेन्दरा में सफलता मिलती है ।

आखेट एवं बलि दो अलग-अलग शब्द हैं । आखेट का अर्थ शिकार करना होता है । शिकार करना किसी समय में मनुष्य की जरूरत थी । तब मनुष्य शिकार के द्वारा ही अपना पेट भरता था । उराँव की उत्पत्ति कथा यह बतलाती है कि मनुष्य तब जंगली अवस्था में था, जंगल में घूमता था, गुफाओं एवं पेड़ों पर रहता था तथा पेट भरने के लिए जंगल के फल-फूल, कंद-मूल पर आश्रित था, साथ ही जंगल के पशु-पक्षियों को मारकर खाता था। प्राकृतिक आपदाओं के कारण जंगल में आग लगी और इस आगलगी में कितने पशु-पक्षी जलकर मर गये । जंगली मानव ने जब इस जले भुने मांस को खाया तो उन्हें यह स्वादिष्ट लगा और इसी से उराँव का वास्तविक नाम 'कुड़ुख़' का उद्भव हुआ। इस तरह से उराँव पके मांस के स्वाद को जान गये । इससे पहले वे कच्चा मांस ही खाते थे । पका मांस का स्वाद जानने के बाद इनके भोजन में मांस और अधिक मात्रा में शामिल हो गया । अब वे पहले से भी अधिक मांस जुटाने में लग गये । सभ्यता के विकास के साथ-साथ मांस (भोजन) जुटाने की प्रक्रिया भी बढ़ती गयी और उसमें विकास होता गया । लोग समूह में रहना सीखने लगे और इस तरह धीरे-धीरे आखेट के रूप का विस्तार होता गया । लोगों में थोड़ी चेतना आयी । समूह में एक साथ किसी निश्चित समय में आखेट करना लोगों को लाभदायक सिद्ध हुआ एवं इससे स्वयं के बीच सुरक्षा की भावना का विकास हुआ । इन सभी लाभों को देखते हुए सभी ने एक समय निश्चित कर समूह में आखेट करना शुरू किया । इस तरह से शिकार खेलने की एक परम्परा बन गयी । पुराने समय में लोग लकड़ी एवं पत्थरों के औजार बनाते थे और उससे शिकार किया करते थे । आग का आविष्कार होने पर मानव ने शिकार खेलने के लिए आग का भी सहारा लिया । धीरे-धीरे लोहे के औजारों का आविष्कार हुआ और लोगों को शिकार करने में सुविधा होने लगी ।

तीर (विवाह के बाद विदाई के वक्त दुल्हन के हाथ में तीर पकड़ाया जाता है) अवश्य ले जाता है । इस तीर के कई अर्थ होते हैं। (1) किसी तरह की बुरी नजरों तथा बुरी आत्मा की परछाई से बचना (2) दुश्मनों से बचाव तथा (3) अच्छा, सुखी वैवाहिक जीवन व्यतीत करना। (पहले उराँवों के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जीवन में शिकार करना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था) इसलिए सुखी वैवाहिक जीवन के लिए हथियार को प्रतीक के रूप में तीर कन्या को दिया जाता है । उराँवों का यह विश्वास है कि उस तीर से सेन्दरा में सफलता मिलती है ।

आखेट एवं बलि दो अलग-अलग शब्द हैं । आखेट का अर्थ शिकार करना होता है । शिकार करना किसी समय में मनुष्य की जरूरत थी । तब मनुष्य शिकार के द्वारा ही अपना पेट भरता था । उराँव की उत्पत्ति कथा यह बतलाती है कि मनुष्य तब जंगली अवस्था में था, जंगल में घूमता था, गुफाओं एवं पेड़ों पर रहता था तथा पेट भरने के लिए जंगल के फल-फूल, कंद-मूल पर आश्रित था, साथ ही जंगल के पशु-पक्षियों को मारकर खाता था। प्राकृतिक आपदाओं के कारण जंगल में आग लगी और इस आगलगी में कितने पशु-पक्षी जलकर मर गये । जंगली मानव ने जब इस जले भुने मांस को खाया तो उन्हें यह स्वादिष्ट लगा और इसी से उराँव का वास्तविक नाम 'कुड़ुख़' का उद्‌भव हुआ। इस तरह से उराँव पके मांस के स्वाद को जान गये । इससे पहले वे कच्चा मांस ही खाते थे । पका मांस का स्वाद जानने के बाद इनके भोजन में मांस और अधिक मात्रा मैं शामिल हो गया । अब वे पहले से भी अधिक मांस जुटाने में लग गये । सभ्यता के विकास के साथ-साथ मांस (भोजन) जुटाने की प्रक्रिया भी बढ़ती गयी और उसमें विकास होता गया। लोग समूह में रहना सीखने लगे और इस तरह धीरे-धीरे आखेट के रूप का विस्तार होता गया । लोगों में थोड़ी चेतना आयी । समूह में एक साथ किसी निश्चित समय में आखेट करना लोगों को लाभदायक सिद्ध हुआ एवं इससे स्वयं के बीच सुरक्षा की भावना का विकास हुआ। इन सभी लाभों को देखते हुए सभी ने एक समय निश्चित कर समूह में आखेट करना शुरू किया । इस तरह से शिकार खेलने की एक परम्परा बन गयी। पुराने समय में लोग लकड़ी एवं पत्थरों के औजार बनाते थे और उससे शिकार किया करते थे । आग का आविष्कार होने पर मानव ने शिकार खेलने के लिए आग का भी सहारा लिया। धीरे-धीरे लोहे के औजारों का आविष्कार हुआ और लोगों को शिकार करने में सुविधा होने लगी ।

एक निश्चित काल में शिकार या आखेट करना मानव जाति के लिए मूल आवश्यकता थी । लेकिन समय, काल एवं सभ्यता के साथ-साथ कई परिवर्तन हुए और इस परिवर्तन ने मानव-समूह को कई भागों में विभक्त किया । तत्पश्चात् किसी के लिए शिकार खेलना सिर्फ एक शौक बना तो किसी के लिए अति आवश्यक बना रहा । किसी एक समय में राजा-महाराजाओं और रइसों के लिए समय काटना एवं शौक रहा तो गरीब दु:खियों व आदिवासियों के लिए अति आवश्यक । क्योंकि गरीब तबके के लोगों को पेट भरने के लिए इसकी जरूरत होती थी । अभी भी आदिम जनजाति बिरहोर का जीवन आखेट एवं वनोपज पर आश्रित है ।करीब-करीब सभी आदिवासियों के बीच शिकार/आखेट की परम्परा है । उराँवों के बीच भी यह एक परम्परा बन गयी । अभी उराँव का आर्थिक आधार मुख्यत: कृषि है । लेकिन फिर भी उनके जीवन में आखेट/शिकार का महत्त्वपूर्ण स्थान है । किसी समय में आखेट/शिकार की प्रथा ने उराँव को जीवन दिया था, इस बात को वे कैसे भूल पाते । ये स्वभाव से भोले एवं सीधे-साधे होते हैं । किसी के एहसान के बदले वे उनके ऋणी हो जाते हैं । यही कारण है कि वे इस परम्परा को अभी भी निभाते चले आ रहे हैं । वर्तमान में उनके आर्थिक जीवन के कई विकल्प हैं । अभी उन्हें भोजन के लिए शिकार पर आश्रित रहने की जरूरत नहीं है । वर्तमान में सिर्फ परम्परा के नाम पर इसे उत्सव के रूप में सम्पन्न किया जाता है । उराँवों के जीवन में शिकार खेलना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । उराँव इसे अपनी भाषा में 'सेन्दरा' कहते हैं । उराँव जन-जीवन के बीच कई तरह के शिकार/आखेट हैं जो प्रचलन में है ।

यह सेन्दरा कई उपलक्षों में मौसम के अनुसार सम्पन्न किया जाता है । जैसे- फग्गु सेन्दरा, खद्दी सेन्दरा, जेठ सेन्दरा, विशु सेन्दरा और मुक्का सेन्दरा । सेन्दरा खेलने के लिए वे कई औजारों का प्रयोग करते हैं जिसमें मुख्य रूप से तीर-धनुष, बरछा, तलवार तथा कुलहाड़ी का प्रयोग किया जाता है । इसके साथ ही वे लाठी, बलुवा, गुलेर, फंदा आदि का प्रयोग करते हैं । उराँव अपने शिकार यात्रा में पालतू कुत्ते एवं पक्षी, जिसे 'शिकरा' कहा जाता है, ले जाते हैं । पालतू कुत्ते एवं शिकरा जानवरों को पकड़ने में मदद करते हैं । शिकार में मदद हेतु उराँव ढोल, नगाड़ा एवं घंटा भी साथ में ले जाते हैं । बड़े जानवरों को घेरने/पकड़ने के लिए इन बाजों को बजाया जाता है । ढोल, नगाड़े तथा घंटे की आवाज से समूह के लोग भी इकट्ठे होते हैं । इस तरह से सभी की मदद से सेन्दरा पूर्ण होता है ।

उराँव समाज में मछली मारना भी समय विशेष पर शिकार का अंग माना जाता है । मछली पकड़ने स्त्रियाँ एवं बच्चे भी जाते हैं। लेकिन सेन्दरा के नाम पर महिलाओं एवं बच्चों को शामिल नहीं किया जाता है । मछली मारने के लिए भी वे तीर-धनुष, टोकरी एवं जाल का प्रयोग करते हैं। शिकार खेलना इनके जीवन का प्रमुख अंग था। इसका प्रमुख कारण था :-

(1) पेट भरना
(2) जंगली जानवरों एवं दुश्मनों से अपनी रक्षा करना
(3) पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्व का वहन करना
(4) समूह/समाज में अपना दबदबा बनाये रखने के लिए एवं
(5) फसलों की सुरक्षा के लिए।

सेन्दरा से सम्बन्धित एक गीत प्रचलित है -

सेन्दरा कादय भइया रे, ...
आल मझी अमके मना 2
बंडी अल्लन होओय लिहो-लिहो बओय,
आल मझी अमके मना 2

अर्थ - शिकार खेलने जा रहे हो भैया, आदमी के बीच-बीच में मत रहना। बंडी (जिसकी पूंछ न हो) कुत्ता को ले जाना, लिहो-लिहो (कुत्ते के लिए उत्साहपूर्ण शब्द/आवाज) बोलना, आदमी के बीच-बीच में मत रहना। चोट लगने की सम्भावना रहती है ।

शिकार पर जाने से पहले पूजा-पाठ की जाती है, जिसमें बलि दी जाती है। इस तरह उराँव समाज में आखेट (सेन्दरा) एवं इससे जुड़ी गतिविधियाँ समाज की समूह, सांस्कृतिक विरासत एवं विशिष्ट सामाजिक संरचना को दर्शाती है । लेकिन वर्तमान में शिक्षा के प्रचार-प्रसार, आधुनिक अर्थव्यवस्था तथा आधुनिकता के प्रभाव ने इस परम्परा को अवरुद्ध किया है । अब सिर्फ नाम मात्र के लिए इसे परम्परा के रूप में सम्पन्न किया जाता है ।

बलि - आखेट एवं बलि उराँवों का एक सामाजिक अनुष्ठान है । यह व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों तरह से सम्पादित किया जाता है । दोनों अनुष्ठानों का उराँव समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान है । दोनों ही अनुष्ठान एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इसमें

मारा गया पशु अन्ततः प्रसाद या भोजन के रूप में ग्रहण किया जाता है। उराँवों के बीच प्रकृति की शक्तियों को देवी-देवता के रूप में माना जाता है। इनका विश्वास है कि इतनी बड़ी अद्भुत और सुन्दर दुनिया को बनाने वाला कोई अलौकिक शक्ति है जो दिखाई नहीं देता है। इस अदृश्य शक्ति की आपदाओं से बचने एवं उसे अपने वश में करने की इच्छा ने ही धर्म को जन्म दिया और धर्म के विभिन्न प्रतीकात्मक क्रिया के रूप में बलि सामने आया। बलि देने की शुरुआत के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि टोटेमवादी सिद्धान्त से धर्म की उत्पत्ति हुई है और इसी से बलि चढ़ावा का विकास हुआ। इस सम्बन्ध में लेखक ख्रिस्टोफर अगस्तुस विकसल तिर्की ने अपनी पुस्तक 'आदिम धर्म एक परिचय' में लिखा है- "टोटेम एक विशेष वस्तु है जो किसी वर्ग के लोगों का प्रतिनिधित्व करती है। बहुधा किसी पशु को पूर्वजों का प्रतीक माना जाता था। किसी त्यौहार के दिन उस टोटेम पशु को बलि किया जाता है। समाज उस पशु के मांस और रक्त का सहभोज करता था। इस तरह टोटेम देवता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध का नवीनीकरण होता था और उसकी शक्ति को पुनः ग्रहण किया जाता था। इस मान्यता में यह माना जाता है कि समस्त बलि विधान इस टोटेम को बलि चढ़ावों से विकसित हुआ है।"[37]

अलग-अलग पूजा-पाठ के लिए अलग-अलग पशुओं की बलि दी जाती है। पूजा-पाठ व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों तरह का हो सकता है। उराँव समाज में जन्म से सम्बन्धित अचरैल संस्कार, विवाह संस्कार एवं मृत्यु पश्चात् के संस्कार तथा कुछ पर्व-त्यौहारों में बलि देने की प्रथा पायी जाती है। कोरकू जनजातियों में भी विवाह के समय बलि चढ़ाया जाता है। अशोक द पाटिल ने 'कोरकू जनजीवन' में लिखा है - "कोरकूओं के द्वारा उनके गोत्र से सम्बन्धित पेड़ अथवा पौधे की विवाह के अवसर पर बलि चढ़ाने और मद्य के तर्पण का जहाँ तक प्रश्न है, यह क्रिया उस पेड़ अथवा पौधे का आराध्य होना प्रतिपादित नहीं करती है। इसके पार्श्व में भी गोत्र प्रतीक को स्मरण रखने की भावना निहित है। कोरकू उस पेड़-पौधे की महत्ता 'कुल (वंश) का पेड़ अथवा पौधा' के रूप में स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है कि इस पेड़-पौधे ने उनके वंश को अस्तित्त्व प्रदान किया है। अतः उसकी निरंतरता का सम्बन्ध उनके वंश की निरंतरता से है इसलिए विवाह के समय इसे बलि का रक्त एवं मद्य का तर्पण करते हैं। इसका अभिप्राय विवाह में आबद्ध होने वाले युगल प्रजनन क्षमता से बैष्ठिटत हो तथा गोत्र प्रतीक के समान ही वंश फले-फूले यह रहता है।"[38]

उराँव समाज में विवाह संस्कार के अन्तर्गत 'कड़सा उठाने' की प्रक्रिया में बलि देने का प्रावधान है । जन्म से सम्बन्धित अचरैल संस्कार में उराँव समाज द्वारा भेड़ की बलि देकर जच्चा-बच्चा के लिए अच्छे स्वास्थ्य की कामना की जाती है । इस समाज में पर्व-त्यौहारों में भी बलि दी जाती है । जैसे- सोहराई पर्व में 'गोरया देवता' के लिए गोहाल घर में बलि दी जाती है एवं पशुओं की हर तरह से सुरक्षा एवं उनकी वृद्धि हेतु प्रार्थना की जाती है । खुँखार जानवरों से अपनी रक्षा के लिए कोरकू भी पूजा आराधना एवं बलि चढ़ाते हैं। लेखक श्री चन्द्र जैन ने अपनी पुस्तक आदिवासियों के बीच में लिखा है- "बाघ गाँव की सीमा के पास एक झोपड़ी में स्थापित किये जाते हैं जो व्याघ्र की मूर्ति के रूप में होते हैं । सघन काननों में व्याघ्र (शेर) का निरन्तर भय रहता है । अत: संरक्षण हेतु इस देवता की विशिष्ट पूजा होती हैं । पशु बलि, मिठाई आदि से इन देवी-देवताओं का पूजन होता है ।"[39] पुन: लेखक महोदय लिखते हैं- "झाड़ी, सेमर, महुआ अथवा साल वृक्ष पर निवास करने वाला ठाकुर देव ग्रामों की बीमारियों अथवा संकटों से रक्षा करता है । इसे प्रसन्न करने के लिए पुरोहित के द्वारा पशु बलि दी जाती है ।"[40]

उराँवों के मध्य करम एवं सरहुल त्यौहारों में भी बलि देने की प्रथा है । 'सेन्दरा' जाने के पूर्व पूजा में भी बलि देने की प्रथा पायी जाती है । उराँव समाज में 'बड़पहाड़ी' पूजा में भी बलि दी जाती है । इसमें कहीं-कहीं बूढ़ी बकरी तो कहीं सूअर बलि देने की प्रथा है ।

इसके अलावा उराँव समाज में व्यक्ति अपनी मनोकामना पूरी होने पर एवं घर-परिवार के संकट से उबरने के पश्चात् भगवान को धन्यवाद स्वरूप बलि देकर पूजा-पाठ करने की प्रथा है । इस तरह यह देखा जाता है कि उराँव समाज में बलि का महत्त्वपूर्ण स्थान है । इनके प्रत्येक संस्कार जैसे- जन्म, विवाह, मृत्यु एवं पर्व त्यौहारों में बलि देने की प्रथा पायी जाती है । बलि चाहे जिस प्रकार की हो अंतत: उसे पकाकर खाया जाता है । उराँव या अन्य आदिवासी समाज के अलावा दूसरे धर्मों में भी बलि का स्वरूप दिखाई देता है । हिन्दुओं के दशहरा पर्व में बकरे एवं भैंसे की बलि दी जाती है । राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक 'यात्रा के पन्नें' में लिखा है - "30 मार्च को महादशमी थी, पुराने राजमहल में खूब बलिदान हुए । डेढ़ सौ तो भैंसे काटे गये थे ।"[41] पुन: लेखक महोदय लिखते हैं - "बलि किये हुए भैंसों की सैकड़ों सींगे यहाँ के बाघ भैरव के मन्दिर में टंगी हुई थी ।"[42] मुसलमानों के बीच बकरीद में बैल, बकरे या ऊँट की बलि दी जाती है ।

विद्वानों के अनुसार बलि चढ़ाने के कई कारण हैं -

(1) पर्व-त्यौहारों (विशेष) के अवसर देवी-देवता को प्रसन्न करने के लिए।

(2) देवी-देवता के क्रोध और दंड से स्वयं को बचाने के लिए। (अनावृष्टि, अतिवृष्टि, महामारी इत्यादि को देवता का क्रोध के कारण माना जाता था)

(3) अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिए।

(4) उपकारों के प्रति आभार, कृतज्ञता प्रकट करने के लिए।

(5) इच्छित वस्तु को प्राप्त करने के लिए वरदान मांगना या क्षमा याचना के लिए भी बलि देने की प्रथा आयी।

बलि देने के सम्बन्ध में मुख्य बात यह है कि मानव-मन में एक भय, शंका हमेशा व्याप्त रहता है। इसके अलावा वह इस दुनिया के अजीबो-गरीब बनावट या क्रियाकलाप को अपने वश में करना चाहता है अर्थात दुनिया को जीत लेना चाहता है। वह अपने मन की करना चाहता है और इसी के वशीभूत ये सभी क्रियायें करता है। बात फिर घूम-फिरकर वहीं धर्म पर लौट आती है। धर्म की शुरुआत एवं मानव मन में उथल-पुथल का होना। इसी उथल-पुथल को शान्त करने एवं दुनिया को मुट्ठी में करने की लालसा ने ही इन क्रियाओं को जन्म दिया जो आज प्रथा बनकर हमारे बीच समायी है।

प्राचीन समय में नर-बलि भी देने की प्रथा थी। नर-बलि के सम्बन्ध में डॉ० बी० पी० केशरी ने अपनी पुस्तक 'छोटानागपुर का इतिहास' में लिखा है कि - "महाभारत काल में जब यह क्षेत्र असुर संस्कृति से विकसित हुआ तो शिवोपासना की परम्परा प्रबल रूप से शुरू हुई। तब नर-बलि की भी प्रथा थी। यह प्रसिद्ध है कि असुर सम्राट जरासंघ शिवोपासक था। वह पराजित राजाओं को अपने शिव मन्दिर में बलि देने के लिए कैद रखता था।"[43] जो सभ्यता के विकास के साथ समाप्त होता चला गया।

इसे उराँव 'ओटंगा' के नाम से जानते थे। प्राचीन जमाने में लोग 'ओटंगा' के नाम से बहुत डरे हुए होते थे और दोपहर के समय या एकान्त स्थान पर से गुजरने में घबराते थे। प्राय: सभी के मन में ओटंगा का भय समाया रहता था। 'ओटंगा' वह व्यक्ति होता था जो आदमी की बलि देता था। यह काम एक विशेष मौसम-खेतों में धान बुनने के पहले अर्थात मार्च से लेकर जून तक का होता था। आज भी कई परिवार ओटंगा परिवार के नाम से जाने जाते हैं और लोग ऐसे घरों में जाने से घबराते हैं।

आज भी कहीं-कहीं कुछ अंधविश्वासी सभी समाज में मिल जाते हैं। जो अपनी इच्छित वस्तु पाने के लिए नर बलि कर बैठते हैं। यह समाज के लिए घृणित कार्य है।

कुछ विश्वास भूत-प्रेत, डायन, जादू-टोना तथा ओझा-मती-सोखा से सम्बन्धित भयाक्रांत भी होते हैं। उराँवों का विश्वास है कि अस्वाभाविक मृत्यु के कारण आत्मा भटकती रहती है। उन्हें अपने घर में स्थान नहीं मिलता (क्योंकि अस्वाभाविक हुए मौत वाले व्यक्ति का 'एख़ मंखना' संस्कार नहीं किया जाता है।) ऐसे बुरी आत्मा को भूत-प्रेत और चुड़ैल के नाम से जाना जाता है। इधर-उधर भटकने के कारण ऐसी आत्मा को शान्ति नहीं मिलती है। यही कारण है कि वे लोगों को तंग करते हैं और हानि पहुँचाते हैं। उराँवों का विश्वास है कि ओझा मती और सोखा ही उन्हें अपने वश में रख सकते हैं। क्योंकि वे विशेष विद्या सीखे हुए होते हैं।

इस तरह का जादू-टोना, भूत-प्रेत एवं झाड़-फूंक सभी समाज में पाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० केशरी ने अपनी पुस्तक 'छोटानागपुर का इतिहास' में लिखा है – "यों भूत-प्रेत और मंत्र-तंत्र के सूत्र अथर्व वेद में ही मिलते हैं। किन्तु बौद्ध धर्म के ह्रास काल में तांत्रिकी एवं सिद्धों का जो एक नया दौर उठ खड़ा हुआ उसका प्रभाव इस क्षेत्र के लोगों पर विशेष पड़ा। शैव शाक्त उपासना की परम्परा यहाँ थी ही। लगता है इन सबों के समवेत असर से इस क्षेत्र में भूत-प्रेत, डाइन-बिसाहा, झाड़-फूंक, ओझा-मती आदि की परम्परायें जन-जीवन में गहरे पैठ पायी। क्षेत्र के दुर्लभ और कटे होने के कारण ही ये विश्वास आज भी यहाँ पर्याप्त अवशिष्ट है।"[44] उराँव समाज भी इससे अछूता नहीं है। यह जादू टोना कई प्रकार का हो सकता है। जैसे- मनपसन्द युवक/युवती को पाने के लिए, किसी को पागल करने के लिए, किसी पर भूत सवार करके हानि पहुँचाने के लिए, किसी को बीमार करने के लिए, पशुधन तथा कृषि को हानि पहुँचाने के लिए आदि-आदि। कृष्ण मोहन श्रीमाली ने धर्म समाज और संस्कृति में लिखा है – "मवेशियों के अतिरिक्त वरदान, संतान (अधिकत्तर पुत्र), मवेशी, सम्पदा रूपी संपत्ति प्राप्त करने के लिए किये युद्धों में सफलता और दीर्घायु होने के लिए ही देवताओं को इन बलि से संतुष्ट किया जाता था।"[45] अलग-अलग इच्छा की पूर्ति के लिए अलग-अलग तरह का जादू टोना किया जाता है। सभी कार्यों को सम्पन्न करने का समय, विधि-विधान एवं अलग-अलग सामानों की जरूरत होती है। यह सभी कुछ जादू-टोना करने

वाले व्यक्ति पर निर्भर करता है। इन कार्यों को ओझा-मती भी सम्पन्न करते हैं। मुख्यत: बुरे कार्यों के लिए डायन को ही करने वाली समझा जाता है। यदि गाँव में कोई बीमार है तो लोग डाक्टर वैद्य के पास न जाकर ओझा/मती एवं सोखा के पास जाते हैं। उनका इलाज का तरीका अपनी तरह से पूजा-पाठ, झाड़-फूंक के द्वारा होता है। इस पूजा-पाठ में वे मुर्गा-मुर्गी, बकरा-बकरी, कांसा-पीतल का बर्तन, सोने की टिकली के अलावा अन्य कई सामानों की मांग करते हैं जिसमें बहुत अधिक खर्च आता है। रोगी की सही इलाज न होने पर रोग बढ़ता ही जाता है। यदि रोगी मर गया तो पकड़ी जाने वाली डायन की खैरियत नहीं होती, उसे जान से मार दिया जाता है। डायन का पता बताने वाला ओझा ही होता है। बहुत से भगत/ओझा सिर्फ झाड़-फूंक करके बीमारी दूर करने का दावा करते हैं लेकिन इस प्रक्रिया में सिर्फ समय और पैसे की बर्बादी तथा अपने रोग को बढ़ाना ही होता है।

उराँवों की अपनी भाषा 'कुड़ुख़' में देवी-देवता शब्द नहीं है। लेकिन अन्य संस्कृतियों के प्रभाव से इनके भाषा में देवी-देवता शब्द का समावेश हो गया है। देवी देवता के लिए इनकी कुड़ुख़ भाषा में 'नाद' शब्द है। ये 'नाद' शब्द के साथ देवी-देवता शब्द का प्रयोग करने लगे हैं। उराँव/कुड़ुख़ लोगों के बीच देवी-देवता और नाद एक सामान्य शब्द है। 'नाद' का अर्थ वे दोनों के लिए करते हैं। देवी-देवता के लिए भी और बुरी आत्मा/भूत प्रेत के लिए भी। घर के देवता को 'एड़पा नाद' एवं बाहरी देवी-देवता के लिए 'टोड़ंग परता ता नाद' शब्द का प्रयोग करते हैं। अपने पूर्वजों की कुण्डी के लिए विशेष शब्द 'पचवा आलर' या 'देवता-पितर' शब्द का प्रयोग करते हैं। अत: उराँवों के 'नाद' शब्द से अच्छी या बुरी का स्पष्ट रूप से पता नहीं चलता है जब तक वाक्य स्पष्ट व पूरी न हो। 'नाद' की पूजा-पाठ करके उसे खुश किया जाता है एवं नाद से अच्छा और बुरा दोनों तरह का कार्य कराया जाता है। अपने हित के लिए भी एवं दूसरों की अहित के लिए भी।

संदर्भ संकेत

क्र० सं०	किताब का नाम	लेखक का नाम	पृ० सं०
1	कोरकू जन जीवन	डॉ० अशोक द पाटिल	31
2	कोरकू जन जीवन	डॉ० अशोक द पाटिल	36
3	श्रद्धा (जनजा० में संस्कार)	सरन उराँव	97
4	कोरकू जन जीवन	डॉ० अशोक द पाटिल	37
5	मुण्डा एवं उराँव का धार्मिक इतिहास	डॉ० दिवाकर मिंज	
6	स्मारिका सरना	डॉ० रामदयाल मुण्डा	3
7	खड़िया लोक कथाओं का साहित्यिक और सांस्कृतिक अध्ययन	डॉ० रोज केरकेट्टा	31
8	वही	वही	31
9	श्रद्धा (जनजा० में संस्कार)	सरन उराँव	97
10	उराँव रिलीजन एंड कस्टम	शरत चन्द्र राय	187
11	श्रद्धा	सरन उराँव	97
12	स्मारिका सरना	डॉ० रामदयाल मुण्डा	5
13	वही	वही	4
14	Report of the Seminar (Tribal identity in the context of Displacement)	R.T.C Tarunoday	22
15	सरस सलिल	अंकुर जयसवाल	14
16	बिहार का जनजातीय जीवन	उमेश कु० वर्मा	81
17	मुड़मा जतरा	सुधांशु शेखर मिश्र विलियम एक्का	36
18	सरस सलिल	अंकुर जयसवाल	14
19	वही	वही	
20	वन एवं आदिवासी (सामाजिक जीवन)	पूनम चन्द सिकलीगर	61

क्र० सं०	किताब का नाम	लेखक का नाम	पृ०सं०
21	छोटानागपुर के आदिवासी और उनके गोत्र (संग्रह कर्ता-जोसेफ कन्डुलना)	डानियल जोंजो	16
22	खड़िया लोक कथाओं का साहित्यिक और सांस्कृतिक अध्ययन	डॉ० रोज केरकेट्टा	39
23	उराँव संस्कृति	मिखाएल कुजुर	112
24	वही	वही	"
25	वही	वही	160-61
26	कोरकू जन जीवन	डॉ० अशोक द पाटिल	134
27	उराँव सिम्बोल	बोनिफास तिर्की	42
28	दी ब्लू ग्रोव	डब्ल्यू० जी० आर्चर इग्लैंड 1940	
29	मौसिमी राग	जॉन लकड़ा, ये० स० संत अल्बर्ट कॉलेज राँची -1 1993	
30	पंचदश लोकभाषा	जगदीश त्रिगुणायत बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना -3 1981	
31	मांदर का सुमधुर सुर ताल	ब्र० मतियस टोप्पो संत अलर्ब्ट सेमिनरी राँची 1980	
32	वही	वही	
33	मौसिमी राग	जॉन लकड़ा, ये० स० 1993	
34	भारतीय आदिवासी	ललिता प्रसाद विद्यार्थी	
35	आदि धर्म	डॉ० रामदयाल मुण्डा	40-41
36	छोटानागपुर का इतिहास	बी० पी० केशरी	4

क्र० सं०	किताब का नाम	लेखक का नाम	पृ०सं०
37	आदिम धर्म एक परिचय	ख्रिस्टोफर अ० विकसल तिर्की	32
38	कोरकू जन जीवन	डॉ० अशोक द पाटिल	88
39	आदिवासियों के बीच	श्री चन्द्र जैन	88
40	आदिवासियों के बीच	श्री चन्द्र जैन	88
41	यात्रा के पन्ने	राहुल सांकृत्यायन	16
42	यात्रा के पन्ने	राहुल सांकृत्यायन	17
43	छोटानागपुर का इतिहास	बी०पी० केशरी	105
44	छोटानागपुर का इतिहास	बी०पी० केशरी	
45	धर्म समाज और संस्कृति	कृष्ण मोहन श्रीमाली	115

चतुर्थ अध्याय

उराँव जनजाति का सांस्कृतिक परिचय

संस्कृति : यह एक छोटा-सा शब्द है । परन्तु इसका अर्थ बहुत व्यापक है । मानव समाज की संस्कृति किसी विशाल समुद्र की गहराई से कम नहीं । इसे नापना समझना एवं जानना बहुत ही कठिन कार्य है । संस्कृति मानवीय समाज की प्रमुख विशेषता है । प्रकृति-प्रदत्त मानव की मस्तिष्कीय संरचना उसे पशु-जगत् से उच्च स्थान प्रदान करती है । वैज्ञानिकों के अनुसार सबसे विकसित पशु रूप एप (ape) की मानसिक शक्ति 450 cc है जबकि साधारण मनुष्य की मानसिक शक्ति 1250 cc होती है । इसी दृढ़ मस्तिष्क द्वारा मनुष्य सोच-विचार करता है, तर्क कर सकता है, और कारक तथा कारण (cause and effect) के बीच सम्बन्ध स्थापित कर सकता है । इसी मानसिक शक्ति के कारण मनुष्य प्रतीक (Symbols) बनाकर उन्हें अर्थ प्रदान करता है । इसी तरह भाषा का उद्‌भव तथा विकास होता है और यही भाषा मानवीय संस्कृति के आदान-प्रदान और विकास में अहम् भूमिका अदा करती है ।

विद्वानों के अनुसार मानव को एक जैविकीय प्राणी के रूप में समझा जाय, एवं उसे संस्कृति निर्माता कहा जाय । संस्कृति का निर्माण आधुनिक मानव (होमोसैपियन्स) के परिवर्तन के साथ-साथ हुआ । होमोसैपियन्स की स्थिति में ही वह संस्कृति को विकसित कर सका । होमोसैपियन्स से पहले भी यह जिस स्थिति में था, उसी स्थिति से, वह जो कुछ करता आया, वही उसकी संस्कृति बनती गयी । जैसे-जैसे वह शारीरिक रूप से विकास करता गया उससे जुड़ी सभी बातों एवं चीजों में विकास होता गया और इस तरह संस्कृति का निर्माण हुआ । इसलिए संस्कृति को हम मानव शरीर के विकास की तरह ही क्रमिक विकास में बाँट सकते हैं । जैसे - (1) जैविक उद्‌विकास (2) मानव उत्पत्ति और संस्कृति (3) प्रारम्भिक मानव युग की संस्कृति तथा (4) मेधावी मानव और उनकी संस्कृति । पाषाण युग की संस्कृति, आखेट युग की संस्कृति एवं कृषि युग की संस्कृति को हम मेधावी मानव की संस्कृति के अन्तर्गत रख सकते हैं ।

दुनिया की हर वस्तु उद्‌विकास की प्रक्रिया से गुजरती है । उद्‌विकास की प्रक्रिया बहुत जटिल होती है । चाहे वह प्राणी जगत् हो, वनस्पति जगत् हो, या मानव जगत् है । उद्‌विकास के अन्तर्गत अनुवांशिक तत्त्वों में सूक्ष्म रूप से परिवर्तन होता है । इसलिए इसका आभास तुरंत न होकर पीढ़ियों/सदियों के बाद होता है ।

उसी प्रकार मानव के क्रिया-कलापों एवं अभौतिक संस्कृति में भी बहुत सूक्ष्म परिवर्तन धीरे-धीरे होता है । जिसका आभास लम्बे समयांतराल के बाद होता है ।

प्रसिद्ध प्राणी शास्त्री चार्ल्स डार्विन का विचार है - मानव पहले पेड़ों पर रहते थे । विद्वान सर आर्थर का कहना है कि इसके पश्चात मानव द्विपक्षीय (दोनों पैर से सीधा चलना) प्राणी के रूप में अपना विकास करता गया । डार्विन के अनुसार हमारे आरंभिक पूर्वज (आदिम वानर) थे जो पेड़ों पर रहा करते थे। बाद में वे मानव सम वानर हुए । प्रकृति परिवेश में परिवर्तन होते रहने के कारण इन मानव पूर्वजों को अपने जीवन के तरीके बदलने पड़े और मानव अपनी विशिष्ट मानसिक क्षमताओं के कारण औजारों का निर्माण करने लगे एवं स्पष्टवाणी का प्रयोग करने में उन्हें सफलता मिली । इस सम्बन्ध में डार्विन का कथन है कि बानर से मनुष्य का विकास कई विशिष्ट कारणों से आसान हो गया था। मानव का मस्तिष्क उच्च रूप से विकसति होता गया । इस लम्बे कालान्तर में मानव का मस्तिष्कीय विकास से वह मनुष्य कहलाया । तत्पश्चात् मानव का विभाजन प्रजातियों में हुआ । परिणामत: मनुष्य से सम्बन्धित सभी बातों वस्तुओं (प्रत्येक क्षेत्र) में परिवर्तन होना स्वभाविक है । इन सभी मिले हुए तथ्यों (प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष) को हम उस काल, समय की संस्कृति कह सकते हैं । इस तरह मानव एवं मानव संस्कृति का विकास कई कालों से गुजरता हुआ वर्तमान परिस्थितियों से गुजर रहा है ।

संस्कृति मानव समाज की मुख्य विशेषता है । यह व्यक्ति और समाज को जोड़नेवाली कड़ी है । इसलिए समाज शास्त्रियों का कहना है कि व्यक्ति को सामाजिक प्राणाी बनाने में जितने भी तत्त्वों का योगदान होता है, उन सभी तत्त्वों की व्यवस्था का नाम ही संस्कृति है । इस सम्बन्ध में पार्सन्स महोदय का विचार है "संस्कृति वह पर्यावरण है जो मानव क्रियाओं का निर्माण करने में आधारभूत है ।" इस तरह हम कह सकते हैं कि संस्कृति मनुष्य को अपूर्णता से पूर्णता की ओर ले जाती है ।

कुछ विद्वानों ने संस्कृति के कई भेद बताये हैं -

सर्वलौकिक संस्कृति, विकल्प संस्कृति तथा विशिष्ट संस्कृति ।

इनमें से हम कुछ को देख और छू सकते हैं । उनका कुछ ठोस आकार होता है जैसे- कागज, कलम, लकड़ी, छड़ इत्यादि । जिसे विद्वानों ने भौतिक संस्कृति कहा है । जिसे हम नहीं छू सकते, नहीं देख सकते, जिनका कोई आकार नहीं होता उन्हें हम अभौतिक संस्कृति कहते हैं । जैसे- धर्म, विचार, विश्वास रूढ़ियाँ

परम्परा आदि । इस प्रकार संस्कृति उन सारे सार्वलौकिक, विकल्प, विशिष्ट, भौतिक एवं अभौतिक वस्तुओं की सम्पूर्ण इकाई है जिसे मनुष्य ने अपने सामाजिक जीवन में निर्माण किया है । पृथ्वी, जल, पहाड़, वायु, चाँद, तारे, सूर्य, ग्रह इत्यादि इन्हें हम प्रकृति का प्रतीक मानते हैं ।

एक अच्छी/सबल संस्कृति के दोनों पक्ष (भौतिक एवं अभौतिक) को मजबूत रहना चाहिए । एक पक्ष बिना दूसरा पक्ष अधूरा रहेगा और उसका समूचित विकास नहीं होगा । संस्कृति के दोनों ही पक्ष एक दूसरे से जुड़े हुए हैं । दोनों एक दूसरे के पूरक हैं किसी एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती है । लेकिन विद्वानों ने इन दोनों में भी अभौतिक संस्कृति को भौतिक संस्कृति से अधिक महत्त्वपूर्ण बताया है । इनका मानना है कि अभौतिक संस्कृति की अपेक्षा भौतिक संस्कृति के नष्ट होने से उतनी हानि नहीं होती है जितना की अभौतिक संस्कृति के नष्ट होने से होता है । भौतिक संस्कृति का निर्माण पुनः किया जा सकता है या उसमें काफी समय लगता है इसलिए विद्वान आगबर्न कहते हैं कि भौतिक पक्ष में परिवर्तन तीव्र गति से होता है लेकिन अभौतिक पक्ष में परिवर्तन के लिए सदियों लग जाते हैं । जैसे आधुनिक परिवेश में मशीनों का प्रयोग, रेलगाड़ी, मोटरकार, हवाई यात्रा आदि से कोई भी व्यक्ति/समाज अछूता नहीं रहा लेकिन रीति-रिवाज, धर्म, विचार एवं विश्वास परिवर्तन के बावजूद अपने स्थान पर ही हैं ।

संस्कृति की प्रगति और किसी भी एक युग में उसका विशेष रूप दोनों परम्पराजनित है । प्रत्येक मनुष्य संसार में आने पर किसी संस्कृति का अंग बन जाता है । यह भी सत्य है कि प्रत्येक युग की संस्कृति में कुछ नयी सांस्कृतिक कड़ियाँ भी जुड़ जाती है । यदि एक उराँव, उराँव की तरह व्यवहार करता है तो वह इसलिए कि उसका जीवन एक उराँव समाज में व्यतीत होता है । यदि एक उराँव को बचपन से ही किसी दूसरी संस्कृति के सम्पर्क में रहना पड़े तो उस दूसरी संस्कृति में प्रचलित आचार-विचार का प्रभाव उस पर पड़ना अनिवार्य है ।

संस्कृति और परम्परा का अटूट सम्बन्ध है । यह प्रगतिशील वस्तु है जिसमें प्रत्येक युग के साथ कुछ परिवर्तन आ जाता है । काल और स्थान के परिवर्तन से मनुष्य की आवश्यकतायें भी घट-बढ़ जाती हैं । वर्तमान युग में विज्ञान की प्रगति के साथ समाज का ढांचा बिलकुल बदल चुका है और मनुष्य का जीवन अत्यधिक जटिल हो गया है । आज आदिवासी भी कुछ इस जटिलता में जकड़ गये हैं । संस्कृति को जीवित रहने के लिए समय के साथ बदलती हुई मानव जीवन

की आवश्यकताओं के साथ बदलना पड़ता है । किसी भी समाज के आर्थिक और सामाजिक जीवन में परिवर्तन होते रहते हैं, साथ ही सांस्कृतिक जीवन भी बदलता रहता है । अर्थात् सूक्ष्म परिवर्तन होता रहता है । लेकिन, जिस मात्रा में भौतिक संस्कृति बदलती है उस मात्रा में सामाजिक अवस्थाएँ, पद्धतियाँ, विचार, विश्वास आदि नहीं बदलती । यानि मनुष्य का धार्मिक विश्वास एवं विचार जल्दी नहीं बदलता । इस तरह के परिवर्तन से मानव घबराता है, इसलिए कि पुराने संस्कार, परम्परा तथा विचारों की जड़ गहराई तक समायी होती है ।

भारतीय मानवशास्त्रियों ने जन जातियों की विभिन्न शाखाओं के सांस्कृतिक स्तरों का तुलनात्मक विवेचन करने का प्रयत्न किया है, तथा कुछ ने जनजातियों के नागरिक समूहों से निकटता या दूरी को उनकी संस्कृति के निम्न या उच्च होने का मुख्य कारण बताया है । इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने जनजातियों को निम्नलिखित शाखाओं में विभाजित किया है :

(1) शुद्ध आदिम जातियाँ (2) ऐसी आदिम जातियाँ जो दूसरे समूह से सम्बन्ध स्थापित कर चुकी है । (3) ऐसी आदिम जातियां जिनकी संस्कृति में बाह्य प्रभाव पड़ चुका हो और (4) ऐसी आदिम जातियाँ जो पूर्ण रूप से दूसरी जातियों से मिल चुकी हो । कुछ विद्वानों ने आदिम जातियों को तुलनात्मक रूप से कम असभ्य होने की स्थिति में विवेचित करने का प्रयत्न किया है ।

अध्ययन की दृष्टि से ऊपर दिये गये विभाग उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं, लेकिन 'सांस्कृतिक स्तर' से इसे देखने पर त्रुटियाँ भी हो सकती हैं । क्योंकि जहाँ एक जाति में संस्कृति का एक अंश निम्न या कम महत्त्व रखता हो वही अंश दूसरे जाति में सौम्य, उच्च और प्रगति का द्योतक हो सकता है । विद्वानों के अनुसार यद्यपि उराँव और मुण्डा जातियों में संस्कृति की निम्नता के कुछ अवशेष मिलते हैं । फिर भी उनके मध्य-प्रचलित परम्परा से आये हुए पंचायत के सिद्धांत कई अंशों में वर्त्तमान पंचायत के सिद्धांतों से भी प्रगतिशील हैं ।

इसलिए हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न जगहों पर भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ पायी जाती है । जैसे- आदिवासी समाज में विवाह एक पवित्र संस्कार है । परन्तु विवाह विच्छेद की भी व्यवस्था पायी जाती है । इस आदिवासी समाज ने स्त्री-पुरुष के पारिवारिक जीवन में अनबन की संभावना को भी स्वीकार किया है और पारस्परिक समझौते के रूप में उपाय भी बताया है । अयोग्यता, क्रूरता या अन्य अनुपयुक्त अवस्था में तलाक की सुविधा है । विधवा विवाह की सुविधा है । हिन्दू संस्कृति के अनुसार ये सब अच्छी बातें नहीं है लेकिन आदिवासी संस्कृति की ये

श्रेष्ठ बातें हैं । इस प्रकार संस्कृति एक व्यापक शब्द है । इसे अच्छी तरह से समझने के लिए इसके भेद, तत्त्व, समूह, क्षेत्र, उपादान, प्रतिमान तथा प्रत्येक दृष्टिकोण से इसका अध्ययन करना आवश्यक है । संस्कृति शब्द का व्यवहार भिन्न अर्थों में होता है । सामान्य बोलचाल की भाषा में संस्कृति शब्द का व्यवहार अच्छे आचरण, अच्छी आदतें आदि के लिए किया जाता है । जिस व्यक्ति का रहन-सहन, चाल-व्यवहार, बातचीत का तौर-तरीका अच्छा होता है उसे हम सुसंस्कृत व्यक्ति कहते हैं ।

मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते समाज में रहता है एवं संस्कृति का सारा ज्ञान प्राप्त करता है । मनुष्य अपनी उत्पत्ति से लेकर आज तक हर क्षण नया-नया अविष्कार करता आया और करता ही रहेगा, क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही रचनाशील प्रकृति का है । सुख-दुःख, ठंडा-गर्म या अन्य अनुभूति जिसे सभी जीव-जन्तु अनुभव करते हैं और अपने स्तर से उसे हल करने की कोशिश करते हैं । इस 'अपने स्तर' में मनुष्य अन्य जीवों से बहुत आगे निकल गया । वह सदा से ही प्राकृतिक पर्यावरण को अपने कब्जे में करने का प्रयास करता रहा है और करता रहेगा । इसलिए यह कहा जा सकता है कि "अपनी सुख-सुविधा के लिए पर्यावरण की नित नूतन सृष्टि के द्वारा मानव जिन तत्त्वों के कारण अन्य प्राणियों से बिल्कुल पृथक हो जाता है उसको संस्कृति कहते हैं ।" संस्कृति ही मनुष्यों को अन्य प्राणियों से अलग करती है । उत्पत्ति काल से लेकर वर्त्तमान काल तक उसने छोटे से बड़े वस्तुओं तथा कई सामाजिक नियमों को बनाया है । इस तरह से मनुष्य संस्कृति का निर्माण करता है एवं संस्कृति मनुष्य के व्यक्तित्त्व का निर्माण करती है ।

संस्कृति का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में होता आया है जो निम्नलिखित हैं-

आमतौर पर शिक्षित समाज में संस्कृति शब्द के प्रयोग से साहित्य, संगीत, नाटक, नृत्य, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं के सामूहिक रूप का बोध होता है ।

(इसी परिभाषा के आधार पर कदाचित केन्द्रीय सरकार के संस्कृति विभाग का संगठन हुआ है)

इस कला समूह में मानव समाज की वे गतिविधियाँ और क्रिया-कलाप फलीभूत होते हैं जिनकी सार्थकता महज उनकी उपयोगिता में नहीं, वह इस बात में भी है कि वे साथ-साथ आनन्द के स्रोत भी हैं ।

उराँव जनजाति का सांस्कृतिक परिचय

नृविज्ञान में संस्कृति शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में होता है। प्रसिद्ध नृविज्ञान वेत्ता मैलिनोवस्की के अनुसार "मानव जाति की समस्त सामाजिक विरासत या मानव की समस्त संचित सृष्टि का ही नाम संस्कृति है। इस अर्थ में संस्कृति में शामिल है- एक ओर वह स्थूल भौतिक जगत जिसकी सृष्टि मानव ने अपने श्रम और उद्यम, कल्पना और कौशल, ज्ञान और विज्ञान द्वारा प्राकृतिक जगत में परिवर्तन लाकर और उसके ऊपर एक अन्यँ नया मानव निर्मित कृत्रिम जगत स्थापित करके की है। मूल्य, मान्यता, चेतना, विश्वास, विचार, भावना, रिवाज, भाषा, ज्ञान, कला, धर्म, जादु-टोना आदि के वे सभी मूर्त-अमूर्त स्वरूप संस्कृति में शामिल है जिनसे मानव सृजित भौतिक जगत् महत्ता एवं सार्थकता पाता है। जिनके कारण ही मनुष्य पशु योनि से ऊपर उठकर वास्तव में मानव कहलाने का अधिकारी बनता है। और जिनके द्वारा मानव के प्रकृति के साथ और मानव मानव के बीच भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्बन्धों की रचना और फलस्वरूप मानव समाज का संगठन और संचालन होता है।"

संस्कृति की यह व्यापक रूप से व्याख्या आदिम समाज के संदर्भ में ही अधिक उपयुक्त है, जहाँ उपयोगिता और सुन्दरता एक दूसरे से अभिन्न और एक दूसरे के पूरक हैं। और जहाँ मानव समाज का आन्तरिक विभेदीकरण और वर्गीकरण तथा मानव के क्रिया-कलापों का विशिष्टीकरण तीव्र नहीं हुआ है।

इसके विपरीत 'आदिम समाज की तुलना में विकसित समाज' में उपयोगिता और सुन्दरता, श्रम तथा अवकाश, श्रमिक और सम्पतिशालीवर्ग में समाज का विभाजन तथा समाज के आार्थिक आधार और गैर आर्थिक यानि सांस्कृतिक अधिसूचना में विभेदीकरण तीव्र होता जा रहा है। इस प्रकार ऐतिहासिक विकास क्रम के फलस्वरूप संस्कृति की परिभाषा व्यापक रूप से सीमित होती जाती है। आर्थिक क्षेत्र और सांस्कृतिक क्षेत्र का बढ़ता हुआ अन्तर्विरोध विकास क्रम और परिवर्तन प्रक्रिया की ही देन है। वर्ग विहिन समाज की तुलना में वर्ग विभाजित समाज (और विशेषकर तीव्र वर्ग संघर्ष से ग्रस्त औद्योगिक समाज) में भौतिक उत्पादन के साधनों, मानसिक और आध्यात्मिक उत्पादन के साधनों का विभेद और अन्तर्विरोध तीव्र होता जाता है। आदिम समाज में इन दोनों प्रकार के उत्पादन साधनों और उत्पादन प्रक्रियाओं में पूरकता पायी जाती है जिसे वर्ग विभाजन मिटा देता है। साथ ही बाजारू अर्थव्यवस्था में प्राकृतिक अर्थव्यवस्था की तुलना में संस्कृति और संस्कृति कर्मी भी बाजारू माल की तरह खरीद-फरोक्त की वस्तु बनते चले जाते हैं। जो इस बात का प्रतीक है कि मूल रूप में संस्कृति आर्थिक व्यवस्था की ही अधीनस्थ है। लेकिन अब आदिम समाज पर भी इसका प्रभाव पड़ रहा है।

संस्कृति का तात्पर्य बतलाते हुए साहित्यकार रामधारी सिंह 'दिनकर' लिखते हैं –

"असल में संस्कृति जीवन का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं । अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी सन्तानों के लिए छोड़ जाते हैं । इसलिए संस्कृति वह चीज मानी जाती है जो हमारे जीवन को बचाये हुए है तथा जिसकी रचना एवं विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है । यही नहीं, संस्कृति हमारा पीछा जन्म-जन्मान्तरों तक करती है । अपने यहाँ एक साधारण कहावत है कि "जिसका जैसा संस्कार होता है उसका वैसा पुनर्जन्म होता है ।" "संस्कार या संस्कृति असल में शरीर का नहीं आत्मा का गुण है ।"

स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधान मंत्री के अनुसार – "संस्कृति का अर्थ मनुष्य का भीतरी विकास और उसकी नैतिक उन्नति है, एक दूसरे के साथ सद्व्यवहार है और दूसरे को समझने की शक्ति है ।"

हमारे देश के द्वितीय राष्ट्रपति सर्वपल्ली राधा कृष्णन के विचारानुसार "संस्कृति अपने सदस्यों का विपरीत दिशाओं में क्रियाशील बलों का अत्यन्त सूक्ष्म संतुलन के फलस्वरूप उत्पन्न सन्तुलन और दृढ़ता प्रदान करती है । सभ्यता का कठोर हो जाना ही संस्कृति है ।"

इसी तरह डॉ० जी०सी० पाण्डेय का विचार है कि "मूलत: संस्कृति जीवन की ओर एक विशिष्ट दृष्टिकोण है । अनुभव के मूल्यांकन और व्याख्या का एक विशिष्ट और मूलभूत प्रकार है । विचार, भावना और आचरण के विभिन्न प्रस्तरों में संस्कृति की सिद्धि है । इस दृष्टि स्वरूप संस्कृति की सिद्धि के बाह्य विस्तार बदलते रहते हैं किन्तु उनकी प्रभावात्मक दृष्टि और प्रेरणा एक अनुयुक्त बृहत्त और गम्भीर सत्ता के रूप में बनी रहती है और भी किसी भी समाज के जीवन में चेतना का यह गहरा या अदृश्य अनुबन्ध ही संस्कृति का सार है ।"

इसी तरह संस्कृति के विषय में अपना मन्तव्य देते हुए बिहार के भूतपूर्व राज्यपाल आर० आर० दिवाकर कहते हैं कि "अपने स्वभाविक साधन, बाहरी तथा भीतरी दोनों को कुशलता पूर्वक चलाकर पशु जीवन के मूल सिद्धांतों में कोई भी वृद्धि लाकर आत्म कथन तथा आत्मनिर्वाह के लिए जो कुछ मनुष्य बनाने में सफल हुआ संस्कृति का मापदण्ड कहा जा सकता है ।"[1]

उराँव जनजाति का सांस्कृतिक परिचय

व्यापक शब्द संस्कृति के बारे में भूतपूर्व विधायक श्री बिहारी लकड़ा ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति और आदिवासी' में लिखा है- "मानव के जन्म से मरने तक जो मानव व्यवहार होते हैं वे सभी संस्कृति के अन्तर्गत आते हैं ।"[2]

इस तरह सच पूछा जाय तो संस्कृति ही किसी जाति के अभ्युदय का पथ प्रदर्शक होती है । इसलिए गोवर्धन प्रसाद सदय ने अपनी रचना 'भारतीय संस्कृति का दीपक' में लिखा है कि "किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों विचार, वाणी और क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है उसी का नाम संस्कृति है ।"[3]

पुनः गोवर्धन प्रसाद सदय लिखते हैं कि- "लोगों का विचार, चाल-चलन, आहार-विहार, खान-पान आदि जो कार्य-व्यापार, आत्म कल्याण एवं सबके मंगल के लिए किये जाते हैं उसी आचरण से संस्कृति का रूप प्रकट होता है । इसे सदाचार भी कहा जा सकता है । अपने विकास के लिए तथा आत्मा कोई उन्नति और परमानन्द प्राप्त करने के लिए जो कुछ जीवन यात्रा के निर्वाह में शुद्ध आचरण का व्यवहार होता है उसे ही संस्कृति कहा जाता है ।"[4]

संस्कृति शब्द का अर्थ कई प्रकार से दिया गया है । संस्कृति शब्द की उत्पत्ति संस्कृत से हुई है । संस्कृति का अर्थ है परिष्कृत या शुद्ध करना । यहाँ परिष्कृत मन अचार-विचार अथवा रुचियों की परिष्कृति से है । इस प्रकार संस्कृति का सम्बन्ध किसी भी ऐसे तत्त्व से है जो व्यक्ति का परिष्कार कर सके । अर्थात् संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही जाती है उनसे अपने आप को परिचित कराना ही संस्कृति है । इसके अभाव में मनुष्य को मनुष्य कहलाने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता । तभी तो हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है – "मनुष्य की श्रेष्ठ साधना में ही संस्कृति है ।" इसी तरह नरेन्द्र देव ने संस्कृति का शाब्दिक अर्थ बताते हुए कहा है कि "संस्कृति चित्तमुनि की खेती है ।" चूँकि कर्म में मन या चित्त की प्रधानता है अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि जिसका चित्तसुभावित है, उसकी वाणी और उसकी शरीर चेष्टा भी सुसंस्कृत होगी । इसलिए संस्कृति किसी देश या समाज की आत्मा है । इससे उन सब संस्कारों का सम्यक् चेष्टाओं और उपलब्धियों का बोध होता है, जिनके सहारे वह अपनी सामूहिक या सामाजिक जीवन, व्यवस्था, लक्ष्यों या आदर्शों का निर्माण करता है । संस्कृति विशिष्ट मानव समूह के उन उदात्त गुणों को समुचित करती है जो मानव जाति में सर्वत्र पाये जाते हैं ।

'संस्कृति' एक व्यापक शब्द है जिसकी व्याख्या एवं परिभाषा विद्वानों, मानवशास्त्रियों ने कई दृष्टिकोण से दिया है ।

साहित्यिक अर्थ में संस्कृति शब्द का प्रयोग सामाजिक शिष्टता एवं बौद्धिक उत्कर्ष के लिये किया जाता है । इसी अर्थ में प्रसिद्ध कवि एवं समीक्षक मैथ्यू आरनोल्ड ने संस्कृति को माधुर्य एवं प्रकाश बताया है । दार्शनिक दृष्टिकोण से कासीर एवं सोरोकिन तथा मेकाइवर ने संस्कृति को मानव के नैतिक, आध्यात्मिक एवं बौद्धिक उपलब्धि के रूप में ग्रहण किया है ।

लेकिन संस्कृति की अच्छी परिभाषा 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में अंग्रेज मानवशास्त्री ई० बी० टेलर ने अपनी पुस्तक 'प्रीमीटिव कल्चर' में लिखा है- "संस्कृति वह जटिल इकाई है जिसके अन्तर्गत ज्ञान विश्वास, आस्था, कला, अचार-विचार, नीति-विधि, प्रथा, परम्परा और अन्य क्षमता तथा आदतें शामिल हैं, जिसे मनुष्य ने समाज का सदस्य होने के नाते ग्रहण किया है ।"[5]

अर्थात् समाज के सभी प्रमाणिक विचार, प्रवृतियाँ और आदतें उनकी संस्कृति में निहित रहती हैं । और उसका विकास समय-समय पर मनुष्य की आवश्यकताओं के अनुसार होता है ।

यों तो भारतीय संस्कृति को विविध सामाजिक और सांस्कृतिक तत्त्वों का संश्लेषण कहा जाता है । भारत की संस्कृति मूलतः 'लोक संस्कृति' है । लोक चेतना की अति समृद्ध परम्परा की भित्ति पर सांस्कृतिक दर्शक और व्यवहार विकसित हुआ है । और प्रकृति की किन्हीं अज्ञात मोड़ों पर सवार होकर संस्कृति बन गयी है क्योंकि प्रकृति का महत्तम सहज सहोदरा है । उसकी गतियाँ, लयें, ध्वनियाँ और इनका विकास तथा विनाश के नियम तक मनुष्य को प्रभावित करते हैं । लेकिन भारतीय संस्कृति ने आदिवासी संस्कृति को कभी भी उचित स्थान नहीं दिया । युगों से यह उपेक्षित होता रहा है । इसलिए विद्वान एल०पी० विद्यार्थी ने अपनी पुस्तक 'भारतीय आदिवासी' (उनकी संस्कृति और सामाजिक पृष्ठभूमि) में लिखा है कि "जनजातीय संस्कृति निश्चय ही भारतीय संस्कृति की आधारशिला है । भारतीय समाज के निर्माण में ग्रामीण एवं शहरी संस्कृति के अतिरिक्त आदिवासी संस्कृति का भरपूर योगदान रहा है । यदि यह कहा जाय कि आदिवासी संस्कृति पर ही भारतीय संस्कृति खड़ी है तो कोई आतिशयोक्ति नहीं होगी ।"[6] युगों-युगों से आदिवासी संस्कृति में बाहरी सम्पर्क और दबाव बढ़ने के कारण इसमें निरन्तर थोडा़ परिवर्तन होता रहा है । परन्तु आदिवासी संस्कृति की अपनी एक विशिष्टता है, इनकी अपनी जीवन शैली एवं जीवन पद्धति है जो उनके आचरण एवं व्यवहार में दिनोंदिन दिखाई पड़ता है । झारखण्डी आदिवासियों की सांस्कृतिक परम्परा अद्वितीय रही है । इसमें धर्म-कर्म, लिंग भेद का न होना और सामाजिक

समानता इनके मुख्य तत्त्व है। यह उनके साझा परम्पराओं और आदर्शों पर आधारित है। यही कारण है कि अलिखित होने के बावजूद भी यह प्राचीन (आरंभिक) काल से लेकर अब तक अपना अस्तित्त्व बचाये हुए है। भारतीय संस्कृति के उपादान साहित्य, कला और वास्तुकला की तरह यह संस्कृति स्पष्टतया परिलक्षित नहीं होता है बल्कि इनके संस्कृति की प्रतिच्छाया इनके व्यवहारिक जीवन में सहज रूप से दिखाई पड़ती है जो इनकी ही नजर से देखी एवं आँकी जा सकती है। आज के भौतिकतावादी तथाकथित विकसित समाज की नजर से आदिवासी संस्कृति का आकलन करना संभव नहीं है।

आदिवासी संस्कृति में वह सभी बातें सम्मिलित की जा सकती है जो एक मनुष्य को जन्म से लेकर मृत्यु तक भोगना पड़ता है। इसमें आचार-विचार, रीति-नीति, धर्म, भाषा, नृत्य, गीत-संगीत सभी परम्परायें एवं विश्वास आती हैं। इसके अन्तर्गत जाति समानता, लिंग समानता, सहभागिता, सहयोगिता एवं सामूहिकता मुख्य स्थान रखता है।

आदिवासी संस्कृति में मनुष्य का जीवन बिल्कुल सादा है। इनका दृष्टिकोण उपयोगितावादी है और विचारधारा "जियो और जीने दो" की है। उपयोगिता के साथ-साथ इनकी कार्य योजना सामूहिक सहयोगिता एवं अनुशासन पर टिका हुआ है। प्रकृति का नियम है कि वह जातीय मानसिक एवं स्वभाविक गठन को प्रभावित करता है। आदिवासी चेतना के अन्तरभाव में प्रकृति के नियम के अन्तर्गत संग्रह की अपेक्षा त्याग, प्रतिशोध की अपेक्षा दया आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इनकी जरूरतें बिल्कुल सामान्य व सीमित है। किसी भी वस्तु का एकत्रीकरण इनकी संस्कृति में नहीं पायी जाती है। ये प्रकृति के पुजारी हैं इनका धार्मिक स्थल कोई इमारत एवं भवन में न होकर खुला आकाश है। जहाँ कहीं भी ये अपनी उपासना, आराधना कर सकते हैं। इनके धर्म के संस्थापक स्वयं 'धर्मेस' हैं जो अदृश्य हैं।

आदिवासी संस्कृति और प्रकृति में एक गहरा आत्मीय रिश्ता है तभी तो प्रकृति प्रदत्त वृक्ष को आदिवासियों ने अपने जीवन से जोड़ लिया। लेकिन सभ्य कहे जानेवाले विकसित संस्कृति से प्रकृति का सम्बन्ध संघर्ष मूलक है। इसलिए वहाँ प्रकृति का दोहन, उच्छेदन, विनाश या अब रक्षण का विचार महज भौतिक उपयोगितावादी स्तरों का रहा है। वर्तमान युग में प्रकृति से इनका सम्बन्ध सिर्फ बाहरी वैज्ञानिक विकास, औद्योगिक और वाणिज्यिक ही रहा है।

सैन्धव या हड़प्पा संस्कृति को भारतीय संस्कृति का उषाकाल माना जाता है लेकिन इससे पहले भी यहाँ आदिवासी संस्कृति थी । जिसे भारतीय इतिहासकारों ने हमेशा नजर अंदाज किया है । तभी तो डॉ० रामदयाल मुण्डा ने अपनी लेख 'भारतीय संस्कृति को आदिवासियों की देन' में लिखा है- "किसी विजयी जाति ने जब भी इतिहास लिखने की कोशिश की है, उसने विजित जाति के प्रति अपना रोब जमाने की कोशिश भी की है । भारतीय आदिवासी जातियों के इतिहास के सम्बन्ध में भी यह बात बहुत अंशों में लागू की जा सकती है ।"[7] हिन्दू संस्कृति में पेड़ों की पूजा करना आदिवासी संस्कृति से ली गयी है । बाद में अन्य संस्कृतियों ने अपनी कल्पनाओं द्वारा अन्य देवी-देवताओं का निर्माण किया । इस सम्बन्ध में श्री शान्ति प्रबल प्रकाश बखला ने अपनी पुस्तक में लिखा है- "आर्यों ने भारतवर्ष में आकर यहाँ के अनार्यों (आदिवासियों) की सभ्यता, संस्कृति आदि को रौंदकर चौपट करना चाहा तथा कुछ अंशों में इन्हें चौपट कर ही डाला और उसके बदले में अपनी सभ्यता और संस्कृति को अनार्य्य सभ्यता संस्कृति के समिश्रण से एक नयी सभ्यता तथा संस्कृति कायम की ।"[8]

सभी संस्कृतियों के परम्पराओं का आदान-प्रदान हमेशा किसी सीमा तक हो रहा है और वे एक दूसरे को प्रभावित करती रही । लेकिन आदिवासी संस्कृति अन्य संस्कृति को प्रभावित करने के बजाय स्वयं अधिक प्रभावित हुई है । आदिवासी संस्कृति की अपनी विशिष्टतायें हैं जिनकी आज पूरी दुनिया को सख़्त जरूरत है । इसके बावजूद यह पिछड़ी संस्कृति के रूप में जानी जाती है ।

आज स्वयं यह आदिवासियों द्वारा उपेक्षित है । भारतीय तथाकथित विकसित संस्कृति इसे अपने में समेटने को व्याकुल है । तभी तो सभी अच्छाइयाँ होने के बावजूद इसे पिछड़ी संस्कृति के रूप में जाना जाता है । भारतीय (हिन्दू, ईसाई, सिख, मुस्लिम) संस्कृति ने इसके लिए प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष प्रत्येक तरह का हथकंडा अपनाया, आज वे कुछ हद तक सफल भी हुए हैं । फलस्वरूप आज आदिवासियों का अस्तित्त्व खतरे में हैं । वर्तमान में उराँव तथा अन्य आदिवासी जातियाँ अपनी पुरानी संस्कृति से बहुत दूर होती जा रही है । उनमें कई बातें बाहर से आ गयी हैं । सांस्कृतिक प्रगति के लिए निम्न संस्कृतियों का सम्मिश्रण और जातियों के विचारों का आदान-प्रदान आवश्यक है । लेकिन आदिवासियों के बीच संस्कृति विकास क्रम का रफ्तार तेजी से बढ़ा है । सांस्कृतिक विकास के अंधाधुंध दौड़ में इनके बीच कई समस्यायें उत्पन्न हुई हैं । जिनमें व्यक्ति एवं विश्वास से जुड़ी समस्यायें मुख्य हैं । ऊपर बताये गये कुछ विद्वानों के अध्ययन पद्धति के द्वारा कुछ

हद तक उराँव संस्कृति को समझा जा सकता है । लेकिन पूर्णरूप से उराँव संस्कृति को समझने के लिए संस्कृति के उपादान तथा तत्त्वों को समझना आवश्यक होगा ।

संस्कृति की कई विशेषतायें हैं, जो निम्नलिखित हैं –

(1) संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है– विद्वानों ने संस्कृति के इस गुण को सबसे अधिक महत्त्व दिया है । लुण्डवर्ग का कथन है कि संस्कृति व्यक्ति की जन्मजात प्रवृतियाँ अथवा जैविकीय विरासत से सम्बन्धित नहीं होती है बल्कि यह सामाजिक सीख के अनुभवों पर आधारित होती है । विद्वान लुण्डवर्ग ने संस्कृति का सम्बन्ध तीन तत्त्वों से बताया है ।

(a) क्रिया व्यवस्था– इसके अन्तर्गत प्रथा, जन रीतियाँ तथा कार्य पद्धतियाँ आदि आती हैं ।

(b) आदर्शात्मक व्यवस्था– इसके अन्तर्गत क्रिया के प्रकार और अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का निर्धारण होता है ।

(c) प्रतीकात्मक और भौतिक तत्त्वों की व्यवस्था– इसके अन्तर्गत आदर्श व्यवहारों का प्रतीकात्मक चिह्न आता है । जैसे– प्रणाम करना, सम्मान करना, स्नेह एवं प्रेम प्रकट करना आदि ।

इन सभी बातों को मनुष्य एक दूसरे से सीखता है । इस प्रकार समाज में धीरे-धीरे प्रत्येक अनुभव व प्रत्येक अविष्कार संस्कृति का अंग बन जाता है । हमें यह सदैव याद रखना चाहिए कि हमारे सभी सीखे हुए व्यवहार संस्कृति नहीं होते । हम केवल उन्हीं व्यवहारों को संस्कृति का अंग मानते हैं जो बड़े समूह या समाज की विशेषता हो । किसी मनुष्य का व्यक्तिगत व्यवहार संस्कृति का निर्माण नहीं करता है । यह गुण वंशानुगत भी नहीं होता बल्कि इसे मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा समाज में रह कर ग्रहण करता है ।

(2) संस्कृति में संचालन का गुण होता है– प्रत्येक संस्कृति में संचालन का गुण होता है । तभी तो मनुष्य द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य किसी आदर्श के तहत किया जाता है अतः किसी के दबाव के बगैर प्रत्येक मनुष्य द्वारा यह स्वयं संचालित होता है ।

(3) आदर्श गुण– संस्कृति मनुष्य के सामने एक आदर्श प्रस्तुत करती है । ये आदर्श समाज की वास्तविकता पर निर्भर रहते हैं । संस्कृति उन कार्यों को मूल्य प्रदान करती है एवं उस कार्य की समाज में, परिवार में महत्ता बतलाती है । तभी

मनुष्य उस आदर्श व्यवहार को अपनाता है । इन व्यवहारों में समूह के आदर्श नियम होते हैं जिससे उस नियम को सभी स्वेच्छा से करते हैं । प्रत्येक समूह/समाज अपनी संस्कृति को आदर्श मानता है क्योंकि यह सामूहिक आदतों और व्यवहारों पर आधारित हैं । इसलिए इसके अनुसार कार्य करना श्रेष्ठ समझा जाता है ।

(4) आवश्यकता पूर्ति करने का गुण- संस्कृति में मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं को पूर्ति करने का गुण होता है । प्रत्येक संस्कृति का महत्त्व इस गुण पर निर्भर करता है कि वह सामाजिक और जैविकीय आवश्यकताओं की पूर्ति किसी सीमा तक करता है । प्रत्येक मनुष्य की कुछ प्राणीशास्त्रीय एवं सामाजिक आवश्यकताएँ होती है-

(a) प्राणीशास्त्रीय आवश्यकता- इसके अन्तर्गत भूख, प्यास, वस्त्र एवं यौन इच्छा प्रमुख है ।

(b) मनोवैज्ञानिक आवश्यकता- इसके अन्तर्गत प्रेम, गुस्सा, सुख-दुख सद्भावना, आत्ममहत्ता तथा अभिव्यक्ति आते हैं ।

(c) सामाजिक आवश्यकता- इसके अन्तर्गत प्रत्येक क्षेत्र में जैसे- नैतिक, धार्मिक, पारिवारिक एवं सामाजिक आदि क्षेत्र आते हैं ।

संस्कृति मनुष्य की इन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है ।

(5) संस्कृति सामाजिक है- संस्कृति का निर्माण समाज में रहकर समाज के सदस्यों द्वारा किया जाता है इसलिए यह कहा जा सकता है संस्कृति समाज की देन है ।

(6) संस्कृति अधिवैयाक्तिक तथा अधिसावयवी है- संस्कृति व्यक्ति के शक्ति से ऊपर होती है क्योंकि वह किसी व्यक्ति के व्यवहार का परिणाम न होकर सामाजिक व्यवहार का फल है । व्यक्तिगत व्यवहार व्यक्ति के मृत्यु के पश्चात् समाप्त हो जाती है लेकिन सामूहिक व्यवहार पीढ़ी दर-पीढ़ी हस्तान्तितरत होता रहता है । व्यक्ति चाहे या न चाहे संस्कृति व्यक्ति के आचार-विचार, वेश-भूषा और व्यक्तित्त्व को अवश्य प्रभावित करती है । इसी आधार पर संस्कृति को अधिवैयक्तिक (व्यक्ति के ऊपर) कहा जाता है । विद्वान लिप्पर्ट का विचार है कि संस्कृति व्यक्ति के ऊपर होने के साथ ही अधिसावयवी भी है । यहाँ सावयवी का अर्थ उन जैविकीय विशेषताओं से है जिनकी सहायता से व्यक्ति सामाजिक मानव बन सका । जैसे- सीधा खड़ा हो सकने की क्षमता, तीक्ष्ण व केन्द्रित की जा सकनेवाली दृष्टि, सफलतापूर्वक घुमाये जा सकनेवाले हाथ, मेधावी मस्तिष्क

आदि। ये सभी विशेषतायें सावयवी हैं। लेकिन इनकी सहायता से जिस संस्कृति का निर्माण हुआ वह इनसे भी बढ़कर है अर्थात् संस्कृति के अभाव में मनुष्य की इस जीव रचना का महत्त्व नहीं है। संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों की सहायता से ही मनुष्य का सावयव (organism) एक सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित हो पाता है। इस दृष्टिकोण से संस्कृति मानव की एक जीव रचना से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(7) संस्कृति संगठित है- यह भी संस्कृति की विशेषता कही जा सकती है। क्योंकि संस्कृति के अन्तर्गत किसी समाज की कार्य विधियाँ, कल्पना, विचार एवं अन्य कई संस्कृति तत्त्व समूह का संगठित रूप होता है। मनुष्य के किसी एक क्रिया-कलाप से संस्कृति का निर्माण नहीं हो सकता है। जिस तरह एक साइकिल के निर्माण में एक कील असहाय है जब तक अन्य वस्तुओं का सहयोग न लिया जाय। इसी तरह किसी भी धर्म या संस्कृति की संरचना में कई तत्त्वों का सम्मिश्रण होता है तभी इसकी सम्पूर्णता होती है। जैसे- शरीर का छोटा से छोटा अंग भी किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति करता है। उसी तरह संस्कृति का कोई भी अंग बेकार नहीं होता। संस्कृति की इसी विशेषता को मैलिनोवस्की ने संस्कृति का कार्यात्मक पक्ष कहा है।

(8) संस्कृति गतिशील होती है- संस्कृति की प्रकृति स्वयं में गतिशील एवं परिवर्तनशील होती है। इसमें निरन्तर, निर्बाध रूप से परिवर्तन चलता रहता है। लेकिन इस परिवर्तन की गति इतनी धीमी होती है कि किसी को इसका पता ही नहीं चलता है। यह परिवर्तन व्यक्ति, व्यक्ति के कार्यों में सहायक होती है।

(9) संस्कृति में हस्तान्तरित होने का गुण है- संस्कृति में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होने का गुण है। मनुष्य भाषा और अनेक प्रतीकों की सहायता से इनका आगामी पीढ़ी के लिए संचरण करता है। प्रत्येक पीढ़ी के अनुभव बढ़ते रहने के कारण संस्कृति भी समय-समय पर परिष्कृत होती रहती है।

(10) संस्कृति मानव की उपज है- संस्कृति का निर्माण मनुष्य के द्वारा हुआ है। यह उसकी सामाजिक अन्तः क्रिया का परिणाम है। इसलिए विद्वान हॉबेल कहते हैं- "संस्कृति मानव मस्तिष्क में उत्पन्न हुई है।" संस्कृति का प्रत्येक तत्त्व अविष्कार का परिणाम है। मनुष्य में संस्कृति का निर्माण करने तथा उसे ग्रहण करने की योग्यता होती है जो पशुओं में नहीं होती है। इसलिए कॉमटे ने मनुष्य को अतिप्राणी (Super organic) कहा है।

(11) प्रत्येक समाज की संस्कृति पृथक होती है- संस्कृति का निर्माण भौगोलिक आधार पर होता है । प्रत्येक क्षेत्र की भौगोलिक दशा भिन्न-भिन्न होने के कारण संस्कृति भी भिन्न होती है । इस तरह की भिन्नता प्रत्येक समाज में पायी जाती है । सैद्धांतिक रूप से सभी मानव समाज में व्यक्तियों की शारीरिक, मानसिक और मूलप्रवृत्यात्मक (Instinctive) आवश्यकतायें समान होती है । लेकिन उनकी मनोवृतियाँ सामाजिक मूल्य तथा परम्परा में भिन्नता होने के कारण उनकी संस्कृति का रूप एक दूसरे से भिन्न हो जाता है ।

(12) संस्कृति में अनुकूलन का गुण है- प्रत्येक स्थान की सांस्कृतिक विशेषताएँ क्षेत्र वशेष की भौगोलिक और सामाजिक पर्यावरण के अनुकूल होती है । जैसे:- ठंडा प्रदेश, गर्म प्रदेश, वस्त्र, खान-पान इत्यादि ।

उराँव संस्कृति और उसकी विशेषताएँ

कई प्रजातियों एवं जातियों में विभक्त मनुष्य की सभ्यता, संस्कृति एवं कला में भी विभिन्नता आयी । सभी समाज का अपना-अपना सांस्कृतिक विकास एवं आदान-प्रदान होता गया । उराँव समाज भी इससे प्रभावित हुआ । इसकी अपनी संस्कृति है जिसकी कई विशेषताएँ हैं जो संक्षेप में इस प्रकार है ।

(1) सामाजिक समानता (2) स्त्री-पुरुष समानता (3) सहभागिता एवं भाईचारा का भाव (4) वधू मूल्य चुकाना (5) पर्दा प्रथा का न होना (6) बाल-विवाह का न होना (7) विवाह सम्बन्धों में लचीलापन (8) पुनर्विवाह (9) विधवा विवाह एवं (10) सरल स्वभाव । (11) सादगी, सादा जीवन ।

(1) सामाजिक समानता – सामान्यत: संस्कृति सीखे हुए व्यवहार को कहते हैं । लेकिन व्यक्तिगत व्यवहार संस्कृति का रूप नहीं होता । सामाजिक व्यवहार ही संस्कृति कहलाती है । उराँव सामाजिक व्यवहार में क्रिया व्यवस्था, आदेशात्मक व्यवस्था एवं प्रतीकात्मक और भौतिक तत्त्वों की व्यवस्था आती है । उराँव समाज की परम्परा, रीति के अनुसार उनके पर्व-त्योहार, विवाह, मृत्यु, जन्म आदि के संस्कार पारम्परिक होते हैं अर्थात् पीढ़ी दर पीढ़ी सीखा हुआ व्यवहार होता है । इसके अलावा उराँव समाज में ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं है । उराँव समाज के अन्तर्गत जितने भी गोत्र हैं सभी का सामाजिक दर्जा बराबर होता है । किसी गोत्र को उच्च और निम्न स्तर में बाँटा नहीं गया है । इस सम्बन्ध में दमयन्ती सिंकु

के अनुसार – "हो" समाज में एक ही समुदाय नायकी तथा पोरजा दो वर्गों में बँटे हैं। जो क्रमश: धनी वर्ग उच्च वर्ग एवं गरीब व निम्न वर्ग है। इनके बीच काफी भेद भाव है। इनके बीच आपस में विवाह सम्बन्ध खान-पान आदि वर्जित है जबकि सभी एक ही जाति के हैं।"[१] उराँव में इस तरह का बँटवारा नहीं पाया जाता है। सभी गोत्र बराबर होते हैं। उराँव संस्कृति के अनुसार एक गोत्र में विवाह वर्जित है। अपनी जाति के अन्दर दो भिन्न गोत्रों मे विवाह होता है।

(2) स्त्री-पुरुष समानता – उराँव समाज में स्त्री पुरुष समानता पायी जाती है। इसकी सीख समाज में सांस्कृतिक क्रिया कलाप द्वारा हस्तान्तरित की जाती है। इसके अलावा अपनी मर्जी से वह कुछ नहीं कर सकता है। जैसे:- उराँव विवाह में 'सीलहट' एवं जुवांठ' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'जुवांठ' के ऊपर 'सीलहट' रखा जाता है। कन्या के पीछे वर खड़ा रहता है एवं 'सीलहट' के ऊपर पैर रखने के पश्चात वर कन्या के मांग में सिन्दूर डालता है। इस क्रिया में साधारण सा 'सीलहट' एवं जुवांठ का अनुष्ठान क्रिया बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं अर्थमूलक होता है। उराँव इन वस्तुओं को अपने सामाजिक जीवन की आधारशिला मानते हैं इसलिए दाम्पत्य जीवन के प्रवेश द्वार के रूप में विवाह के समय इसे प्रयोग में लाया जाता है। इसलिए पहला संस्कार के रूप में वर वधू से यह क्रिया (संस्कार) सम्पन्न कराया जाता है। कन्या को वर के आगे रखने का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उराँव समाज में महिलाओं का स्थान बराबरी का होता है पत्नी को पति के सम्पत्ति में बराबर का हिस्सेदार माना जाता है। घर के क्रिया-कलापों एवं संस्कारों में महिला को प्राथमिकता दी जाती है इसलिए अस्थि विसर्जन की सभी क्रिया-कलापों में बड़े बेटे के साथ बड़ी बहू का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। कुछ कार्य सिर्फ बहू द्वारा सम्पन्न किया जाता है। इससे उसके अधिकारों एवं कर्तव्यों का निर्धारण होता है एवं उराँव समाज में स्त्री-पुरुष की समानता को देखा एवं अनुभव किया जा सकता है।

(3) सहभागिता एवं भाईचारा का भाव – उराँव संस्कृति की दूसरी विशेषता है – आपसी एवं भाईचारे का भाव। इनके बीच सभी बड़े कामों के लिए सहभागिता की संरचना की गयी है। इसे वे अपनी भाषा कुड़ुख़ में 'पंचा' कहते हैं। किसी भी परिवार में अधिक काम जैसे- खेतों में खाद डालना, धान रोपना, लकड़ी ढोना, काटना, फाड़ना (विवाह में) छप्पर छारना इत्यादि काम हो तो 'पंचा' के तहत कार्य लिया जाता है। इसके माध्यम से कार्य जल्दी सम्पन्न हो जाता है एवं मजदूर ढूँढ़ने का झंझट नहीं होता। इसके अन्तर्गत एक और पद्धति है जिसे

'मदइत' कहा जाता है । इस प्रथा का उपयोग प्रायः धान रोपनी, खाद ढोने और छप्पर छारने के समय किया जाता है । इन पद्धतियों में गाँव के लड़के, लड़कियाँ, स्त्री-पुरुष एवं बच्चे शामिल होते हैं । काम की समाप्ति पर 'पंचा नलख' में एक निश्चित रकम 'पंचा' संस्था को दिया जाता है । इस रकम को वे गाँव के लिए सामाजिक कार्यों में खर्च करते हैं । 'मदइत' पद्धति में सभी कामगारों को घर में बुलाया जाता है फिर इज्जत से उन्हें थोड़ी मात्रा में सरसों या करंज का तेल, नाम के लिए कुछ पैसे दिये जाते हैं एवं मान-सम्मान के साथ सभी को भोजन कराया जाता है । इस 'मदइत' समारोह में हंड़िया का भी प्रयोग किया जाता है । इस पद्धति से उराँव समाज को आर्थिक लाभ के साथ-साथ समय की बचत होती है एवं गाँव के लोगों में भाईचारे का भाव बना रहता है । गाँव में सभी परिवार का काम आसानी से कम खर्च में, जल्दी निपट जाय ये भावना सभी के मन में होती है । मृत्यु और विवाह सम्बन्धी कार्यों में उराँव लोगों की सहभागिता सराहनीय है ।

(4) वधू-मूल्य चुकाना - उराँव संस्कृति में 'वधू-मूल्य' का प्रचलन है । उराँव संस्कृति में वर पक्ष द्वारा वधू की खोज होती है । वर पक्ष वधू पक्ष को कुछ रकम देते हैं जो 'वधू-मूल्य' कहलाता है । यह रकम नाम मात्र का होता है । वर्तमान में यह रकम 7=25 पैसा अर्थात् (सवा सात रुपये) है । कहीं-कहीं 1= 25 पैसा अर्थात् (सवा रुपये) है । 'वधू-मूल्य' समाज द्वारा तय होता है । उराँव समाज में 'मयसारी,' 'आजीलेदरा' और 'साराधोती'का प्रचलन मुख्य रूप से है । ये कपड़े कितनी मात्रा (संख्या) में लेना है इसका निर्धारण मेहमानी समारोह में उपस्थित ग्रामीण पंचों द्वारा तय किया जाता है। 'वधू-मूल्य' का वापस होना सामाजिक अपमान समझा जाता है ।

(5) पर्दा प्रथा का न होना - इस संस्कृति में बहुत अधिक पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं है । सामान्यतः जरूरत के अनुसार सलीके से कपड़ा पहनना उचित समझा जाता है । जेठ जी के सम्मान स्वरूप छोटे भाई की पत्नी उनके नजदीक नहीं आ सकती। उन्हें स्पर्श नहीं कर सकती तथा उनके सामने खुले बालों में नहीं रह सकती। उराँव संस्कृति में सामान्य रूप से इन्हीं प्रथाओं को माना जाता है।

(6) बाल विवाह का न होना - इस समाज में बाल विवाह का प्रथा नहीं पाया जाता । उराँव समाज में 'धुमकुड़िया' नामक संस्था में सभी बच्चों को दाखिला लिया जाता है । लड़कों को 'जोंख एड़पा' और लड़कियों को 'पेल्लो एड़पा' में भावी जीवन से सम्बन्धित सभी कार्यों में दक्ष किया जाता है । एक निश्चित उम्र

में यहाँ प्रवेश लिया जाता है एवं एक निश्चित उम्र होने पर वहाँ से उन्हें छुट्टी दी जाती है । इसके पश्चात ही लड़का या लड़की विवाह योग्य समझे जाते हैं । अत: उराँव संस्कृति में बाल विवाह नहीं है ।

(7) विवाह सम्बन्धों में लचीलापन - उराँव समाज में विवाह सम्बन्धों में लचीलापन पाया जाता है । यदि किसी कारणवर्ष वर एवं कन्या में अनबन हो जाय, स्थिति साथ रहने लायक न हो तो दोनों तरफ के सदस्यों, पंचों द्वारा विवाह विच्छेद करा दिया जाता है । पंचों द्वारा ठहराये गये दोषी पक्ष को हर्जाना देना पड़ता है । हर्जाने के रूप में लड़की की गलती पर लड़की पक्ष वाले 'वधू मूल्य' वापस करते हैं । लड़के की गलती पर एक जोड़ा बैल लड़की पक्ष को दे दिया जाता है । यदि लड़की दूसरा विवाह न रचाना चाहे तो उसके पति के जमीन से कुछ हिस्सा उसे दे दिया जाता है ।

(8) पुनर्विवाह एवं विधवा विवाह - उराँव संस्कृति में पुनर्विवाह एवं विधवा विवाह का प्रचलन है । किसी कारण विवाह विच्छेद हो या लड़की विधवा हो जाय तो वह दोबारा विवाह कर सकती है । इस विवाह को समाज द्वारा मान्यता प्राप्त है ।

(9) सरल स्वभाव उराँव समाज के व्यक्तियों की विशेषता है । इनका स्वभाव बहुत ही नरम होता है । ये स्वभाव से इतने सरल होते हैं कि अपने सभी उत्सव या पर्व-त्यौहारों में दिकुओं को आसानी से सम्मिलित करते हैं । इनकी सरलता के कारण ही इस समाज में प्रवर्जन एवं विस्थापन आज तक होता रहा है । प्रवर्जन एवं विस्थापन के बाद इन्हें सभी तरह की कठिनाइयों और आपत्तियों का सामना करना पड़ता है । इस दंश को झेलते हुए इनका अस्तित्त्व समाप्त हो जाता है फिर भी सबके दुख-दर्द को समझते हुए दिकुओं को ये अपने में समेटते जाते हैं एवं रहने के लिए स्थान देते हैं । आज उराँव लोगों की दुर्गति इसी कारण से हुई । अब इनके बीच चेतना आ गई है । अब ये कहते हैं "दोना दे तो दे लेकिन कोना न दे ।" इस छोटी सी कहावत का अर्थ है - अपनी दोस्ती को खाने-पीने तक ही सीमित रखें । दोस्ती के नाम पर रहने के लिए स्थान न दें (जमीन सम्बन्धी) । बाहर से आये अन्य जाति के लोग जिनको मुण्डारी में 'दिकु' और कुड़ुख़ में 'खटवा' कहते हैं । ये बहुत ही धूर्त, स्वार्थी एवं लालची किस्म के आदमी होते हैं । एक बार उनको घुसने की जगह (कोना) मिली तो फिर वे जाते ही नहीं और फिर मालिक को ही लात मारकर निकाल बाहर कर देते हैं । आज यहाँ झारखण्ड के उराँव और अन्य आदिवासियों की यही हालत है ।

एक ओर वे जल्दी ही किसी को स्वीकार कर लेते हैं कारण जो भी रहा हो- मजबूरी, लालच या फिर ठग-फुसलाकर । दूसरी ओर इनके (उराँव या अन्य आदिवासियों के) लिए यदि कोई थोड़ा भी उपकार कर दिया तो ये उनके लिए बहुत अधिक कृतज्ञ एवं एहसानमंद हो जाते हैं । ये भोले-भाले उराँव आजीवन उनके ऋणी हो जाते हैं । इनकी भाषा कुड़ुख़ में कृतज्ञता प्रकट करने के लिए धन्यवाद और शुक्रिया जैसी कोई शब्दावली नहीं है लेकिन फिर भी अपनी मधुरवाणी, नजरें एवं चेहरे के हाव-भाव से वे इसे प्रकट करते हैं जो धन्यवाद और शुक्रिया में नहीं झलकता । इस भाव को एक आदिवासी ही महसूस कर सकता है दूसरे नहीं । 'दिकू' एवं 'खटवा' को तो चाहिए बहुत-बहुत धन्यवाद या फिर Tkank you very much 'लिख लोढ़ा पढ़ पत्थर' भी इन दो वाक्यों को रटना जानता है । इनकी इसी भोलेपन का लाभ उठाकर अन्य जाति के बाहरी लोग आदिवासी लड़कियों से विवाह रचाकर जमीन पत्नी के नाम से खरीदते हैं फिर यहीं स्थायी रूप से जमने के बाद आदिवासी पत्नी को मार डालते हैं या फिर घर से निकाल देते हैं । बेचारे गरीबी, भोलापन और अज्ञानता की स्थिति में कुछ भी करने में असमर्थ होते हैं और दर-दर की ठोकरें खाते जीवन समाप्त कर लेते हैं ।

इस तरह यह देखा जाता है कि सामान्यत: संस्कृति की विशेषताओं के अलावा इतनी सारी अन्य विशेषताएँ उराँव संस्कृति में निहित है ।

सांस्कृतिक अवधारणा

सभी संस्कृति का सम्बन्ध मनुष्यों से है । मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । वह समाज में रहता है एवं संस्कृति का निर्माण करता है । मानव जाति की प्राचीन तथा प्रागैतिहासिक संस्कृतियों के विषय में हमें विस्तृत ज्ञान नहीं है, क्योंकि उस समय का कोई लिखित इतिहास हमारे पास उपलब्ध नहीं है । संस्कृति शब्द का व्यवहार भिन्न-भिन्न अर्थों में होता है । सामान्य बोल चाल में हम संस्कृति शब्द का व्यवहार अच्छे आचरण, अच्छी रुचियों आदि के लिए करते हैं । ऐसे व्यक्ति को जिसका रहन सहन, चाल व्यवहार, बातचीत अच्छे ढंग का होता है, हम उसे सुसंस्कृत व्यक्ति कहते हैं । यह संस्कृति की उच्च परिभाषा नहीं है । संस्कृति एवं सिद्धान्त राष्ट्र की प्राण वायु है तथा राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकता है । यह मानव जीवन के आदर्शों एवं सिद्धान्तों को प्रकाशमान करता है । राष्ट्र की शारीरिक, मानसिक और अभिव्यक्ति शक्तियों का विकास करना जिसका मुख्य उद्देश्य है ।

संस्कृति मानवीय जीवन के हर क्षेत्र को अपने अन्तर्गत रखती है, चाहे उसका सम्बन्ध कल-कारखाने से हो या धर्म और विश्वास से । यह मनुष्य के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक कार्यों में समान रूप से सम्बन्ध रखती है । सबसे पहले संस्कृति की अच्छी परिभाषा 9वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अंग्रेज मानवशास्त्री ई० बी० टाईलर ने अपनी पुस्तक 'प्रीमिटीभ कल्चर' के पहले अनुच्छेद में लिखा है "संस्कृति वह जटिल इकाई है जिसके अन्तर्गत ज्ञान विश्वास आस्था, कला, आचार, नीति, विधि, प्रथा और अन्य क्षमताएँ और आदतें शामिल हैं जो मनुष्य ने समाज के एक सदस्य होने के नाते अर्जित की है । अर्थात् समाज के सभी प्रमाणिक विचार प्रवृतियों और आदतें उसकी संस्कृति में निहित रहती है और उनका विकास समय-समय पर मनुष्य की आवश्यकताओं के अनुसार होता है । टेलर द्वारा दी गयी परिभाषा को लगभग 50 वर्षों तक मानव विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में प्रयोग किया जाता रहा, लेकिन बाद में इनके परिभाषा की विषय वस्तु के प्रकृति पर विभिन्न विद्वानों द्वारा आलोचना की गई है ।

विद्वानों का कहना है कि टाइलर ने अपनी परिभाषा में संस्कृति के एक महत्त्वपूर्ण अंग पर विशेष ध्यान नहीं दिया, जिसके कारण यह परिभाषा पूर्ण रूप से संस्कृति के क्षेत्र और इसकी विशेषताओं को उचित रूप से प्रकट नहीं करती है । मानवशास्त्री ए०एल० क्रोवर और कलाइडी क्लूखोन ने अपने पुस्तक 'इन कल्चर-ए क्रिटिकल रिभ्यू ऑफ कनसेप्ट एण्ड डिफिनेसन' 1952 में संस्कृति के 164 परिभाषों का उदाहरण दिया है जिसके अन्तर्गत' सभ्य व्यवहार से लेकर मानसिक शक्ति, तर्क शक्ति, आंकड़ों का संग्रह तथा मेधावी शक्ति की रक्षा आदि है ।

क्रोवर और क्लूखोन तथा आधुनिक बड़े मानव-वैज्ञानिकों के अनुसार "संस्कृति एक अव्यवहारिक वस्तु है ।" इसे ज्यादा स्पष्ट करने के लिए ऐसा कह सकते हैं कि संस्कृति व्यवहारिक से ही अव्यवहारिक हुई है । परम्परा का जीवित रहना समाज के लोगों पर निर्भर करता है जो अनुवांशिकी के द्वारा हस्तान्तरित होती है । यह निश्चय ही पशु के लिए स्थापित किया गया था । मानसिक शक्ति केवल समाज में भाषा की अभिव्यक्ति, कोई क्रिया या विशेष उद्देश्य के लिए महत्त्वपूर्ण होती है । तर्क शक्ति अथवा आंकड़ा का संकलन निश्चित वस्तु नहीं है । इसके उदाहरण के रूप में भाषा और बोली को देख सकते हैं । कर्त्ता शब्द का अर्थ अपने ध्वनि में जन्मजात नहीं है, यह मनुष्य के द्वारा उच्चरित ध्वनि को स्वतंत्र और मनमाने ढंग से नियमन करता है । क्रोवर और क्लूखोन ने अपने निष्कर्ष में कहा

है कि "संस्कृति ठोस वस्तु के व्यवहार से अव्यवहारिक है, लेकिन यह अपने आप में व्यवहारिक नहीं है । इनके द्वारा दिये गये परिभाषा के बारे में यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या विवाह संस्कार अव्यवहारिक है । यह प्रश्न जटिल है और उनके परिभाषा में प्रश्न का उत्तर स्पष्ट नहीं है ।

इस तरह की समस्या को देखते हुए 1959 में लेसली ए० व्हाइट ने अपने निबन्ध 'दी कॉनसेप्ट ऑफ कल्चर' में लिखा है कि यह वास्तविक नहीं है । संस्कृति का वास्तविक या अवास्तविक होना वैज्ञानिकता के संदर्भ में है । जब कोई घटना या वस्तु को लेकर मानव अपने सम्बन्ध के संदर्भ में सोचता है तब वे 'व्यवहार' की संरचना बनाता है । जब मनुष्य अपने सम्बन्ध के संदर्भ में नहीं सोचता है लेकिन उसका सम्बन्ध एक दूसरे से होता है तब वे 'संस्कृति' की संरचना बनाता है । सास के रिश्ते का काम और उनके बर्ताव की संरचना बहुत जटिल है । जब कोई उनको मानव के साथ अपने सम्बन्ध पर विचार कराता है तो कुछ तत्त्व काम करते हैं वह परिभाषा के अनुरूप 'व्यवहार' है । नव-विवाहित जोड़ी के निवास स्थान में सास के रिश्ते के सम्बन्ध में सोचें तो वहाँ दो लिंग के बीच पारस्परिक श्रम का विभाजन होता है, सामाजिक व्यवस्था की रक्षा में उनके विषय का कार्य समाज की तकनीकी में बदल जाता है । यहाँ फिर सास के रिश्ते संस्कृति की परिभाषा बन जाती है । मानव के सम्बन्ध में जब उनके शब्द को देखेंगें तो वे एक क्रिया है - वे 'व्यवहार' करते हैं । जब मानव एक दूसरे के सम्बन्ध के उपर सोचेंगे तब शब्द कोश, व्याकरण तथा वाक्य आदि भाषा बन जाता है । इसलिए संस्कृति घटना, वस्तु, वर्ग, प्रतीक चिह्न के उपर निर्भर करती है ।

संस्कृति के उपादान

संस्कृति तत्त्व - उराँव समाज में सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था में असंख्य संस्कृति तत्त्व पाये जाते हैं । ये संस्कृति तत्त्व गाँवों, प्रदेशों में बिखरे पड़े हैं । लेकिन इन्हें बिखरे न कहकर फूलों का एक गुलदस्ता कहना अधिक अच्छा होगा । क्योंकि जहाँ भी उराँव होगा वहाँ उसकी संस्कृति होगी । संस्कृति कई तत्त्वों से मिलकर बनती है । कोई भी तत्त्व एक दूसरे से अलग रहने तक एक अलग वस्तु/तत्त्व के रूप में जानी जाती है । लेकिन किसी कार्य में प्रयोग में लाने के बाद वह संस्कृति का एक तत्त्व बन जाती है । संस्कृति के निर्माण में कोई भी तत्त्व एक दूसरे से अलग अपना अस्तित्त्व नहीं बना सकता है । मानवशास्त्री डॉ० दूबे के अनुसार- "सांस्कृतिक

तत्त्वों को हम संस्कृति के गठन का सरलत्तम व्यवहारिक इकाई मान सकते हैं ।" विद्वान विस्लर ने अपनी पुस्तक 'मानव तथा संस्कृति' में संस्कृति तत्त्व तथा संस्कृति तत्त्व समूह का वर्णन किया है । उनके अनुसार "संस्कृति तत्त्व सबसे सरल भौतिक या क्रियात्मक प्रतिमान है जिसे हम जानते हैं तथा यह तत्त्व ही वह ईंट है जिससे समाज की सम्पूर्ण संस्कृति बनी है ।" क्लार्क विस्लर ने संस्कृति के निम्नलिखित तत्त्व बताये हैं - (1) भाषा (2) भौतिक गुण- भोजन, वस्त्र, बर्तन, आने-जाने के साधन, हथियार इत्यादि (3) धार्मिक संस्कार (4) परिवार और समाज सम्बन्धी व्यवस्था (5) सम्पत्ति (6) युद्ध (7) कला आदि । इनकी परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृति तत्त्व किसी भी संस्कृति की एक सरल इकाई है जो भौतिक तथा अभौतिक दोनों हो सकते हैं । जैसे-भौतिक सांस्कृतिक तत्त्व के उदाहरण हैं- कोई भी ठोस वस्तु, कलम, पेन्सिल, बर्तन आदि । अभौतिक सांस्कृतिक तत्त्व के उदाहरण हैं - हाथ जोड़कर प्रणाम करना, पैर छूकर प्रणाम करना, मेहमानों को लोटा में पानी देकर स्वागत करना आदि । उराँव समाज में इसी तरह की छोटी-छोटी इकाइयों से मिलकर संस्कृति की रचना हुई है अत: उराँव संस्कृति की रचना का विश्लेषण करने के लिए उनकी सांस्कृतिक तत्त्वों की जानकारी आवश्यक है । इस प्रकार हम देखते हैं कि छोटे-छोटे अनेक तत्त्वों से मिलकर संस्कृति तत्त्व का निर्माण होता है । किन्तु हमें हमेशा यह याद रखना चाहिए कि जिसे हम संस्कृति की न्यूनतम इकाई कहते हैं वह भी जटिलता से वंचित नहीं है । जिस प्रकार से भौतिक एवं रसायनशास्त्री अपने विषय सामग्री का अध्ययन करने के लिए उसे कम्पाउण्डस (compounds) रसायनिकों (chemicals) तथा अणुओं (atoms) में विभाजित करते हैं उसी प्रकार संस्कृति का विस्तृत एवं सूक्ष्म अध्ययन करने के लिए मानवशास्त्री संस्कृति को संस्कृति तत्त्वों या इकाइयों में विभाजित कर देते हैं । यहाँ इकाई शब्द से तात्पर्य अन्तिम तत्त्व से नहीं है । घड़ा को हम संस्कृति तत्त्व कहेंगे । क्योंकि वह संस्कृति की न्यूनतम इकाई है । लेकिन उस घड़े के निर्माण में मिट्टी, चाक, कुम्हार द्वारा उपयोग किया गया विधि, पकाने की क्रिया आदि सभी शामिल होगी । इस तरह एक घड़े को घड़ा बनकर प्रयोग में लाने तक की प्रत्येक क्रिया उस इकाई में शामिल होगी तब वह एक तत्त्व के रूप में सामने आ रहा है । इसलिए ये 'इकाई' भी जटिलता से मुक्त नहीं है । इन सभी को मिलाकर 'संस्कृति तत्त्व' का निर्माण होता है ।

इस प्रकार संस्कृति के निम्नलिखित तत्त्व हैं –

(1) ठोस वस्तुएँ

(2) सभी प्रकार के व्यवहार, विचार, आदतें आदि ।

(3) ये विचार, व्यवहार आदि सामाजिक अन्तः क्रिया द्वारा अर्जित होती है ।

(4) इसमें भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन के दोनों पक्षों से सम्बन्धित उपलब्धियाँ सम्मिलित रहती हैं ।

इस तरह संस्कृति तत्त्व की निम्नलिखित विशेषतायें हैं –

(1) अपनी उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रत्येक संस्कृति तत्त्व का अपना एक इतिहास होता है ।

(2) इसकी दूसरी विशेषता यह है कि संस्कृति तत्त्व संस्कृति की तुलना में स्थायी नहीं होता है । इसमें समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं ।

(3) संस्कृति के अध्ययन तथा विश्लेषण का इसे प्राथमिक आधार माना जाता है । सांस्कृतिक तत्त्व के प्राथमिक आधारों पर ही सांस्कृतिक व्यवस्था आधारित है । कभी-कभी कुछ विद्वान अध्ययन के उद्देश्य से संस्कृति तत्त्व को पृथक मान लेते हैं जिसके कारण जनजातियों का सांस्कृतिक अध्ययन अधूरा रह जाता है । विकास के क्रम में उनके संस्कृति का परिवर्तन तो हो ही रहा है साथ ही उराँव के संस्कृति का परिवर्तन विद्वानों द्वारा भी जाने अनजाने होता चला जा रहा है । इसलिए जनजातियों के सांस्कृतिक अध्ययन में सावधानी के साथ-साथ विशेष जानकारी की आवश्यकता है ।

संस्कृति तत्त्व समूह

कई सांस्कृतिक तत्त्वों के मिलने से संस्कृति तत्त्व समूह का निर्माण होता है । लेकिन कोई भी संस्कृति तत्त्व किसी दूसरे संस्कृति तत्त्व से मिलकर संस्कृति तत्त्व समूह का निर्माण नहीं कर सकता । इन सभी संस्कृति तत्त्वों को किसी एक केन्द्रीय तत्त्व से मिला रहना चाहिए । अर्थात् केन्द्रीय तत्त्व का अर्थ यहाँ किसी पर्व-त्यौहार विशेष से है । जिसके चारो ओर उन संस्कृति तत्त्वों के द्वारा कुछ क्रिया का सम्पादन होता हो । लेकिन प्रत्येक संस्कृति तत्त्व का कार्य अलग-अलग जगहों, केन्द्र पर होता है । सरहुल पर्व में साल वृक्ष, उसका पत्ता, उसका फूल, मुर्गी, घड़ा आदि महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । इन संस्कृति तत्त्व समूह को जन्माष्ठमी या क्रिसमस त्यौहार के लिए संस्कृति तत्त्व समूह के रूप में प्रयोग करना चाहें तो वह संभव ही नहीं होगा । हाँ इन अलग-अलग संस्कृति तत्त्व को एक इकाई के रूप में किसी

भी जगह या किसी भी समय काम में लाया जा सकता है परन्तु किसी केन्द्रीय/नाभि विशेष के चारों ओर अपने उचित स्थान या संस्कृति विशेष पर ही यह उपयोगी हो सकता है ।

विवाह से सम्बन्धित संस्कृति तत्त्व को ही लें- बारात आना, उन्हें परीछना, विवाह होना, सभा सिन्दूर बैठाना, रोटी पकाना, लड़की विदाई करना इत्यादि सभी मिलकर विवाह संस्कृति तत्त्व समूह का निर्माण करता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृति तत्त्व समूह, संस्कृति तत्त्व एवं संस्था के मध्यवर्ती रहता है । एक संस्था संस्कृति तत्त्व समूह की एक श्रेणी है जो एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता के चारों ओर स्थित रहती है । उदाहरण के लिए परिवार एक संस्था है । जिसमें बच्चों का लालन-पालन, विवाह संस्कार, लैंगिक सम्बन्ध इत्यादि कितने सांस्कृतिक तत्त्व समूह पाये जाते हैं। यह भी स्मरण रहे कि एक संस्कृति तत्त्व समूह को ही सम्पूर्ण संस्कृति नहीं समझ लेना चाहिए क्योंकि कई संस्कृति तत्त्व समूहों के मिलने से संस्कृति का निर्माण होता है ।

संस्कृति क्षेत्र

एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र के अन्दर एक विशेष प्रकार की संस्कृति पायी जाती है । इस प्रकार प्रत्येक भौगोलिक क्षेत्र के अन्दर अपनी-अपनी संस्कृति होती है जिसे ही संस्कृति क्षेत्र कहा जाता है अर्थात जिस भौगोलिक क्षेत्र के अन्तर्गत समान प्रकार है उसे संस्कृति क्षेत्र कहा जाता है । प्रत्येक भिन्न-भिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार के संस्कृति तत्त्व एवं संस्कृति तत्त्व समूह पाये जाते हैं । जिस विशिष्ट क्षेत्र में एक ही संस्कृति होती है उसी भौगोलिक क्षेत्र को संस्कृति क्षेत्र कहा जाता है । जैसे लोहरदगा, गुमला क्षेत्र को एक भौगोलिक क्षेत्र माना जा सकता है । इस क्षेत्र के उराँवों में पाये जाने वाले संस्कृति तत्त्व एवं संस्कृति तत्त्व समूह में समानता पायी जाती है लेकिन थोड़ी ही दूरी पर स्थित राँची, हजारीबाग, उड़ीसा आदि के उराँव के बीच की संस्कृति तत्त्व एवं संस्कृति तत्त्व समूह में थोड़ी भिन्नता पायी जाती है ।

झारखण्ड भी एक भौगोलिक क्षेत्र है । इस क्षेत्र की संस्कृति में समानता पायी जाती है जो दूसरे भौगोलिक क्षेत्र से भिन्न है । झारखण्ड क्षेत्र के उराँव विवाह पद्धति दूसरे क्षेत्र के उराँव से अलग है । उसी तरह उनके अन्य संस्कारों में भी थोड़ी भिन्नता पायी जाती है । संस्कारों में भिन्नता के कारण संस्कृति तत्त्व एवं संस्कृति तत्त्व समूह में भी भिन्नता पायी जाती है । बृहत्तर रूप में झारखण्ड संस्कृति का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

उराँव के अलावा यहाँ के प्रत्येक आदिवासी का जीवन साल वृक्ष से जुड़ा हुआ है। इसके बगैर इनके जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। लेकिन इसका प्रभाव यहाँ के दूसरे जातियों पर भी पड़ा है। किसी न किसी रूप में वे इसका प्रयोग अवश्य करते हैं। जिसे क्षेत्रीय संस्कृति का प्रभाव या एक संस्कृति क्षेत्र ही कहा जायेगा। ठीक इसी प्रकार सहिया और करमडाइर लगाने की पद्धति को भी इसी संस्कृति क्षेत्र की विशेषता कही जा सकती है। ये पद्धतियाँ अन्य क्षेत्रों में नहीं पायी जाती है। इसी प्रकार बंगाल, पंजाब या केरला संस्कृति क्षेत्र का प्रभाव वहाँ निवास करने वाले प्रत्येक जाति पर पड़ता है। और उसी के अनुसार संस्कृति तत्त्व एवं संस्कृति तत्त्व समूहों की क्रिया पद्धति होगी। इसलिए विद्वान दूबे कहते हैं "कतिपय संस्कृति तत्त्व और संस्कृति तत्त्व समूह एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र में फैलकर संस्कृति क्षेत्र का निर्माण करते हैं।"

संस्कृति क्षेत्र की यह संरचना 19वीं सदी के प्रारंभ में शुरू हुई। सबसे पहले अमेरिका के मानव वैज्ञानिक क्लार्क विजलर ने इस पर काम किया। उसने अपनी पुस्तक 'दी अमेरिका इंडियन,' 1917 और 'मेन एण्ड कल्चर,' 1963 में आंशिक रूप से विचार किया कि पर्यावरण, खाद्य सामग्री, गृह निर्माण, सामाजिक संगठन, धर्म, भौतिक संस्कृति, कला इत्यादि की समानता के आधार पर भौगोलिक क्षेत्र का विभाजन होता है। उसी आधार पर उसने भारत को भौगोलिक संस्कृति क्षेत्र में बांटा। और किसी भौगोलिक क्षेत्र में पाये जाने वाले संस्कृति तत्त्वों का विकास कैसे हुआ, उनका प्रभाव क्षेत्र कितना है, इसके सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का विचार है कि संस्कृति तत्त्व या संस्कृति तत्त्व समूह एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र में फैलकर संस्कृति क्षेत्र का निर्माण करते हैं। विद्वान हॉवेल के अनुसार- "एक संस्कृति क्षेत्र को भौगोलिक क्षेत्र के भाग के रूप में प्रभावित किया जा सकता है जिसमें कि सांस्कृतिक समानता की एक मात्रा होती है जो उसे दूसरे बाहरी संस्कृति से भिन्न करती है।"

इस प्रकार संस्कृति तत्त्वों की समानता के आधार पर संस्कृति क्षेत्र की सीमा का निर्धारण किया जाता है।

संस्कृति क्षेत्र का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाय तो पूरी दुनिया ही संस्कृति क्षेत्र में आ जाता है। आज का वैज्ञानिक युग तथा आधुनिक समाज ने यातायात तथा संचार माध्यमों के द्वारा संस्कृति क्षेत्र की सीमा को तोड़ दिया है। जिसके कारण सांस्कृतिक विनिमय के अवसर तथा साधन दिन प्रति दिन बढ़ते ही

जा रहे हैं । फलतः संस्कृति क्षेत्र की सीमा रेखायें अनिश्चित होती जा रही है । वर्तमान समय में संस्कृति क्षेत्र की अवधारणा सभ्य कहे जाने वाले समाज के सम्पर्क से दूर आदिम समाजों एवं उनकी संस्कृतियों के अध्ययन तक ही सीमित है क्योंकि अब केवल ऐसे ही समाज की संस्कृति को एक भौगोलिक क्षेत्र की सीमा कहा जा सकता है ।

संस्कृति प्रतिमान (Culture Pattern)

कई सांस्कृतिक तत्त्वों के मिलने से एक संस्कृति तत्त्व समूह या संस्कृति संकूल (culture complex) का निर्माण होता है । परन्तु संस्कृति के ये तत्त्व समूह शून्य में रहकर या अव्यवस्थित रूप में रहकर कार्य नहीं कर सकते, क्योंकि इसकी कोई सामाजिक महत्ता नहीं रहेगी । इसलिए सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढांचे के अन्तर्गत प्रत्येक तत्त्व समूह का एक निश्चित स्थान या स्थिति और कार्य होता है । ये सभी मिलकर एक संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं को व्यक्त करते हैं । "अतः सांस्कृतिक ढांचे के अन्तर्गत संस्कृति तत्त्व समूहों की उस व्यवस्था को, जिससे कि सम्पूर्ण संस्कृति की विशेषतायें व्यक्त हों संस्कृति प्रतिमान कहते हैं ।" प्रतिमान का अर्थ आदर्श या नमूना है, या इसे हम समाज की प्रेरक सिद्धान्त भी कह सकते हैं । जैसे - अतिथि को लोटा में पानी देना, अतिथि का पैर धोना आदि ।

उराँव संस्कृति की यह विशेषता है कि घर में आये अतिथियों का स्वागत सर्वप्रथम लोटे में पानी देकर या उनका पैर धोकर किया जाता है । अत्यधिक सम्मान के लिए थाली में पैर धोया जाता है । अतिथियों को लोटे में पानी न देने का अर्थ है उनका सम्मान न करना । उराँव समाज में इसे अच्छा नहीं माना जाता है और समाज इसे स्वीकार नहीं करता है । ये सभी उराँव समाज के मूल्य हैं । ये समाज के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करते हैं । प्रत्येक संस्कृति के कुछ आदर्श होते हैं, जो इस संस्कृति तत्त्व का रूप निर्धारित करते हैं । यह समाज में व्यवहार को निर्धारित करता है । समाज में कौन सा कार्य उचित है या अनुचित इसका निर्णय संस्कृति के मूल्य या प्रतिमान करते हैं । जैसे - उराँव समाज में बड़ी बहन अपनी छोटी बहन के पति से दूर-दूर रहती है । दोनों एक दूसरे को इज्जत की दृष्टि से देखते हैं । इन दोनों के बीच में हँसी मजाक का रिश्ता नहीं हो सकता है । इस पवित्र रिश्ते को उराँव समाज में 'बालनी' और 'जवनख़दी' की संज्ञा दी गई है । अन्य समाज में जिस तरह जेठ और बहूरानी का रिश्ता है ठीक उसी प्रकार बालनी एवं

जवनख़दी के बीच का यह रिश्ता है । अज्ञानतावश या गलती से एक दूसरे से सट जाने पर सामाजिक नियम के अन्तर्गत इन दोनों की शुद्धिकरण की जाती है । इन दोनों के बीच यौन सम्बन्ध तो कभी हो ही नहीं सकता । यदि कहीं हो भी जाय तो इन दोनों के अलावा परिवार वालों को भी सामाजिक दण्ड भुगतना पड़ता है । इससे उराँव समाज के स्वरूपों को भली-भांति जाना जा सकता है । इसलिए रूथ बेनेडिक्ट का कहना है – "किसी एक आदर्श से ही पूरे संस्कृति के स्वरूपों का ज्ञान हो सकता है ।" इस तरह हम देखते हैं कि संस्कृति में जितने आदर्श एवं तत्त्व होते हैं सभी एक दूसरे से मिले होते हैं । इसलिए हर्सकोविट्श का कहना है कि "संस्कृति प्रतिमान एक संस्कृति तत्त्वों का वह डिजाइन है जो कि इस समाज के सदस्यों के व्यक्तिगत व्यवहार प्रतिमान के माध्यम से व्यक्त होता हुआ जीवन के तरीके को सम्बधता, निरन्तरता तथा विशिष्ट स्वरूप प्रदान करता है ।"

इस तरह प्रत्येक संस्कृति में चाहे वह आदिम समाज की हो या अन्य समाज की, एक संगठन होता है । ये सभी अपने-अपने ढंग से अपनी संस्कृति के ढांचें के अन्दर सजे हुए होते हैं । 'संस्कृति तत्त्व समूहों का क्रमवार सजा होना' को ही हम संस्कृति कह सकते हैं ।

संस्कृति और सभ्यता

साधारणतः लोग संस्कृति और सभ्यता का व्यवहार एक ही अर्थ में करते हैं । लेकिन समाजशास्त्र की परिभाषा में सभ्यता हर जाति और हर राष्ट्र में पायी जाती है । इस प्रकार व्यक्ति सभ्य है, लेकिन-संस्कृति उस औद्योगिक क्रांति युग के पश्चात् आरम्भ होने वाले मानवीय विकास को कहते हैं, जिसने अमेरिका, यूरोप तथा अन्य औद्योगिक राष्ट्रों में सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन लाये हैं । एक युग था जब लोग आदिवासियों को असभ्य समझते थे । इसलिए उन लोगों के विषय में अधिक ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक नहीं समझते थे लेकिन आज मानव-विज्ञान ने जहाँ मानवशास्त्र को विज्ञान के रूप में प्रदर्शन किया है वहाँ उसने हमारे समक्ष कुछ ऐसे मौलिक सिद्धान्त भी उपस्थित किये हैं जिनके द्वारा हम आदिवासियों और पिछड़े लोगों के जीवन तथा उनकी सभ्यता के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । आधुनिक प्रयोगों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मानव अपनी सभ्यता से पूर्ण रूपेण प्रभावित हुआ है । यदि मानव को किसी सभ्यता या समुदाय अर्थात समाज में न रखा जाय तो उसमें वे विशेषतायें उपलब्ध न होगीं, जिन्हें मानवता कहते हैं ।

इसलिए सब लोग सभ्य हैं क्योंकि वे किसी न किसी सभ्यता में पले और विकसित हुए हैं। इस सिद्धान्त के अनुकूल छोटानागपुर के उराँव भी उतने ही सभ्य हैं जितना आजकल का कोई भी मनुष्य।

आदिवासियों तथा अन्य लोगों में यह विभेद नहीं है, जैसे लोग जानते हैं, कि आदिवासी असभ्य हैं, और दूसरे ही लोग सभ्य हैं क्योंकि हमारे आधुनिक ज्ञान के अनुसार सभी व्यक्ति सभ्य है। आजकल अन्य लोगों में तथा आदिवासियों में कुछ मौलिक भेद हैं, जैसे :-

1. निरक्षरता – साधारणतः आदिवासी अशिक्षित होते हैं लेकिन आज उनमें शिक्षा का प्रचलन प्रतिशत दिनोदिन बढ़ रहा है।
2. आदिवासियों की सामाजिक संस्थाऐं अधिकांशतः छोटी होती है लेकिन उनकी ही तरह अन्य समाज में आज बड़ी-बड़ी राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थाऐं पाई जाती है।
3. तीसरी बात जो दूसरे लोगों को आदिवासियों से अलग करता है वह यह है कि उनके यहाँ दूसरे लोगों के विपरीत भौतिक तथा औद्योगिक विकास का अत्यन्त अभाव है। यही प्रधान कारण है कि उनके जीवन पर प्रकृति का गहरा और सीधा प्रभाव पड़ता है। उनकी सभ्यता अभी इतनी उन्नत नहीं है फिर भी ऋतु परिवर्तन तथा आसपास के प्राकृतिक परिवर्तनों के कुप्रभावों से वे अपनी रक्षा करने में सक्ष्म हैं। वर्ष 2006 का 'सुनामी' में सिर्फ आदिवासी ही अपने प्राणों की रक्षा कर पाये थे।
4. दूसरे लोगों में और उनमें सबसे अधिक अन्तर यह है कि वे लोग आर्थिक दृष्टिकोण से बहुत पिछड़े हुए है। उसके यहाँ न तो विकसित श्रम के साधन हैं और न, बड़ी-बड़ी आर्थिक संस्थाएँ ही। उपर दिये गये अवस्था उनके समाज में कुछ हद तक परिवर्तित भी हो गई है। आजकल इनके बीच बड़े वैज्ञानिक अविष्कारों के कारण परिवर्तन की गति अधिक तेज हो गई है और समस्त वस्तुओं के साथ-साथ मनुष्य में भी बड़ी तेजी के साथ परिवर्तन होता जा रहा है। मानव संस्कृति के निर्माण में धर्म और विज्ञान दो प्रमुख आधार स्तम्भ है। मानव संस्कृति में ईश्वर की संज्ञा आदिकाल से चली आ रही है लेकिन आज धर्म की जगह विज्ञान की महत्ता अधिक परिलक्षित होती है। विज्ञान ने भौतिकवाद को जन्म दिया है। जिससे पुरानी संस्थाओं और विचारों के स्थान पर नयी-नयी

संस्थाएँ और विचार प्रकट हो रहे हैं । इस परिवर्तन का प्रभाव उराँव समाज पर भी पड़ रहा है । उनके समाज और रहन-सहन में भी भारी अन्तर पड़ता जा रहा है । इसलिए अगर उनकी सभ्यता से ज्ञान अभी प्राप्त नहीं किया गया तो फिर उनका अध्ययन असली रूप में कभी नहीं किया जा सकेगा । आज बहुत सी ऐसी समस्याएँ हैं जो दूसरे आदिवासी समाज में भी समान रूप से पायी जाती है । यह सम्भव है कि उनके रहन-सहन और सभ्यता से ज्ञान प्राप्त करके अपने सुसंस्कृत समाज की समस्याओं को सुलझाने में सफल हो जाएँ ।

लोकाचार

जनरीतियों में जब समूह कल्याण की भावना जुड़ जाती है, तब उनको लोकाचार अथवा रूढ़ि के नाम से सम्बोधित किया जाता है । जनरीतियाँ सामाजिक नियंत्रण का प्रमुख कारण मानी जाती हैं । जनरीतियों के समाज द्वारा मान्य होने से ही ये प्रत्यक्ष और प्राथमिक रूप से व्यक्ति के व्यवहारों को प्रभावित करती है । सामाजिक ढ़ाँचे को व्यवस्थित रखने में ये इतनी महत्त्वपूर्ण होती है कि कोई भी समाज व व्यक्ति इनकी अवहेलना नहीं कर सकता । लोकाचार की स्वीकृति जनरीतियों से अधिक महत्त्वपूर्ण होती है, क्योंकि इनमें आवश्यकता पूर्ति के गुण अपेक्षाकृत अधिक होते हैं। ए० डब्ल्यू० ग्रीन के अनुसार "लोकाचार कार्य करने की सामान्य विधियाँ हैं, जो जनरीतियों की अपेक्षा अधिक ठीक और उचित समझी जाती है तथा जिनका उल्लंघन करने पर अधिक कठोर निश्चित दण्ड दिया जाता है ।" लोकाचार आचरण की शुद्धता को अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त करता है । ये दो प्रकार के होते है :-

1. आदेशात्मक - वे लोकाचार होते हैं जो कुछ विशेष कार्य करने का आदेश देते हैं, जैसे सच बोलना चाहिए, ईमानदार होना चाहिए । बड़ों का आदर करना चाहिए ।
2. निषेधात्मक - वे लोकाचार होते हैं, जो कुछ व्यवहारों पर प्रतिबन्ध लगाते हैं, जैसे चोरी नहीं करनी चाहिए, स्त्रियों से अशिष्ट व्यवहार नहीं करना चाहिए, आदि । इस तरह का लोकाचार का प्रभाव उराँव समाज में पहले से ही व्याप्त है ।

उराँव जनजाति की संस्कृति को लोक संस्कृति के नाम से पुकारा गया है । लोक संस्कृति मौखिक सांस्कृतिक परम्परा है । यह प्रत्यक्ष रूप से पुस्तकों पर

आधारित नहीं है, मौखिक रूप से ही एक दूसरे को हस्तान्तरित की जाती है । उदाहरण के रूप में समूह नृत्य में भाग लेने वाले स्वयं ही गीत की रचना करते हैं, स्वयं ही उसे गाते हैं और साथ ही नृत्य भी करते है । कलाकार और दर्शक वे स्वयं ही होते हैं । उराँव जनजाति में एक विशेष बात यह है कि नारियों के गाने साधारणत: अकेले नहीं गये जाते, दल बांधकर गाये जाते हैं । लोक गीत प्रत्येक समाज में पाये जाते हैं । उराँवों के भी लोकगीत अत्यधिक एवं माधुर्य पूर्ण हैं। इसमें अपनी लोच, ताजगी और लोकप्रियता है । ये अन्य संगीत से भिन्न हैं। ये जनता के संगीत है जिसे आज भी एकांगी जीवन नियमों की जकड़ में बांध न सका और यह निर्दन्द जीवन में लहराता है ।

लोक संस्कृति के जीवन को – एक सामान्य ढंग के रूप में देखा जा सकता है। इसके अन्तर्गत वे सब देवी-देवता, धार्मिक विधि-विधान अथवा अनुष्ठान, विश्वास, ज्ञान, विज्ञान, कला, साहित्य, संगीत, कहावतें, मुहावरे, लोक गाथाएँ, नाटक इत्यादि आते हैं । ये मौखिक रूप से ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहे हैं । उराँव समाज में अनेक ऐसे देवी-देवताओं की पुजा की जाती है और कई त्यौहार, मेले, अनुष्ठान आदि भी पाये जाते हैं जो उस स्थान या क्षेत्र विशेष से ही सम्बन्धित हैं तथा उनका अभिजात संस्कृति से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं पाया जाता । लेकिन इसे स्थानीय संकुचित संस्कृति या परम्परा नहीं माना जा सकता । वास्तव में इसके फैलाव का क्षेत्र काफी विस्तृत है । इनके लोक संस्कृति से सम्बन्धित विचारों, मूल्यों समस्याओं और सांस्कृतिक स्वरूपों का यदि गहराई से अध्ययन किया जाय, तो इनमें मौलिक एकता दिखायी पड़ेगी । इनका बाह्य स्वरूप देश के विभिन्न क्षेत्रों में विविधता लिए हुए हो सकता है, परन्तु इनमें अन्तारिक एकता अवश्य पायी जाती है । उराँव जनजाति का सबसे बड़ा तत्त्व विभिन्न जीवन-प्रणलियों में एकता और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय स्थापित करना है । इनकी दूसरी विशेषता नैतिक व्यवस्था की स्थापना है । इनकी संस्कृति का सबसे बड़ा संदेश आचरण की शुद्धता है । इनका जीवन सीधा और सरल है । दूसरों का भी ख्याल रखना इनके संस्कृति का मूल है । बाहरी लोग आज इनके सीधेपन का फायदा उठा रहे हैं, आदिवासियों का शोषण विभिन्न तरीकों से कर रहे हैं । फलस्वरूप जागरूक आदिवासी अपने उन सामाजिक आदर्श, मूल्य को छोड़ कर अब आन्दोलन करने पर उतर आये हैं । झारखण्ड आन्दोलन इसी की देन है । झारखण्ड आन्दोलन का उद्देश्य शुरू में विभिन्न कारणों से केवल आर्थिक और विशेषकर राजनैतिक उद्देश्य से एक पृथकतावादी आन्दोलन के रूप में उत्पन्न हुआ ।

उराँव जाति की धारणा है कि शहर के लोगों का व्यवहार असामान्य होता है, उनका जीवन आराम का है। उनके व्यवहार में नैतिकता का अभाव होता है, वे नास्तिक और स्वार्थी होते हैं। जब कोई पिता अपने बच्चे को शहरी स्कूल में भेजने से मना करता है, तब उसका उद्देश्य है कि वह अपने बच्चे के 'शहरी' नहीं बनाना चाहता। शहरी शब्द मूल्यों के एक समूह को प्रकट करता है जो उन मूल्यों से भिन्न है, जिनसे गाँव वाले परिचित हैं और जिन्हें वे पीढ़ियों से अपनाये हुए हैं। इस भेद ने ही उराँव जनजाति के परम्परात्मक संस्कृति को जीवित रखा है। अन्यथा उनके यहाँ कोई चर्च, मन्दिर, मस्जिद जैसी व्यवस्था नहीं रही हैं जो प्राचीन धर्म, कला, सांस्कारिक व्यवहारों, संस्कृति, लोकगीत आदि की रक्षा करती है। उराँव जाति के भावात्मक व्यवस्था व मूल्य व्यवस्था ही उराँव को परिवर्तित होने से रोकती है और गाँवों के बीच संघर्ष होने की स्थिति में भी उनके बीच ग्राम एकता देखी जा सकती है। जब दो गाँवों के बीच झगड़ा होता है तो गाँव के सभी लोग एक होकर मुकाबला करते हैं। उराँव जनजातियों में केवल गाँव की एकता का नहीं बल्कि सांस्कारिक महत्त्व भी है। जब कोई गर्भवती महिला मर जाती है तो उसे अलग स्थान पर गाड़ दिया जाता है। उनका विश्वास है कि ऐसी महिला की आत्मा एक चुड़ैल में बदल जाती है। अगर उसे गाँव के श्मशान में गाड़ते हैं तो वहाँ पर गाड़े गये अन्य लोगों की आत्मा को परेशान करेगी साथ ही लोगों को भी परेशान करेगी।

अतः स्पष्ट है कि उराँव जनजाति की संस्कृति में एक मूल्य अवस्था तथा भावात्मक व्यवस्था होती है जो गाँव को एक विशिष्ट जीवन विधि निर्माण करने और उसे एक अवधारणा के रूप में प्रस्तुत करने की आज्ञा देता है। यदि हमें प्राचीन कला, धर्म, प्रथाओं, रीति-रिवाजों, रूढ़ियों, विश्वासों का अध्ययन करना है तो उराँव तथा अन्य जनजातियों के गाँवों का सम्पूर्ण अध्ययन करना होगा।

संदर्भ संकेत

क्रम सं	किताब का नाम	लेखक का नाम	पृ० सं०
1	सामाजिक एवं शोध परिषद्, समारोह पर दिये गये भाषण	आर० आर० दिवाकर	
2	भारतीय संस्कृति और आदिवासी	बिहारी लकड़ा	1
3	भारतीय संस्कृति का दीपक	गोवर्धन प्रसाद सदय	258
4	भारतीय संस्कृति का दीपक	गोवर्धन प्रसाद सदय	258
5	प्रीमीटिव कल्चर	ई० बी० टेलर	1
6	भारतीय आदिवासी (उनकी संस्कृति और सामाजिक पृष्ठ भूमि)	एल० पी० विद्यार्थी	
7	भारतीय संस्कृति को आदिवासियों की देन	रामदयाल मुण्डा	5
8	कुड़ुख़ कत्था खीरी	शान्ति प्रबल प्रकाश बखला	
9	साक्षात्कार के आधार पर	दमयन्ती सिंकु जगरनाथ सिंकु	

पंचम अध्याय

उराँव जाति में सांस्कृतिक प्रभाव के प्रमुख तत्त्व

औद्योगीकरण - किसी वस्तु का निर्माण विस्तृत पैमाने पर हो और उसका उद्देश्य अर्थ (लाभ) कमाना हो तो हम उसे उद्योग कहते हैं। उद्योग कई प्रकार के होते हैं जैसे - गृह उद्योग, लघु व कुटीर उद्योग एवं बृहत उद्योग ।
(1) गृह उद्योग के अन्तर्गत - पापड़, आचार, मुरब्बे, मोमबत्ती, अगरबत्ती, निर्माण, सिलाई कढ़ाई इत्यादि आते हैं ।
(2) लघु उद्योग - इसके अन्तर्गत माचिस, टिम्बर कटिंग, कोल्ड ड्रिक, डिटर्जेंट का निर्माण आदि आते हैं ।
(3) बृहत उद्योग के अन्तर्गत - लोहे अल्मूनियम की छड़ें चादरें, तांबे के तारों का निर्माण इत्यादि का निर्माण होता है ।

उद्योग में अधिक मात्रा में किसी वस्तु का निर्माण होता है । उद्योग का अर्थ कालांतर में समय के साथ-साथ परिवर्तित होता गया और आधुनिक नगरीकृत समाज में इसका प्रयोग बहुत ही विशिष्ट हो गया। वास्तव में जनसंख्या में तीव्रगति से वृद्धि होने के बाद बड़े-बड़े नगरों का विकास हुआ जिससे सीमित उत्पादन बढ़ी हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ रहा। क्योंकि प्राचीन काल में जनसंख्या कम होने के कारण वस्तुओं के उत्पादन का लक्ष्य केवल उपभोग के लिए होता था। किन्तु अब हमारे उत्पादन का मुख्य लक्ष्य है-निर्यात। क्योंकि आज के युग में जिन वस्तुओं का उत्पादन हम करते हैं उसे अन्य लोगों के द्वारा उत्पादित उसी वस्तु के साथ बाजार में प्रतिस्पर्द्धा भी करनी पड़ती है । इसलिए आज कुशल एवं प्रशिक्षण प्राप्त लोगों की सेवाओं को खरीद कर कुछ वस्तुओं का उत्पादन हम करते हैं। इस प्रकार उत्पादित वस्तुओं के सहारे हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करतें हैं। इस तरह उद्योग शब्द से औद्योगीकरण शब्द बना। सामाजिक एवं आर्थिक विकास की दृष्टि में औद्योगीकरण एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है । इसका तात्पर्य बड़े पैमाने के नवीन उद्योगों का प्रारंभ और छोटे उद्योगों को बड़े पैमाने के उद्योगों में बदलने से है। अर्थात् विशेषीकरण के आधार पर बड़ी मात्रा में मशीनों द्वारा उत्पादन करना है । उद्योग का अर्थ कालांतर में समय के साथ-साथ इस संदर्भ में आधुनिक उद्योगों और औद्योगीकरण की परिभाषा इस प्रकार से दी जा सकती है - "बड़ी पूँजी लगाकर बड़ी-बड़ी मशीनों का सहारा लेकर अपेक्षित विशेष रूप से प्रशिक्षित व्यक्तियों द्वारा बड़े पैमाने पर उद्योग की व्यवस्था और इसी प्रकार की व्यवस्था की निरंतरता को बनाये रखने वाली प्रक्रिया को औद्योगिकीकरण कहते हैं।"

उराँव जाति में सांस्कृतिक प्रभाव के प्रमुख तत्त्व

या

खनिज पदार्थों और खेती द्वारा उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं के उत्पादन को मशीन द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादित एवं परिमार्जित तथा विकसित करने की प्रक्रिया को औद्योगिकीकरण कहते हैं।

विद्वान मित रुचि ने औद्योगीकीकरण की परिभाषा इस प्रकार दी है – "मशीन उत्पादन के आधुनिक तरीकों के प्रसार की प्रक्रिया को हम औद्योगीकीकरण कहते हैं।"

भारत में 19वीं सदी के मध्य मशीनी उद्योगों का विकास होने लगा। भारत में रेलवे के शुरुआत के साथ ही औद्योगिक विकास का प्रांरभ हुआ। इस यातायात की सुविधा के कारण रेल केन्द्र, औद्योगिक विकास की नाभि बन गये। 1860 के पश्चात् जर्मनी, अमेरिका और जापान के बाजारों ने ब्रिटिश औद्योगिक श्रेष्ठता को चुनौती दी। इसी चुनौती के द्वारा भारत के औद्योगिक विकास को भी प्रोत्साहन मिला। सस्ते श्रम के उपयोग द्वारा उन्होंने विदेशी प्रतियोगिताओं को परास्त किया और लाभ प्राप्त किया। ब्रिटिश प्रशासन ने भारत में कुछ नए उद्योगों की स्थापना कर उनमें विनियोजन किया।

यह स्पष्ट है कि काफी अरसे तक ब्रिटिश नीति में परिवर्तन के कारण ही भारतीय व्यापारिक और साहूकारी पूँजी कुछ अंश में औद्योगिक पूँजी में परिवर्तित हुई। 20वीं सदी में औद्योगीकरण ने नये डग भरे हैं। परम्परागत उद्योगों का स्थान नये उद्योगों ने लिया है। इससे उत्पादन में वृद्धि हुई है। भारतीय औद्योगिक श्रमिक मुख्यत: बड़े-बड़े उद्योगों में कार्यरत हैं। परंतु ये बड़े उद्योग कुछ ही शहरों में केन्द्रित हैं। भारत में सड़क, रेलवे और नहर-निर्माण के कारण कृषि-पद्धति में परिवर्तन हुए हैं। इसके अतिरिक्त हरित क्रांति जिसमें नये बीज, सिंचाई के नये तरीके, नकदी फसलें, सिंचाई के नये साधन ट्रैक्टर तथा अन्य यांत्रिक उपाय शामिल हैं, ने भी भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था में परिवर्तन किया है।

औद्योगीकीकरण सामाजिक परिवर्तन की एक तीव्र प्रक्रिया एवं प्रतिक्रिया भी है। इसने आदिवासी समुदाय की परम्परागत सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक जीवन, सामाजिक संस्थाओं तथा व्यक्तिगत व्यवहार, प्रतिमानों को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। छोटनागपुर का प्लेटो अपने खनिज पदार्थों के लिए प्रसिद्ध है। छोटानागपुर का आदिवासी क्षेत्र औद्योगिक क्रान्ति के चुनौतीपूर्ण दौर से गुजर रहा है। यहाँ औद्योगीकरण की शुरुआत ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के साथ ही प्रारंभ हो चुका था। सन् 1856 में बिहार (झरिया, बोकारो और कर्णपुरा) अब झारखण्ड में औद्योगीकरण की शुरुआत कोयला निष्कासन से शुरू हुआ। सन 1904 ई० में सिंहभूम के विभिन्न क्षेत्रों से लोहा निकाला जाने लगा। फिर धीरे-धीरे गिरिडीह,

हजारीबाग तथा राँची के अन्य स्थानों से भिन्न-भिन्न खनिज पदार्थ निकाले जाने लगे। 1907 ई० में जमशेद्पुर में लोहे और इस्पात का कारख़ाना खुला। इसी के साथ 1911 ई० में टिस्को का विशाल कारखाना जमशेदपुर में ही खुला और फिर देखते ही देखते पाँच वर्षों के अन्दर अनेक कारखाने और उद्योग छोटानागपुर के विभिन्न भागों में स्थापित हुए। इनमें राँची का भारी अभियंत्रण निगम (HEC), बोकारो के इस्पात कारखाने एवं पतरातू औद्योगिक क्षेत्र आदि प्रमुख हैं। इससे उत्पादन के तरीकों में बहुत अन्तर हुआ। किसी को इससे लाभ हुआ तो किसी को भारी नुकसान। व्यवहारिक रूप में यह देखा गया कि औद्योगीकरण जहाँ एक ओर राष्ट्र के लिए वरदान है वहीं उद्योग के लिए स्थान (जमीन) देने वाले स्थायी कृषक आदिवासियों के लिए अभिशाप एवं सामाजिक अव्यवस्था लेकर आया। छोटानागपुर में औद्योगीकरण का अलग ही प्रभाव पड़ा। विस्थापन के कारण यहाँ के आदिवासी अपने घर-बार से वंचित होते चले गये एवं बाहरी लोगों के सम्पर्क ने उन्हें अन्दर से खोखला कर दिया। इस सम्बन्ध में डॉ० रामदयाल मुण्डा ने 9 अगस्त, अन्तर्राष्ट्रीय आदिवासी दिवस के अवसर पर अपने विचार रखते हुए कहा कि "सरकार यहाँ कि इंडिजनस लोगों को खत्म करने पर तुली हैं। हर रोज विस्थापन और पलायन यहाँ की आदिवासियों की नियति बनकर रह गयी है। आदिवासियों के जीने का सबसे बड़ा आधार जंगल है। सरकार को चाहिए कि ऐसी नीति बने जिससे जंगलों से जीने का रास्ता निकले न कि उन्हें उजाड़ने की कोशिश की जाय। आदिवासियों को जगलों के विकास तथा उसका स्वामित्व दोनों सौंपा जाना चाहिए"[1] इस प्रकार औद्योगीकरण आदिवासियों के लिए क्रान्तिकारी परिवर्तन के साथ-साथ बहुत बड़ा संकट लेकर आया। इसने उराँव एवं अन्य आदिवासियों के जीवन को झकझोर कर रख दिया। इस प्रक्रिया ने आदिवासियों के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया और उनके शान्ति, विशिष्ठ और परम्परागत जीवन शैली पर कठोर कुठाराघात किया। औद्योगीकरण ने आदिवासियों के सांस्कृतिक मूल्यों को अत्यधिक प्रभावित किया। श्री विक्टर तिग्गा 9 अगस्त के विशाल समारोह में विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि – "औद्योगिकीकरण के कारण विस्थापन हो रहा है और गरीबी के कारण इनका पलायन हो रहा है। इनकी संस्कृति विघटित हो रही है। संस्कृति का विघटित होना जनजातियों की मुख्य समस्या है।"[2]

झारखण्ड की राजधानी राँची और इसके नजदीक बसे शहर (जिला) गुमला, लोहरदगा, सिमडेगा, लातेहार, पलामू, सिंहभूम एवं हजारीबाग में उराँव समुदाय का निवास है। अतः औद्योगीकरण से इनका प्रभावित होना निश्चित है। इसका प्रभाव इनके सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों पर मुख्य रूप से पड़ा है। इनके जीवन में जो सामाजिकता एवं सामूहिकता का भाव मुख्य

रूप से था वह समाप्त होकर एकांगी जीवन के रूप में सामने आया जिससे समाज की एकता और परम्परा समाप्त होती जा रही है । उनकी अपनी पड़हा व्यवस्था का अस्तित्त्व समाप्त होने के कगार पर है । उराँवों की धार्मिक संस्था, पर्व-त्यौहार उनके मूल्य, मान्यता एवं विश्वास में कमी आयी है । अब वे अपने मूल्यों, विश्वासों में आस्था कम रखते हैं एवं अन्य संस्कृति की नकल करके दिखावे की मान्यता पर अधिक विश्वास करने लगे हैं । अब उराँव समाज को अखड़ा में बजने वाली घन्टी एवं मांदर की आवाज अच्छी नहीं लगती है । अब उन्हें मन्दिर में होने वाली कीर्तन-भजन एवं गिरिजा घर के घण्टे की आवाज अच्छी लगती हैं । आज उनका आर्थिक आधार कृषि समाप्त होता जा रहा है । औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं शहरीकरण ने शहर के इर्द-गिर्द के खेतों को नालियों एवं कुड़े-कचड़ों से भरकर गन्दा कर दिया है । इन खराब हो चुके खेतों में मनुष्य तो क्या जानवर भी नहीं घुस सकते । ऐसी स्थिति में कृषि कार्य करना संभव नहीं है । इसके अलावा शहरी क्षेत्र में बाहर से आये ग्वालों एवं उनके खटालों की भरमार ने खेती (फसल) को तबाह करने में मुख्य भूमिका निभायी है । इनके गाय एवं भैंस (जो दूध नहीं दे रहे होते हैं) चरने के लिए खुले छोड़ दिये जाते हैं जिससे फसल बुरी तरह नष्ट होती है । इसके साथ ही शहरीकरण की देन ने चारागाह के स्थानों को नष्ट किया है । चारागाह की कमी के कारण वे पशु रखना नहीं चाहते एवं खेतों के कम होने के कारण अब शहरी आदिवासी स्वयं भी कृषि कार्य करना नहीं चाहते । अब ये आधुनिक ज़िन्दगी की चकाचौंध तथा शिक्षा की ओर आकर्षित होकर शिक्षा में अधिक ध्यान देने लगे हैं एवं शहर की ओर नौकरी एवं मजदूरी पाने की लालसा से निकल पड़ते हैं । वे शहर के विभिन्न हिस्सों में मजदूरी का कार्य करते या फिर कहीं दाई, नौकर का काम करते हैं । इन कार्यों से उन्हें तुरन्त रुपये प्राप्त होते हैं जो इनके जरूरतों की पूर्ति करते हैं । अब इन्हें (शहरी उराँव एवं अन्य आदिवासियों को) कृषि कार्य कठिन लगने लगा है । एक ओर सिंचाई के साधनों की कमी तो दूसरी ओर कड़ी मेहनत एवं परिणाम देर से अर्थात् फसल तैयार होने तक का लम्बा समय । आधुनिक वैज्ञानिक युग ने मानव को किसी भी कार्य का परिणाम तुरंत देकर उसे आलसी एवं धैर्यहीन बना दिया है । समयानुसार आदिवासियों पर इसका प्रभाव पड़ा है । स्थानीय शहरों में नौकरी एवं मजदूरी का कार्य न मिलने पर वे दूसरे शहरों, राज्यों में भी दाई-नौकर, ईंठ-भट्ठा एवं चाय बगानों में मजदूरी कर रहे हैं । आज झारखण्ड क्षेत्र के आदिवासियों को पंजाब एवं उत्तर प्रदेश के खेतों में हाड़तोड़ मेहनत करते देखा जा सकता है । वहाँ इन्हें सस्ते मजदूर के रूप में देखा एवं जाना जाता है एवं इनका प्रयोग जानवरों के रूप में

किया जाता है । झारखण्ड एवं इन बाहरी प्रदेशों में इनके आत्म सम्मान को रौंदा जा रहा है एवं बुरी तरह से इनका शोषण हो रहा है । फिर भी लाचार, बेबस, गरीब आदिवासी समाज पेट की खातिर सब कुछ बर्दास्त करता रहा है । झारखण्ड क्षेत्र के आदिवासियों के बीच निर्धनता एवं बेरोजगारी बढ़ रही है । आदिवासियों के आर्थिक आधार में परिवर्तन के कारण मनोरंजन के अपने तरीके समाप्त होते गये और आधुनिक मनोरंजन के तरीके, सिनेमा, टी०वी०, रेडियो, क्लब आदि का प्रचलन बढ़ा । मनोरंजन के इन संसाधनों की अच्छाइयों को कम एवं बुराइयों को ज्यादा अमल में लाया गया और इसका परिणाम व्यक्तिवादी दृष्टिकोण तथा रहन-सहन के उच्च तौर तरीके की कोशिश के रूप में सामने आया । इन अथाह जरूरतों के पूरे न होने के परिणाम स्वरूप अपराधिक प्रवृति (मद्यपान, जुआ, ठगी, चोरी, डकैती) का समावेश इस आदिवाासी समाज में हुआ । उराँव समाज में भूमि प्रकृति प्रदत्त सामूहिक सम्पत्ति (समाज की सम्पत्ति) मानी जाती है । उसे बेचने का अधिकार किसी को नहीं है । अपने जीवन में प्रत्येक व्यक्ति इसका उपभोग मात्र कर सकता है एवं मरने के पश्चात वह अपने पीढ़ी को स्वत: हस्तान्तरित हो जाया करता है । लेकिन औद्योगीकरण के लिए सरकार द्वारा जमीन का अधिग्रहण कर उनके खेती लायक जमीन को बंजर बना दिया गया एवं उनसे उनकी रोजी-रोटी तथा जीवन छीन लिया गया । अधिग्रहित जमीन के बदले उन्हें सिर्फ कुछ मुआवजा एवं परिवार में एक व्यक्ति को नौकरी देकर (वह भी चतुर्थ वर्गीय) टरका दिया गया । इस नौकरी में भी अनुभवहीनता के कारण स्थानीय जमीन-दाता छांट दिये गये एवं अनुभव के आधार पर बाहरी लोगों को ही रखा गया । सरकार ने यह भी न सोचा कि इन जमीन-दाताओं को कुशल कार्य के लिए प्रशिक्षण दिया जाय । इस एक व्यक्ति की नौकरी समाप्ति (रिटायर) के बाद उस परिवार के समक्ष भूखों मरने की नौबत आती है । क्योंकि इनके जीवन में कृषि के अलावा अन्य व्यवसाय नहीं है । आज सफल उद्योग वाले क्षेत्रों में बाहरी लोग (जिनको बसाया गया) मौज-मस्ती का जीवन जी रहे हैं । एवं जमीन मालिक विस्थापित होकर दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं । जहाँ उद्योग असफल हुआ वहाँ की जमीन बेकार पड़ी है । लेकिन सरकार उस जमीन को वापस नहीं दे रही है जिससे गरीब बेबस उराँव व अन्य आदिवासी परिवार अपना कृषि कार्य आरंभ कर सके । इस तरह से इनके मुंह का निवाला सरकार और अन्य जातियों तथा बाहरी लोगों (दिकुओं) द्वारा छीना जा रहा है । इस तरह औद्योगीकरण से उराँव और सभी आदिवासी समाज को नुकसान ही अधिक हुआ है ।

शहरीकरण

शहरीकरण का मूल शब्द शहर है । किसी शहर की उत्पत्ति या विकास अचानक नहीं होता बल्कि यह क्रमिक विकास की एक प्रक्रिया है जिसमें कई समुदायों के जीवन-पद्धति का समावेश ऊपरी तौर पर एक दूसरे समुदाय में होता है और यही प्रक्रिया धीरे-धीरे बढ़ते रहने के कारण विस्तृत अर्थ में शहरीकरण कहलाता है । शहरीकरण की प्रक्रिया में- एकान्त में बसने वाला, शान्त, वातावरण वाला गाँव आधुनिक सुख-सुविधाओं और कई बातों, मूल्यों के सम्मिश्रण से परिवर्तित होता जाता है एवं वह अपना प्रारम्भिक स्वरूप समाप्त कर लेता है । अर्थात् शहर एक समुदाय है जहाँ द्वितीय समूह, व्यापार तथा उद्योग, घनी आबादी, प्रकृति से दूर जीवन, आधुनिक मनोरंजन एवं एकांगी सम्बन्धों की विशेषता होती है ।

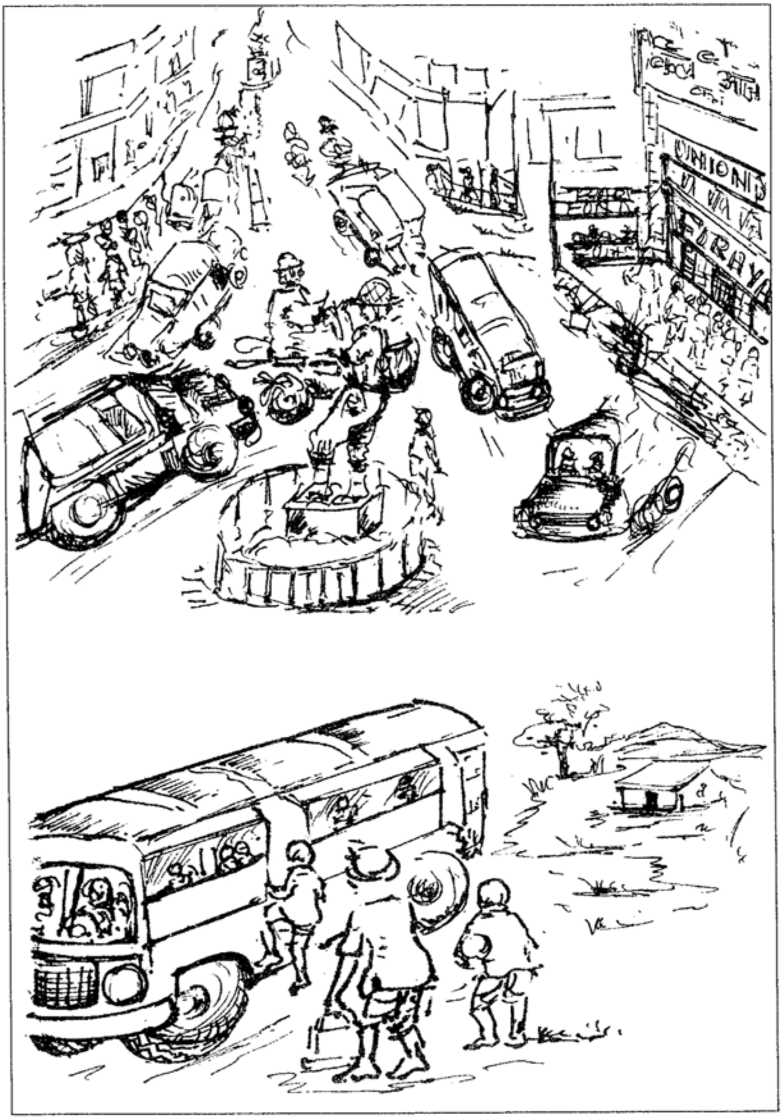
शहरीकरण शहरों की वृद्धि और विस्तार की व्यापक प्रक्रिया है । जहाँ भी आधुनिक उद्योग-धन्धे स्थापित किये जाते हैं वहाँ काम करने के लिए बाहर से कामगार आने लगते हैं । सत्ता स्वयं दिकुओं के हाथ में होने के कारण वे स्वयं कुशल एवं अनुभव वाले कर्मचारी के रूप में चुन लिए जाते हैं एवं यहाँ के विस्थापित स्थायी निवासी (जमीन दाता) अनुभवहीनता के आधार पर अकुशल कहकर दरकिनार कर दिया जाता रहा है । अब अनुभवी और कुशल कर्मचारी दिकुओं के इन कामगारों के निवास के लिए अच्छे मकान बनाये जाते हैं । इनके बच्चों की अच्छी शिक्षा-दीक्षा के लिए अच्छे स्कूल-कॉलेज का निर्माण किया जाता है । उनकी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार की विशालकाय दुकानें खुलती हैं, राजकीय कार्यालय खुलते हैं तथा अच्छे और मंहगे अस्पताल खुलते हैं । इन सभी औद्योगिक स्थलों, व्यापारिक केन्द्रों, स्कूल-कॉलेज, बाजारों एवं इनके निवास स्थानों को जोड़ने के लिए अच्छी सड़कों का निर्माण होता है । इन शहरों को रेल लाइनों द्वारा जोड़ दिया जाता है। शहरों में रोजगार की संभावना अधिक होती है । अत: ग्रामीण जनसंख्या काफी बड़ी तादाद में शहरों में आने लगती है एवं बस जाती है । इस दृष्टिकोण से कृषि के स्थान पर व्यवसाय को जीविका का साधन बनाने और गाँवों से नगरों, शहरों की ओर गमन करना शहरीकरण कहलाता है ।

उद्योग एवं आवागमन में वृद्धि के कारण झारखण्ड क्षेत्र में नगरों की संख्या बढ़ी है । छोटे-छोटे शहरों ने भी बड़े नगरों का रूप ले लिया है । इस प्रक्रिया से आदिवासी भी अछूते नहीं रहे । शहरीकरण के बढ़ते प्रभाव ने आदिवासी जीवन को काफी प्रभावित किया है । वे अब सामाजिक विघटन और समस्याओं से ग्रस्त हैं ।

औद्योगीकरण की तरह शहरीकरण ने भी आदिवासी संस्कृति, उनकी सामाजिकता, धार्मिक मूल्यों तथा परम्परागत स्वरूपों को बदल दिया है एवं इनके जीवन स्तर को नये ढंग से संवारने का प्रयास किया है । लेकिन क्या यह संभव है ? अपनी संस्कृति से दूर हटकर आदिवासी बिखर जायेंगे । इसलिए पुनः अपनी विचाराभिव्यक्ति में विक्टर तिग्गा कहते हैं- "संस्कृति से टूटकर कोई आदिवासी अपनी पहचान कायम रख पाने में सर्वथा असमर्थ होती है । संस्कृति रक्षा से ही आदिवासी की रक्षा संभव है और संस्कृति की विरासत को बचाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि आदिवासियों को उनके जंगल तथा जमीन से अलग नहीं किया जाय ।"[3]

शहरीकरण की प्रक्रिया ने आदिवासियों की सांस्कृतिक विशेषताओं में परिवर्तन लाया । यातायात की सुविधा उपलब्ध रहने के कारण विभिन्न जाति तथा धर्म के लोग शहरों में आकर बस रहे हैं । इससे आदिवासियों के सामाजिक, सांस्कृतिक क्षेत्र का विस्तार हुआ है । इस क्षेत्र विस्तृतता से इनके स्वच्छन्द जीवन में हस्तक्षेप हुआ है । वे अपने उत्सवों का भरपूर आनंद नहीं ले पा रहे हैं। आदिवासी परम्परा में सामूहिकता का गुण कम होता जा रहा है एवं इनकी पड़हा पंचायत का नियंत्रण शिथिल हुआ है । समाज के नियंत्रक पाहन, महतो, कोटवार, दीवान आदि की कोई पूछ नहीं है । अब आदिवासी भाई पंडित, पादरी और राजनीतिक नेता की बात मानते हैं ।

शहरीकरण ने संयुक्त परिवार को भी प्रभावित किया है । शहरी आदिवासी परिवारों में अब संयुक्त परिवार समाप्त होता जा रहा है । क्योंकि शहरी जीवन का मुख्य आधार नौकरी होता है और इस पद्धति में मुद्रा का महत्त्व अधिक होता है । अधिक मुद्रा पाने एवं शहरी जीवन की ललक ने इन आदिवासियों को अपनों से बिल्कुल अलग कर दिया। आज दादा-दादी, चाचा-चाची, बुआ आदि रिश्तों की महत्ता परिवार में नाम मात्र का है । इसका असर बच्चों के कोमल मन मस्तिष्क में हुआ है । आज के बच्चे कल के भावी नागरिक हैं। बचपन से इनके मन में एकाकी जीवन का असर पड़ता जाता है । वह बड़ों को आदर एवं छोटों को प्यार, स्नेह देना जैसी भावनाओं से अनभिज्ञ होता जाता है । दादा-दादी से मिलने वाला प्यार, शिक्षा, मनोरंजनात्मक क्षण, कहानी, हंसी-मजाक जैसे कीमती क्षणों से बच्चा वंचित होता जाता है । दादा-दादी, नाना-नानी अपने पोते-पोतियों को बहुत प्यार करते हैं। उन्हें कई अच्छी बातें, आदतें एवं मातृभाषा भी सिखाते हैं। लेकिन शहरीकरण के कारण एकांकी परिवार में रहने वाले बच्चे को ये सब नहीं मिल पाता । जहाँ इस मधुर सम्बन्ध से बच्चे कुछ सीखते हैं, वहीं दादा-दादी (बुजुर्ग) भी अपने उम्र के पड़ाव में अपना मनोरंजन करते हैं । उनके साथ अपना समय



शहरीकरण

व्यतीत करते हैं, एवं बच्चों को कुछ सीख देते हैं। इस हंसी-खुशी के माहौल में उनकी आयु स्वतः बढ़ जाती है । घर में बुजुर्गों की उपस्थिति से जहाँ दम्पति निश्चित होकर बाहरी कामों में ध्यान देते हैं वहीं बुजुर्गों को भी मान-सम्मान व प्यार मिलता है । बुजुर्ग अपने बच्चों की खुशियाँ देखकर खुश होते हैं। दूसरी ओर कामकाजी दम्पति के घर और बच्चों की देखभाल के लिए अलग से व्यक्ति रखने की जरूरत नहीं होती है । भारतीय परम्परा में जहाँ बुजुर्गों की सेवा को भगवान की सेवा माना गया है, वहीं आधुनिक युग में बुजुर्ग बोझ समझे जा रहे हैं। यह कुत्सित भावना मनुष्य को किस दिशा में ले जा रही है ?

आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण एवं शहरीकरण ने आदिवासी जीवन-पद्धति में परिवर्तन लाया हैं । परिवर्तन दुनिया का शाश्वत निमय है । समय के साथ परिवर्तन प्रकृति का नियम है । भला आदिवासी इससे अछूता कैसे रह सकते हैं। सभी परिवर्तन हानिकारक नहीं हो सकते। एक ओर जहाँ उन्हें सामाजिक नुकसान हुआ है, वहीं कुछ क्षेत्र में लाभ हुआ है । शहरों में शिक्षा, स्वस्थ, मनोरंजन तथा अन्य सुविधा उपलब्ध होने के कारण इनके जीवन-स्तर में सुधार हुआ है। शिक्षा का परम्परात्मक स्वरूप बदला है । आज अनेक विद्यालय विशिष्ट क्षेत्रों जैसे-चिकित्सा, तकनीकी आदि की शिक्षा दे रहे हैं। स्कूल कॉलेजों की संख्या बढ़ायी गयी है । शिक्षा में धर्म का प्रभाव घटा है और ये जाति विशेष तक सीमित न रहकर सार्वजनिक हो गया है । कोई भी व्यक्ति किसी भी धर्म की शिक्षा ग्रहण कर सकता है ।

इतने परिवर्तन के बावजूद आदिवासियों के जीवन में सरसता नहीं बल्कि नीरसता की बाढ़ आयी है, क्योंकि शिक्षा के नये स्वरूप में आदिवासी भाषा एवं संस्कृति को शामिल नहीं किया गया है। इससे इनके मन में हीन भावना का होना स्वभाविक ही है । ऐसे कई कारण हैं जिनसे इनके आत्म सम्मान को ठेस पहुँचती है ।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि इनके परम्परागत संस्कृति में विघटन एवं सामाजिक मूल्यों में जो कमी आयी है, इसकी भरपाई इन बढ़े हुए मुद्राओं एवं आधुनिकीकरण द्वारा नहीं की जा सकती है । अपनी विशिष्ट संस्कृति, विलक्षण सामाजिक समानता, पूर्वजों की धरोहर एवं समाप्त होते मूल्यों को पुनः पाने के लिए पूरे आदिवासी समाज को विस्तृत रूप से विचार मंथन करने की आवश्यकता है। साथ ही सरकार एवं अन्य समाज द्वारा आदिवासी समाज एवं संस्कृति को विशिष्टता के आधार पर अन्तः मन से स्वीकार करना होगा। आदिवासी समाज सिर्फ औपचारिक शिक्षा एवं आर्थिक रूप से पिछड़ा है । इस समाज के आदर्श एवं मूल्य विश्व के लिए अनुकरणीय हो सकते हैं।

आधुनिकीकरण

साधारणत: आधुनिक शब्द का अर्थ नया से लिया जाता है लेकिन नया शब्द का क्षेत्र सीमित हो जाता है । अत: विस्तृत अर्थ के लिए आधुनिक शब्द उचित है । इसी आधुनिक शब्द से आधुनिकीकरण शब्द बना ।

आधुनिक समाज में होने वाले परिवर्तनों या औद्योगीकरण के कारण पश्चिमी समाज में आये परिवर्तनों को समझने तथा दोनों में भिन्नता को प्रकट करने के लिए विद्वानों ने आधुनिकीकरण की आवधारणा को जन्म दिया। एक तरफ उन्होंने परम्परात्मक समाज को रखा और दूसरी तरफ आधुनिक समाज को ।

कुछ लोगों ने आधुनिकीकरण को एक प्रक्रिया के रूप में माना है तो कुछ ने एक प्रतिफल के रूप में ।

आइजन स्टंड के अनुसार- आधुनिकीकरण "ऐतिहासिक दृष्टि से उस प्रकार के सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था, की ओर परिवर्तन की प्रक्रिया है जो कि 17वीं से 19वीं शताब्दी तक पश्चिमी यूरोप तथा अमेरिका में और 20वीं शताब्दी तक दक्षिणी अमेरिका, एशिया व अफ्रीका के देशों में विकसित हुई ।"

अत: आधुनिकीकरण एक प्रक्रिया है जिसमें पारम्परिक व्यवस्था बदल कर नई व्यवस्था में परिवर्तित हो जाती है । डेनियल लरनर ने आधुनिकीकरण का वर्णन करते हुए अपनी पुस्तक 'पासिंग ऑफ दी ट्रेडिशनल सोसाइटी' में आधुनिकीकरण का एक ढाँचा प्रस्तुत किया है । उनके अनुसार किसी भी समाज में आधुनिकीकरण होने के लिए नगरीकरण सबसे पहले शुरू होता है, तब शिक्षा का प्रसार शुरू होता है । तब इसके राजनैतिक हिस्सेदारी तथा परानुभूति की स्थिति आती है । ये सब समाज में एक के बाद एक तब तक आते हैं जब तक कि एक का, एक निश्चित प्रतिशत अंक या अनुपात में विकास नहीं हो जाता । इन सब उपयुक्त बातों के होने के बाद ही किसी समाज में आधुनिकीकरण आता है । आधुनिकीकरण की अवधारणा को कई रूपों तथा कई नामों से व्यक्त किया गया है । जैसे अंग्रेजीकरण, यूरोपीकरण, पश्चिमीकरण, शहरीकरण, उप विकास, विकास-प्रगति आदि ।

यह औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं पश्चिमीकरण की तरह आधुनिकीकरण भी एक जटिल प्रक्रिया है । मिर्डल ने आधुनिकीकरण के लिए दो बातें बतायी है :-

(1) योजना (2) तर्कशीलता । इनके अनुसार जिस समाज में ये दोनों बातें साथ चलेंगी उस समाज में बहुत जल्दी ही आधुनिकीकरण आयेगा ।

डॉ० एस० एन० श्रीनिवास के अनुसार- आधुनिकीकरण का अर्थ अधिकांशत: अच्छाई से लिया जाता है । किसी भी देश के प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्पर्क के कारण

किसी गैर–पश्चिमी देश में होने वाले परिवर्तनों के लिए प्रचलित शब्द आधुनिकीकरण मताधिकार तथा तर्क का विकास आदि बातों को सम्मिलित किया है । डॉ० श्री निवास ने आधुनिकीकरण के तीन प्रमुख क्षेत्र बतायें हैं :

(1) भौतिक संस्कृति का क्षेत्र- इसमें तकनीकी भी सम्मिलित की जाती हैं

(2) सामाजिक संस्कृति का क्षेत्र

(3) ज्ञान, मूल्य एवं मनोवृतियों का क्षेत्र

ऊपरी तौर पर तो ये तीनों क्षेत्र भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हैं, परन्तु ये परस्पर सम्बर्नधित है । एक क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन दूसरे क्षेत्र को भी प्रभावित करते हैं।

भारत के प्रत्येक धर्म की अपनी परम्परागत धार्मिक विश्वास, दार्शनिक विचार धारायें और स्वीकृत आदेश नियम होते हैं जो समाज में एकीकरण विकसित करते हैं । सम्बन्धित समाज के लोग इनकी रक्षा करते हैं इसलिए वे आधुनिकीकरण के विचार का विरोध करते हैं । भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया केवल महानगरों एवं मध्यम श्रेणी के नगरों तक ही सीमित रही है ।

भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच संघर्ष की स्थितियाँ उत्पन्न होने से भी अवरोध उत्पन्न हुए। आज ग्राम पंचायतों, जिला परिषदों, विधान सभाओं और यहाँ तक की संसद में भी राजनैतिक व्यक्तियों का बहुमत रहा है ।

वर्तमान में भारत के आदिवासी क्षेत्रों में आधुनिकीकरण का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ रहा है। आज उनकी आर्थिक संस्थाओं, भक्ति संरचना तथा अन्तर्जातीय सम्बन्धों के क्षेत्रों में आधुनिकीकरण की दिशा में परिवर्तन आये हैं। आधुनिकीकरण एवं परंपरा को एक दूसरे का विरोधी माना जाता है । लेकिन इसका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता है कि परम्परागत समाज आधुनिक समाज से एकदम भिन्न है तथा आधुनिक समाज में परम्परा का कोई स्थान या महत्त्व नहीं । आधुनिक समाज भी पूर्णतः आधुनिक नहीं है । विज्ञान की तरह आधुनिकीकरण भी खुले उद्देश्य वाली प्रक्रिया है । विज्ञान ने बाह्य जगत् में परिवर्तन को भी तेजी से बढ़ाया है । लेकिन वह आन्तरिक जगत् के अर्थात् मनोवैज्ञानिक परिवर्तन की गति को तीव्र करने में असफल रही है । वर्तमान में झारखण्ड क्षेत्र के आदिवासी आधुनिकीकरण की चपेट में आ रहे हैं। इस संदर्भ में संचार माध्यमों के आधुनिकीकरण के फलस्वरूप बड़े शहरों से आने वाले उपभोगवादी संस्कृति के प्रभाव आँधी, तूफान की भांति झारखण्ड, छोटानागपुर जैसे गरीब प्रदेशों में प्रवेश करने लगे हैं। नयी संचार व्यवस्था का परिणाम है कि आधुनिकीकरण की प्रवृति का प्रदूषण भी

संक्रामक की तरह फैलने लगा है। आधुनिकीकरण के नाम पर पश्चिमी सभ्यता के नैतिक, आदर्श मूल्य और मान्यताएँ तथा आर्थिक विकास प्रणालियों का भी नकल किया जाना चाहिए था। लेकिन ये सब न होकर पश्चिमी देशों/महानगरों के अभद्र स्वरूप सामने आ रहे हैं। बाहरी दिखाऊ वस्तुओं (भौतिक संस्कृति) वेश-भूषा, उपकरणों, विलासी जीवन-शैली तथा बाहरी तड़क-भड़क के आधुनिक स्वरूपों को बड़े महानगरों से आसानी से लाया जा रहा है। इन दिखाऊ वस्तुओं को लाने वालों में अन्य जाति के धनाढ्य लोगों की कमी नहीं है झारखण्ड राज्य में। किन्तु, मूल्यों का नकल नहीं हो सकता और न ही उसे खरीदा जा सकता है। झारखण्डी आदिवासियों के रग-रग में यह समाया हुआ है लेकिन बाहरी भड़काऊ संस्कृति ने इसे विकृत करने की पुरजोर कोशिश की है एवं बहुत हद तक इसमें सफलता भी मिली है। ये वाक्य भारतीय संदर्भ में लिखे गये थे जो यहाँ झारखण्डी आदिवासी समाज के लिए सटीक प्रतीत होता है। लेकिन पूरनचन्द्र जोशी ने अपनी पुस्तक 'परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम' में लिखा है- ''सच्ची संस्कृति विश्व के सभी भागों से प्रेरणा लेती है लेकिन मुख्य रूप से उसकी जड़े अपने ही घर में, अपनी ही जमीन में होती है और वह व्यापक सर्व साधारण के जीवन पर आधारित होती है।''[4]

इस तरह हम देखते हैं कि आधुनिकीकरण नकल पर आधारित होता है अर्थात् आधुनिकीकरण कई विकृत रूपों को लेकर आता है जैसे- सामाजिक उथल-पुथल, सभी प्रकार की शारीरिक व्याधियाँ, दुर्बलता, दवा पर आधारित जीवन, क्षणभंगुर सुख, क्षणिक रोमांच और उत्तेजना इत्यादि। आज इस दिखावे की संस्कृति का परिणाम हमें जीवन के खोखलेपन की ओर ले जा रहा है। लेकिन आधुनिकीकरण का प्रभाव उराँव समाज पर चाहते हुए भी अधिक प्रभावी नहीं रहा। क्योंकि आधुनिकीकरण की राह पर चलने के लिए जिन आधारभूत तत्त्वों की जरूरत है वे साधन इनके (आदिवासी समाज के) पास पूर्णतः नहीं है। आधुनिक रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, घर-द्वार आदि के लिए अधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है। आधुनिकता की स्थिति यथावत् नहीं रहती। यह परिवर्तनशील है और सीमित साधन एवं मुद्रा में आधुनिकीकरण के पीछे भागना संभव नहीं है। उराँव समाज अपने भौतिक संस्कृति का ही आधुनिकीकरण थोड़ी मात्रा में कर सका है। इस समाज में अभौतिक संस्कृति स्वयं शाश्वत, वर्तमान संदर्भ में आधुनिक एवं मूल्यवान है। इसमें और आधुनिकीकरण की थोड़ी-सी आँच भी उराँव समाज को समाप्त करने के लिए काफी होगा।

पश्चिमीकरण

डॉ० एम०एन० श्रीनिवास ने सांस्कृतिक परिवर्तन के अध्ययन क्षेत्र में संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण की अवधारणाओं को उनके महत्त्वपूर्ण प्रयास माना है । इनका कथन है कि पश्चिमीकरण भारतीय समाज और संस्कृति में 150 वर्षों से अधिक समय के अंग्रेजी राज्य के परिणाम स्वरूप लाये गये। परिवर्तन और इस शब्द पश्चिमीकरण में विभिन्न स्तरों पर औद्योगिक संस्थाओं, विचारधारा तथा मूल्यों में होने वाले परिवर्तन सम्मिलित हैं। पश्चिमीकरण की अवधारणा के अन्तर्गत भारत में होने वाले ये सभी सांस्कृतिक परिवर्तन और संस्थात्मक नवीनतायें आ जाती है जो इस देश में पश्चिमी देशों मुख्यत: संयुक्त राज्य के साथ राजनीतिक एवं सांस्कृतिक सम्पर्क के कारण आये। इसके अन्तर्गत हम देखते हैं कि पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव में लोग पश्चिमी स्वरूप- पश्चिमी वेश-भूषा धारण करना, भोजन एवं आचार-विचारों में पश्चिमी देशों का अनुकरण करना तथा पश्चिमी विचारधारा का अनुकरण करना इत्यादि सभी कुछ सम्मिलित रहता है ।

पश्चिमीकरण के फलस्वरूप भारत में जहाँ कुछ नवीन संस्थाओं जैसे- समाचार पत्रों, चुनावों एवं ईसाई मिशनरियों का आना प्रारम्भ हुआ। साथ ही पुरानी संस्थाओं में कुछ परिवर्तन भी हुए। पश्चिमीकरण का प्रभाव लोगों के जीवन, रहन-सहन के तौर-तरीके पर भी काफी पड़ा।

आधुनिकीकरण व पश्चिमीकरण को कुछ विद्वानों ने समानार्थक अवधारणाओं के रूप में प्रयोग किया है। कई विद्वानों ने इस अवधारणा का प्रयोग पश्चिमी और गैर पश्चिमी समाजों की तुलना में किया है। इसका कारण यह रहा है कि पश्चिमी देशों के उपनिवेश एशिया, अफ्रिका तथा आस्ट्रेलिया महाद्वीप के देश रहे हैं।

पश्चिमीकरण का अर्थ पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के भौतिक व अभौतिक तत्वों को अपनाने से है। इसमें लोग अपनी परम्पराओं को छोड़ने और पश्चिम के रंग में रंगने लगते हैं। लेकिन आधुनिकीकरण के लिए समाज को अपनी संस्थाओं, मूल्यों, आदर्शों आदि को परिवर्तित एवं पुनर्व्यवस्थित करना होता है।

छोटानागपुर के जनजाति पश्चिमीकरण के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हैं। पश्चिमीकरण का प्रभाव प्रत्यक्षरूप से भारत देश पर अंग्रेजों के लम्बे शासनकाल में पड़ा । पश्चिमीकरण की प्रक्रिया ने सम्पूर्ण भारतीय जनजाति को प्रभावित किया और सभी प्रकार के परिवर्तनों को गति प्रदान की । यह परिवर्तन भारतीय

सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में उभरकर आया । विज्ञान के विकास तथा मशीनों के विस्तार के कारण पाश्चात्य संस्कृति व सभ्यता में अनेक महत्त्वपूर्ण विलक्षणताएँ उत्पन्न हुई । इसका प्रभाव विश्व के कोने-कोने पर फैला । भारत भी उनमें से एक है । ऐसे में भला आदिवासी समाज इससे कैसे बच पाते । उनका सीधा सम्बन्ध भारतीय पड़ोसी अन्य जातियों से था ।

भारत का पश्चिमी देशों से सम्पर्क सन् 1498 ई० में हुआ जब वास्कोडिगामा ने आशा अन्तरीप से होकर भारत के लिए समुद्री मार्ग की खोज की थी । समुद्री मार्ग मिलते ही डचों, फ्रांसीसियों, पुर्तगालियों तथा अंग्रेजों ने भारत से व्यापार करना आरंभ किया । कई वर्षों तक इन पाश्चात्य देशों का सम्पर्क भारत से केवल व्यापार का था । लेकिन बाद में भारत के हीरे, जवाहरात, सोने-चाँदी की जानकारी मिलते ही 18वीं शताब्दी के मध्य काल तक भारत के एक विस्तृत भूभाग तथा बर्मा पर अंग्रेजों का शासन स्थापित हो गया । इस दौरान भारतीय सूबे आपस में लड़ रहे थे । उस समय भारत की सामाजिक दशा अत्यन्त ही सोचनीय थी । इस बीच भारत में कई राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, एवं धार्मिक उथल-पुथल हुए । फलस्वरूप पश्चिमीकरण के कई अच्छे-बुरे परिणाम दिखाई देने लगे थे । हालांकि अलग-अलग अविष्कार के लिए कई महादेशों के विभिन्न देशों का हाथ है लेकिन इन चीजों व बातों से हमें परिचित कराने वाले अंग्रेज ही थे । इसी तरह भारत सामाजिक परिवर्तन के एक कारक के रूप में पश्चिमीकरण की जो प्रक्रिया क्रियाशील है वह वास्तव में पाश्चात्य संस्कृति के उस स्वरूप का प्रभाव है जिसे कि अंग्रेज शासक अपने साथ लाये और भारतीयों को उन सबसे परिचित कराया ।

पश्चिमीकरण एक अत्यन्त व्यापक व जटिल अवधारणा हैं । इसमें पाश्चात्य संस्कृति के सभी तत्वों का प्रसार भारतीय संस्कृति में हुआ है और यह कार्य अंग्रेजी शासन के दौरान हुआ । भारतीय कला, संगीत, धर्म, रीति-रिवाज आचार-विचार व मूल्य भी कुछ हद तक इससे प्रभावित हुआ । खान-पान के तौर तरीके और अभिवादन के तरीकों में भी पश्चिमीकरण असर संस्कृति पर देख रहे हैं ये सभी चेतन एवं अचेतन प्रक्रिया दोनों तरह से हुआ है । इससे उराँव व अन्य आदिवासी समाज भी प्रभावित हुआ । एक मानवीय गुण के तहत भौतिक संस्कृति सभी मनुष्यों को प्रभावित करता है जिससे आदिवासी भी अछूते नहीं रहे। तत्काल किसी को भी दूरगामी परिणाम की चिन्ता नहीं होती है। जो अनजाने इस तरह से पश्चिमीकरण की प्रक्रिया गाँवों, देहातों तक पहुँच गई ।

संस्कृतीकरण

19वीं शताब्दी के पाँचवें दशक में विदेशी ईसाई पादरियों के धर्म व शिक्षा प्रचार एवं सेवा भाव से प्रेरित होकर झारखण्ड के आदिवासी वाह्य संस्कृति के सम्पर्क में आने लगे। इसके बाद औद्योगीकरण की प्रक्रिया आरंभ होने के साथ ही उनका सांस्कृतिक सम्पर्क बढ़ने लगा। जनजातीय सामाजिक परिवर्तन के लिए संस्कृतीकरण, पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण, नगरीकरण इत्यादि प्रक्रियाएँ प्रमुख रूप से उत्तरदायी रही हैं।

विभिन्न भारतीय तथा विदेशी समाज वैज्ञानिकों ने संस्कृतीकरण की कई अवधारणाएँ प्रस्तुत की।

श्रीनिवास के अनुसार संस्कृतीकरण से तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा एक निम्न जाति उच्च जातियों की जीवन विधि, देवी-देवता, रहन-सहन, खान-पान आदि को अपनाती है और अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयास करती है। तत्पश्चात् इस से होने वाले परिवर्तनों के लिए पश्चिमीकरण शब्द का प्रयोग किया जो औद्योगीकरण, संस्थाएँ, विचारधारा एवं मूल्यों आदि विभिन्न स्तरों पर होने वाले परिवर्तनों को आत्मसात करता है।

संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में निम्न जातियाँ, जाति व्यवस्था में ऊँचा स्थान पाने के लिए अपने परम्परागत रहन-सहन और सांस्कृतिक व्यवहारों को त्याग कर उच्च जातियों की सांस्कृतिक शैली, विश्वास, संस्कार और विचाराधारा का अनुकरण करती हैं।

एम० एन० श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण के सिद्धांत का यही निष्कर्ष निकाला है। उनके अनुसार यह सिद्धांत भारत में हो रहे आधुनिक सामाजिक परिवर्तन को एक उर्ध्वगामी गतिशीलता के रूप में प्रस्तुत करता है जिसके अन्तर्गत निम्न जातियाँ अभिजन (उच्च) जातियों के सांस्कृतिक मूल्यों को ग्रहण कर सामाजिक पद मर्यादा क्रम में ऊपर उठती जा रही हैं और अभिजन जातियाँ पश्चिम के अधिनायक समाज के मूल्यों को ग्रहण करके अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा में उतरोत्तर वृद्धि करती जा रही हैं, मानों लघु परम्परा अपने को वृहद परम्परा में रूपान्तरित कर रही हों और वृहद परम्परा अपने को आधुनिकता में बदल रही हों।

उराँव जाति में सांस्कृतिक प्रभाव के प्रमुख तत्व

कुछ समाजशास्त्री संस्कृति के प्रसार को संस्कृतीकरण मानते हैं। मजुमदार एवं मदन- के अनुसार "जब संस्कृति के कुछ तत्व अथवा प्रतिभाएं दूसरी संस्कृतियों में बढ़ने लगते हैं तब इसका तात्पर्य केवल 'सांस्कृतिक प्रसार' से होता है। लेकिन जब किसी दूसरी संस्कृति के प्रभाव से एक समूह का सम्पूर्ण जीवन परिवर्तन की प्रक्रिया में आ जाता है तब इस स्थिति को हम संस्कृतीकारण कहते हैं।" संस्कृतीकरण की अवधारणा पर टिप्पणी करते हुए योगेन्द्र सिंह ने कहा कि इस अवधारणा के दो अभिन्न अंग हैं 1. ऐतिहासिक और 2. सन्दर्भात्मक। ऐतिहासिक सन्दर्भ में भारतीय समाज के इतिहास में संस्कृतीकरण सामाजिक गतिशीलता की एक प्रक्रिया रही है। सन्दर्भात्मक संदर्भ में संस्कृतीकरण सापेक्षिक भाव में परिवर्तन की एक प्रक्रिया है। प्रक्रिया का महत्त्व और बाहुल्य हर क्षेत्र और यहाँ तक की हर गाँव में भिन्न-भिन्न पाया जाता है क्योंकि ये संदर्भ से सम्बन्धित आंतरिक कारकों और उनसे जुड़े हुए बाह्य कारकों पर निर्भर करते हैं।

संस्कृतीकरण की अवधारणा में कई कमियाँ है। इसके द्वारा केवल सामाजिक सांस्कृतिक गतिशीलता बहुत ही सीमित ढंग से होता है। प्रारंभ में श्री निवास ने इस क्रिया को 'ब्रह्मणीकरण' के संदर्भ में सोचा था। परन्तु उसके बाद अध्ययनों में यह उल्लेख किया गया था कि भिन्न जातियों के सदस्यों ने उन समूहों की जीवन-प्रणालियों का अनुसरण किया जो कि अनिवार्यतः ब्राह्मण नहीं थे। योगेन्द्र सिंह के अनुसार संस्कृतीकरण द्वारा सामाजिक व्यवस्था पर दबाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में लेखक पूरनचन्द्र जोशी अपनी पुस्तक 'परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम' में लिखते हैं- "इस प्रकार जैसे ही पुराना सामाजिक ढांचा ढह गया, वैसे ही पुरानी संस्कृति भी नष्ट होती गयी। वे लोकगीत जो हल चलाने के समय गाये जाते थे, धीरे-धीरे भुला दिए गये- जब हल चलाना ही बन्द हो गया।"[5]

श्रीनिवास के अनुसार स्वतंत्र भारत में धर्म-शिक्षा तथा प्रजातांत्रिक मूल्यों में होने वाली वृद्धि से भी संस्कृतीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिला। आदिवासियों ने शक्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए धर्मनिरपेक्ष तथा लौकिक मूल्यों को आवश्यक समझा और अपने सांस्कृतिक व्यवहारों में इस प्रकार का संशोधन करना आरंभ कर दिया जिससे अन्य समूहों के समकक्ष अपने को प्रतिष्ठापित कर

सकें। औद्योगिक नगरों के विकास के साथ ही विभिन्न स्थानों से विभिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के लोगों के बसने के कारण आदिवासी संस्कृति प्रभावित हुई। इसलिए पूरनचन्द्र जोशी ने इसी पुस्तक में लिखा है- "आधुनिक उद्योग और बढ़ते हुए नगरीकरण के प्रभाव में लोक संस्कृति नष्ट होती गयी। कोई भी व्यक्ति औद्योगिक नगरों में दीर्घ काल तक ग्राम्य संस्कृति को संजोये नहीं रख सकता था।"[6]

संस्कृतीकरण के अप्रत्यक्ष श्रोतों में अंग्रेजी शासनकाल में उपलब्ध होने वाले नवीन आर्थिक अवसरों का विशेष महत्त्व रहा है। इन अवसरों का लाभ उठाने के लिए अंग्रेजी का ज्ञान आवश्यक था। लेकिन आदिवासी गाँवों में निवास करने के कारण उनके शैक्षणिक संस्थाओं एवं परम्पराओं के अभाव में अंग्रेजी के ज्ञान का प्रसार बहुत कठिन था। आदिवासियों ने यह महसूस किया कि राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करना आवश्यक है। फलतः आदिवासी आन्दोलन हुए। उनकी समूहों की गतिशीलता में लौकिक कारकों की भूमिका पर जोर दिया गया।

डॉ० श्रीनिवास ने इस अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कि इधर जनजातियों में शिक्षा का प्रसार क्रमशः बढ़ रहा है तथा नए उद्योग-धन्धों के प्रचलन के कारण इन जातियों की आर्थिक एवं शैक्षणिक स्थिति में परिवर्तन आ रहा है। इसलिए वे अपनी सामाजिक स्थिति को भी बदलने का प्रयास कर रहे हैं।

सामाजिक स्थिति बदलने का अर्थ भौतिक परिवर्तन से होना चाहिए न कि जाति परिवर्तन से। जैसा कि डॉ० श्रीनिवास महोदय ने बार-बार तथाकथित 'निम्न जाति से उच्च जाति में जाने का प्रयास' की बात कही है। मेरे विचार से यह सर्वथा गलत प्रतीत होता है। सामाजिक स्थिति को बदलने का प्रयास करना अर्थात् वर्तमान संदर्भ में जीवन शैली, सोच-विचार और भौतिक परिवर्तन से हैं। इसका कदापि यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि कोई निम्न जाति उच्च जाति में जाने की इच्छा रखता हो। पहली विचारणीय तथ्य भारतीय जाति व्यवस्था में उच्च और निम्न जाति के आधार पर मनुष्य को बाँटने का आधार ही गलत है। हम मनुष्यों को यह अधिकार प्राप्त नहीं है कि हम मनुष्यों को उच्च और निम्न वर्ग, जाति में बाँटे। इस तरह बँटावारा कर मनुष्य मन को दुखी करने का अधिकार किसी को भी नहीं है। मनुष्य अपने मानवीय कर्मों से उच्च और अमानवीय कर्मों से निम्न हो सकता है। अतःकिसी समाज, समुदाय और जाति को उच्च या निम्न कहना आधारहीन एवं तथ्यहीन विचार है। यह हिन्दु संस्कृति और भारतीय संस्कृति की संकीर्ण और क्षुद्र मानसिकता को दर्शाता है। यह बौद्धिक, साहित्यिक और विद्वानों की सोच नहीं हो सकती है। इस तरह की

सोच बाह्य आडंबर एवं एक अहं को दर्शाती है । युग, काल और समय के अनुसार भौतिक, अभौतिक संस्कृतियों में परिवर्तन होता रहता है । यह प्रकृति का नियम है । इसे कोई भी नहीं रोक सकता । इसलिए इन परिवर्तनों को मानवीय स्वभाव के अन्तर्गत हमें स्वीकार करना चाहिए और अपने मन के अहं एवं स्वार्थपरता को समाप्त करना चाहिए ।

ब्राह्मण, शुद्र, क्षत्रिय और वैश्य में उच्च एवं निम्न जाति के दर्जा की बात मानवीय संदर्भ में हास्यास्पद है । प्रत्येक संस्कृति की अपनी विशेषता है । प्रत्येक संस्कृति में संगतियाँ और विसंगतियाँ हैं । अत: उन विसंगतियों को समाप्त कर संगतियों से प्रत्येक संस्कृति को जोड़ना चाहिए जिससे मानवीय गुणों का विकास प्रत्येक व्यक्ति में हो । प्रत्येक धर्म समाजोपयोगी तथ्यों द्वारा समाज का मार्गदर्शन करती है और प्रत्येक मनुष्य को मानवीय गुणों की शिक्षा देती है । इनसे सभी मनुष्यों को जुड़ना चाहिए न कि आडम्बरों से ।

हर एक मनुष्य की जीवन पद्धति अलग-अलग होती है जो उनके आर्थिक आधार पर निर्भर करता है । अत: आर्थिक स्थिति में सुधार के कारण उनके जीवन पद्धति में भी बदलाव आता है । इस बदलाव को विद्वानों द्वारा यह परिभाषित करना कि निम्न जातियाँ उच्च जाति में जाने के लिए ये बदलाव करते हैं बिलकुल ही गलत धारणा है । इन तथ्यों और परिभाषाओं से आभास होता है कि एक शिक्षित वर्ग भी इस तरह के घृणित मानसिकता से ग्रसित हैं । इनमें स्वयं भी उच्च जाति के होने का अहं है । इसे उचित नहीं कहा जा सकता है । जाति प्रथा की उत्पत्ति ही अहं एवं स्वार्थपरता को दर्शाता है । गरीबी और अमीरी, सुख और दु:ख जीवन के दो पहलू हैं । इन सभी से संस्कृति एवं संस्कृतीकरण का अटूट सम्बन्ध है । अत: डॉ० श्रीनिवास के अनुसार संस्कृतीकरण के तात्पर्य की व्याख्या को उचित व सही नहीं कहा जा सकता । क्योंकि जीवन विधि - रहन-सहन, खान-पान इत्यादि मनुष्य के आर्थिक स्तर पर निर्भर करता है । इसलिए डॉ० श्रीनिवास के अनुसार संस्कृतीकरण का तात्पर्य जीवन विधि- रहन-सहन, खान-पान, विचारधारा इत्यादि किसी उच्च जाति या निम्न जाति द्वारा पेटेन्ट नहीं कराया गया है जो कि किसी उच्च जाति और निम्न जाति का इसमें एकाधिकार हो जाता है । इसी तरह लेखक रवीन्द्र नाथ मुखर्जी ने भी पुस्तक 'भारतीय समाज व संस्कृति' में डॉ० श्रीनिवास के कथनों का समर्थन करते हुए लिखा है "आमतौर पर ऐसे परिवर्तनों के बाद वह जाति, स्थानीय समाज में परम्परागत रूप में जातीय सोपान में जो स्थान या स्थिति (Status) उसे मिला हुआ है, उससे ऊँचे स्थान का दावा करने लगती है । साधारणत: बहुत

दिनों तक और वास्तव में एक दो पीढ़ियों तक दावा किये जाने के बाद ही उसे स्वीकृति मिलती है ।" डॉ० श्रीनिवास महोदय एवं डॉ० मुखर्जी के उक्त विचार मनुष्य के लिए उपयोगी नहीं हो सकते । दरअसल भारतीय जाति व्यवस्था की नींव का आधार ही गलत है जिसमें मनुष्य को उच्च व निम्न श्रेणी में बाँटा गया है । इस तरह जाति व्यवस्था को बनाने वाला, जाति में उच्च और निम्न की व्यवस्यथा तथा उसे स्वीकृति देने वाला मानव समाज का तथाकथित ठेकेदार कौन है और उस ठेकेदार को किसने नियुक्त किया है ? यह एक विचारणीय प्रश्न है । पूरे विश्व में मानव कई समाज में बँटा है जो विभिन्न धर्मों को मानता है । सभी समाज के अपने संस्कार और संस्कृति हैं और वे विशेष महत्त्व रखते हैं । ये प्रत्येक संस्कार और संस्कृति स्थान विशेष के भौगोलिक वातावरण से प्रभावित होते हैं । अतः निम्न और उच्च की संकल्पना वर्तमान युग में व्यर्थ है । किसी जमाने में स्वार्थपरता में अंधे होकर दबंग लोगों द्वारा बनाये गये इन बेतुकी बातों व परम्परा को समाप्त करना चाहिए । यही समय की मांग है । वर्तमान आधुनिक युग में शिक्षा की महत्ता को समझना चाहिए । एक शिक्षित समाज का नवनिर्माण होना चाहिए जहाँ मानव समाज समान हो एवं उच्च, निम्न का भेदभाव न रखता हो । प्रत्येक समाज की अच्छी बातों, अच्छे संस्कारों का आदान-प्रदान हो जिससे एक स्वच्छ समाज की नींव पड़े । इससे हम एक स्वस्थ देश और विश्व की कल्पना कर सकें ।

कर्म, धर्म, पाप, माया, संसार, मोक्ष आदि सभी समाज के लोकप्रिय और आध्यात्मिक शब्द हैं । अतः इन शब्दों को जाति विशेष से जोड़कर, समाज को तोड़ना साहित्य की हत्या करना है । ऐसे विचार एवं लेखन से किसी का भला नहीं हो सकता ।

प्रत्येक समाज में, प्रत्येक धर्म में जन्म, विवाह व मृत्यु संस्कार किये जाते हैं । इसके अन्तर्गत कई विधि-विधान एवं दस्तूरों का समावेश होता है । इन सभी क्रियाओं का एक विशेष अर्थ होता है जिससे समाज निर्देशित होता है । इन सभी क्रियाओं को सभी अलग-अलग नामों से जानते हैं । इसलिए यह निम्न व उच्च जाति या, संस्कार या, क्रिया-कलाप की अवधारणा गलत है । आदिवासी समाज के मूल्य एवं अवधारणाएँ (समानता, सहयोगिता, सहभागिता, सामुदायिकता, विवाह-विच्छेद, पुनर्विवाह, विधवा विवाह, बाल विवाह का न होना, प्रकृति प्रेम, प्रकृति पूजा) गलत हैं ?

वर्तमान में राज्य सरकार व केन्द्र सरकार इन सभी मुद्दों से सम्बन्धित कई अच्छी बातों का प्रसारण कराती है जिससे प्रत्येक समाज में ये अच्छी बातें आयें

और समाज में अमन चैन रहे। कई समाज में इन सभी के विपरीत संस्कार थे वे आज आदिवासी समाज के इन अच्छाइयों को स्वीकार करते हैं। उपरोक्त विद्वानों के संस्कृतीकरण की परिभाषा को मानें तो "एक उच्च जाति ने निम्न जाति, जनजाति में स्थान पाने का दावा किया।" ऐसे संकीर्णताओं से हमें बचना चाहिए।

श्रम विभाजन

श्रम का अर्थ है 'मेहनत' अर्थात् मेहनत का कार्य। जिससे प्रत्येक व्यक्ति जुड़ा हुआ है एवं कार्य से जुड़े हुए ऐसे व्यक्तियों के समूह का एक समाज है। श्रम जिस भी तरह का हो, उससे आर्थिक अर्जन हो या न हो लेकिन वह मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करता हो चाहे वह एक ही व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति करता हो या पूरे परिवार की। यदि एक व्यक्ति सुबह-सुबह दौड़ लगाता है तो यह भी उसके स्वयं (अपनी शारीरिक क्षमता में वृद्धि) के लिए श्रम कर रहा है।

विभाजन का अर्थ है- बंटवारा। अर्थात् कार्य का बंटवारा। मुख्य बात तो यह है कि सर्वप्रथम सृष्टि ने ही स्त्री-पुरुष के लिए श्रम विभाजन का कार्य किया है इसलिए प्रजनन का कार्य स्त्री को मिला है। यह एक ईश्वरीय देन है। प्राकृतिक रूप से विभाजन के पश्चात् मानव समाज ने स्वयं श्रम का विभाजन किया जिसमें स्त्री को घरेलू एवं हल्के कामों का जिम्मा सौंपा गया एवं पुरुष बाहरी एवं कठिन कार्यों को करने लगा। इस तरह का बंटवारा किसी ने, किसी को सौंपा एवं ऐसा नियम बनाया यह कहना कठिन है। लेकिन मानव मस्तिष्क ने जैसे-जैसे विकास किया श्रम विभाजन स्वतः होता गया एवं पूर्ण विकसित (मेधावी मानव) ने इसे आसानी से स्वीकार कर लिया।

यह सिलसिला सदियों चलता रहा लेकिन वर्तमान आधुनिक युग में इस पुरानी परम्परा को तोड़ दिया गया एंव ईश्वरीय देन को छोड़कर बाकी आर्थिक उपार्जन के क्षेत्रों में श्रम विभाजन की सीमा को लांघा गया। स्त्री एवं पुरुष ने एक दूसरे के श्रम क्षेत्र में बखूबी कदम रखा है। आज प्रत्येक क्षेत्र में स्त्री एवं पुरुष मिलकर कार्य कर रहे हैं।

झारखण्ड के सभी आदिवासियों के बीच श्रम विभाजन पाया जाता है। उराँव समाज में श्रम विभाजन का विशेष महत्त्व है। शिक्षा एवं आधुनिकीकरण का प्रभाव उराँव समाज पर भी पड़ा है। शिक्षा तथा नौकरी के क्षेत्र में इन्होंने भी श्रम विभाजन की सीमा रेखा को पार किया है। भले ही प्रतिशत कम रहा हो।

इस आधुनिकता की दौड़ में उराँव समाज भी अपनी रफ्तार से शामिल है। लेकिन फिर भी इस समाज की कुछ परम्परा एवं नियमें हैं जो श्रम विभाजन में लागू होती है। महिला की शारीरिक बनावट एवं समय-समय पर होने वाले शारीरिक परिवर्तन (गर्भावस्था के दौरान) एवं मासिक धर्म के समय होने वाली परेशानियों एवं तकलीफों को ध्यान में रखकर कुछ नियम बनाये गये जो इस प्रकार है :-

खेतों में हल नहीं जोतना एवं छप्पर नहीं छारना - उराँव समाज में महिलाएँ हल नहीं जोत सकती। यह निषेध समाज द्वारा बनाया गया है। फिर भी परिवार एवं समाज द्वारा क्षुब्ध महिला कभी-कभी यह दुस्साहस कर बैठती है और ऐसी परिस्थिति में समाज द्वारा महिला को दण्डित किया जाता है। हालांकि वर्तमान युग में यह सही नहीं है। मानव-समाज का दायरा विस्तृत हो गया है। पूरी दुनिया ही एक समाज है। तभी तो एक दूसरे की अच्छाइयों को सभी ने अपनाया है। कल्पना चावला आज एक मिशाल है। जहाँ ऐसी महिलायें हों वहाँ हल न जोतने देना और छप्पर छारने न देना महिलाओं को सोचने एवं विद्रोह करने के लिए मजबूर करता है। उराँव समाज में महिला द्वारा छप्पर छारना भी अपराध माना जाता रहा है । एवं यह कार्य करने पर महिला को दण्ड भरना पड़ता है। छप्पर में चढ़ने वाली महिला या वह छोटी बच्ची क्यों न हो उसके कान को छेद कर कान से खून अवश्य ही निकाला जाता है। महिलाओं का इस प्रकार निषेध के पीछे उराँव समाज की मान्यता क्या है, इस पर विशेष कार्य करने की आवश्यकता है ताकि इसके पीछे छिपी विशेषता या ढकोसला उजागर हो सके एवं इससे होने वाले लाभ व हानि समाज के सामने रखा जा सके।

इन दो मुख्य निषेधात्मक श्रम विभाजन के अलावा उराँव समाज की स्त्रियाँ घर एवं बाहर के प्राय: सभी कामों में बराबर ही हिस्सेदार होती है अर्थात् सभी कामों में सहभागिता निभाती है। बल्कि यह कहा जा सकता है कि महिलाएँ अधिक कार्य करती है। श्रम विभाजन में प्राय: यह देखा जाता है कि कार्य को दो भागों में बाँटा जाता है। घरेलु कार्य एवं बाहरी कार्य। प्राय: देखा जाता है कि महिलायें घर के कार्यों को करती है एवं पुरुष घर के बाहर के कामों को। लेकिन उराँव समाज की महिलायें घर के कामों को जल्द से जल्द निपटाकर बाहरी कामों में लग जाती है। बाहर के कामों में जंगल से लकड़ी लाना, फल-फूल, कन्द-मूल, जड़ी-बूटी इत्यादि इकट्ठा करना साथ ही कृषि कार्य शामिल है। पानी यदि दूर से लाना पड़े तो यह भी बाहरी कामों में शामिल होगा।

उराँव जाति में सांस्कृतिक प्रभाव के प्रमुख तत्व

उराँवों का निवास स्थान प्राय: जंगल, पहाड़ों पर होता है जहाँ उन्हें पीने या अन्य कार्यों के लिए पानी बहुत दूर से ढोना पड़ता है। कई गाँव पहाड़ों पर बसे हैं। वे पानी लेने के लिए पहाड़ से नीचे आते हैं। पानी भरना महिलाओं का कार्य माना जाता है। अपने इन रोजमर्रा के कार्य के अलावा उराँव महिलायें गाय, बैल, बकरी चराती हैं, कुएँ, तालाब या चौका खोदना, मिट्टी ढोना, कुएँ से खींचकर या अन्य तरीके से खेतों की सिंचाई करना, फसल काटना, मिसना एवं उसे घर के अन्दर ले जाना तथा अपने उत्पादित सामान बाजार ले जाना एवं खरीद-बिक्री इत्यादि सभी कार्यों को बखूबी निभाती हैं।

रोजमर्रा के जरूरी कार्य समाप्त करने के पश्चात् वे दोपहर (आराम करने के वक्त) में कुछ अन्य कार्यों को करती हैं। जैसे- झाड़ू, चटाई बीनना, बिन्डो, पुआल का पीढ़ा बनाना तथा बेनया (पंखा) एवं रस्सी बनाना इत्यादि। कुछ महिलायें सिलाई-कढ़ाई में बहुत निपुण होती है। वे अपने पहनने वाले पारम्परिक कपड़ों में सुन्दर फूलों की कढ़ाई करती हैं एवं किनारें में फुदना डालती हैं। कढ़ाई एवं फुदना बनाने में रंग-बिरंगें धागों का समिश्रण इनकी कलाकारी को प्रदर्शित करता है। विद्वान डॉ० श्याम सिंह शशि ने 'भारत के यायावर' में लिखा है – "पूर्वांचल प्रदेश की भोटिया स्त्रियाँ तथा इम्फाल की नागा महिलायें डिजायनदार वस्त्र तथा गलीचे आदि बनाती हैं।"[7] आभूषणों के रूप में रंग-बिरंगे मोतियों को पिरोकर माला बनाती है एवं कानों में पहनने के लिए 'बिड़ियों' बनाती है। 'जूड़े' एवं 'पटवा' (पुरुषों के लम्बे बालों को समेटने का बेल्ट) में खोंसने के लिए पक्षी (बगुला के) पंखों द्वारा 'टैंईया' का निर्माण करती हैं। इस तरह के सिलाई-कढ़ाई एवं बुनाई से इन्हें स्वयं आर्थिक बचत तो होती ही है कुछ बेचकर वे पैसा भी कमाती हैं एवं संगी-साथियों एवं परिवार के लिए बनाकर प्यार, सहयोग एवं अपनापन का भाव बनाकर भी रखती हैं।

घर में रहने वाले बुजुर्ग (बूढ़े-बूढ़िया) घर एवं घर के छोटे बच्चों की देखभाल करते हैं। घर के पशु पक्षी जैसे- कुत्ते, बिल्ली, मुर्गी बत्तख, कबूतर आदि की देख-भाल करते हैं। घर में रहकर अनाज सुखाना या कपड़े सुखाना जैसे छोटे-छोटे कामों को संभालते हैं। घर के बच्चे यदि बड़े हों तो वे माता-पिता के काम में हाथ बँटाते हैं। और यदि छोटे आठ-दस साल के हैं तो वे अपने छोटे भाई-बहनों की देखभाल करते हैं एवं बुजुर्गों के साथ घर में रहते हैं।

प्रायः यह देखा जाता है कि उराँव और अन्य आदिवासी समाज में महिलाएं घर के अलावा बाहर के कामों में पूर्णतः पुरुष के लिए सहयोगी हैं लेकिन पुरुष घर के कामों में महिलाओं को सहयोग नहीं करते हैं। चाहे वह जितनी भी थकी मांदी एवं पस्त हो गयी हों। बाहरी कामों से लौटकर पुनः घर के कामों में लग जाती है। घर की सफाई करना, पानी भरना, खाना बनाना एवं बिस्तर बिछाना तक सारे काम स्त्रियों के माने जाते हैं। पानी भरने के लिए स्त्री को कोस भर भी जाना पड़े। लेकिन पुरुष पानी भरने या घर के अन्य कार्यों में स्त्री का सहयोग नहीं करते।

उच्च शिक्षा

प्राचीन काल से शिक्षा को एक पुनीत एवं उदात्त कार्य माना जाता रहा है। शिक्षा मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में बहुत ही सहायक है। इसलिए राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने कहा था कि "शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना है।"

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही भारत में शिक्षा को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा है और आने वाली पीढ़ी को अच्छी आधुनिक एवं व्यवहारिक शिक्षा देने के नये-नये तरीके अपनाये जा रहे हैं। देश का भविष्य बहुत हद तक इसी बात पर निर्भर करता है कि देश के नागरिकों को किस स्तर / प्रकार की शिक्षा प्राप्त है। शिक्षा किसी भी समाज और राष्ट्र का अनिवार्य अंग है। इसी के आधार पर प्रगति हासिल होता है और मनुष्य उज्जवल भविष्य का निर्माण करता है। विकास की इस प्रक्रिया को सतत् गतिमान बनाये रखने के लिए जन साधारण की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। भारतीय समाज के निर्माण में आदिवासियों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। ये भारतीय समाज के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इनकी उपेक्षा एवं अवहेलना से देश का विकास कभी संभव नहीं हो सकेगा। आज इनकी स्थिति बहुत ही चिन्ताजनक हैं। वर्तमान में देश को एक ऐसे उत्तम शिक्षा पद्धति की आवश्यकता है जो विकास के मार्ग में पथ-प्रदर्शक का काम कर सके।

शिक्षा का सम्बन्ध मानव के जीवन से है। यह जीवन की स्थितियों और उसकी समस्याओं के समाधान में व्यक्ति की सहायता करता है। मनुष्य का जीवन समाज सापेक्ष है और समस्यायें समाज से प्रभावित होती है।

उराँव समाज में कुछ निश्चित नियम कानून होते हैं, तौर-तरीके होते हैं, चाल व्यवहार होते हैं। व्यक्ति को इन नियम-कानून तथा तौर-तरीकों आदि को जानना सीखना होता है और इसके अनुसार अपना जीवन बिताना होता है।

उराँव समाज में शिक्षा का जन्म इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुआ। जैसे- धुमकुड़िया, पड़हा आदि।

उराँव जाति में सांस्कृतिक प्रभाव के प्रमुख तत्व

इनके समाज में तरह-तरह के शिक्षा का विचार प्रचलित था। समाज की सांस्कृतिक स्थितियों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन को देखते हुए उनके विचारों की विविधता बहुत बढ़ गयी। समाज की राजनैतिक व्यवस्थायें जब प्रजातांत्रिक हो रही थी तब उनकी आर्थिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन आया। आदमी की क्षमता एवं शक्ति के उपयोग नये-नये ढंग से होने लगे थे। लोग अधिकतम लाभ उठाने के लिए ललायित हो उठे। ऐसे समय में विचारकों का ध्यान स्वभावतः शिक्षा की ओर गया और तरह-तरह के शिक्षा-सिद्धांत प्रतिपादित किये गये।

मानव-सभ्यता के इतिहास में मनुष्यों के समक्ष शिक्षा एक प्रश्न चिह्न लेकर खड़ी हो गयी। कृषि तथा औद्योगिक एवं वैज्ञानिक उपलब्धियों के समक्ष वर्तमान शिक्षा बेमेल दिख पड़ी। इस परिवर्तन ने हमारे जीवन के हर पल को उद्वेलित किया। साथ ही सामाजिक शिक्षा की व्यवस्था पर भी यह प्रश्न चिह्न उठने लगा कि हमारे बच्चों की शिक्षा कैसी हो ?

छोटानागपुर में ब्रिटिश शासन का प्रारंभ लगभग 1765 ई० में हुआ और 1833 ई० तक ब्रिटिश सरकार ने छोटानागपुर के पारम्परिक शासन व्यवस्था पर सक्रिय रूप से दखल देना शुरू किया।

1845 ई० में पहली बार जर्मन इभानजीलिजक पास्टर मिशन के ईसाई राँची आये, 1869 में एंगलिकन मिशन राँची आये। ये तीनों मिशन मिलकर 1909 में छोटानागपुर के विभिन्न इलाकों में जाकर आदिवासियों से सम्पर्क स्थापित किया। बहुत सारी शिक्षण संस्थायें, जैसे- माध्यमिक स्कूल, हाई स्कूल, ट्रेनिंग स्कूल खोले गये।

दूसरी तरफ बिहार में सन् 1835 के बाद व्यक्तिगत शिक्षा में ही नई धारा का सूत्रपात हो चुका था। अलग शिक्षा पद्धति को प्रोत्साहन दिया जाने लगा। 2 जनवरी 1863 ई० को पटना कॉलेज की स्थापना की गई। इसे आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में गौरव स्थान प्राप्त है। 1917 ई० में पटना विश्वविद्यालय की स्थापना से उच्च शिक्षा का एक नया अध्याय आरंभ हुआ।

इसके बाद गाँव की औपचारिक शिक्षण संस्थायें लुप्त होती गई। जो एक व्यक्ति अपने परम्परागत जातीय व्यवस्था का प्रशिक्षण अपने पुरखों से प्राप्त करता था वह अब नहीं रहा।

आधुनिकीकरण के साथ-साथ आदिवासी जीवन में भी परिवर्तन होता रहा है। इनके बच्चे अब मिशन के अंग्रेजी स्कूल में दाखिला लेने लगे हैं। बच्चे पढ़ लिख लेने के बाद में अपनी मातृभाषा को बोलने में शर्म महसूस करते हैं। हमारे देश में शैक्षिक, वैज्ञानिक और सरकारी हलकों में विभिन्न आदिवासी जैसे- गोंड, मुंडा, उराँव और संथाली आदि को कबिलायी भाषाओं के संसर्ग में रखा जाता है। इन समुदाय के आर्थिक तथा सामाजिक पिछड़ेपन को रेखांकित किया

जाना आवश्यक है जो उन्हें अब तक विवेचित भाषाओं के बोलने वालों से अलग करता है । राज्य के विभिन्न प्रादेशिक भाषा और प्रशासनिक नानारूपता की अवस्थाओं में इस पिछड़ेपन ने कुडुख़ भाषा की विकास को रोके रखा है, यह केवल एक भाषा के प्रभाव में नहीं है । आज उराँव युवक-युवतियों के जीवन में नीरसता और असफलता देखी जाती है । इसका कारण भाषा की समस्या है ।

जहाँ उराँव बच्चों को प्राथमिक शिक्षा का ज्ञान अपनी मातृ-भाषा में होनी चाहिए वहीं उसे द्विभाषा सीखने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है । जिसका ज्ञान प्रतियोगिता के ख्याल से दूसरे छात्र-छात्रों को उच्च वर्ग में दिया जाता है । उसे उराँव बच्चों को प्राथमिक स्तर पर ही द्विभाषा का अतिरिक्त भार ढोना पड़ता है इसके कारण उन्हें प्राथमिक भाषा का ज्ञान भी नहीं मिल पाता है । इससे उसे असफलता का मुंह देखना पड़ता है । वर्तमान समय के इन परिस्थितियों को देखते हुए माता-पिता अपने बच्चों को बचपन से ही प्रादेशिक भाषा के अनुकूल बोलना सिखाते हैं । जो बाद में उसके लिए एक आदत बन जाती है और वह अपनी मातृभाषा को बोलने में हिचकता है तथा शर्म महसूस करता है । शिक्षा का समाज और संस्कृति से सम्बन्ध होना परम आवश्यक है । वर्तमान में प्रचलित शिक्षा पद्धति/ सिद्धांत आदिवासी समाज के लिए अनुपयुक्त हैं । आज इनकी शिक्षा को संतोषजनक नहीं कहा जा सकता है । वर्तमान में जो सामान्य शिक्षा पद्धति है वह इनके वातावरण, समाज, भाषा और संस्कृति के अनुकूल नहीं हैं । आदिवासी बच्चों की बौद्धिक क्षमता को कम करने के लिए ही उन्हें उनकी मातृभाषा से वंचित किया जाता है । साथ ही उनके पर्व त्यौहार, उनकी संस्कृति, आदिवासी महापुरुषों तथा स्वतंत्रता सेनानियों के जीवनी को पाठ्यक्रम में शामिल नहीं किया गया है । इससे उनके मन में अपनी भाषा, संस्कृति, समाज, पर्व-त्यौहार और समाज के सम्माननीय व्यक्तियों के प्रति हीन भावना उत्पन्न होती है । वे उच्च शिक्षा तो प्राप्त कर लेते हैं । लेकिन इसके बाद समाज में न रहकर उससे दूर हो जाते हैं । उनकी भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति में पूरी तरह परिवर्तन हो जाता है । इसके पश्चात् न तो समाज उसे पसंद करता है न वह (उच्च शिक्षा प्राप्त) व्यक्ति अपने समाज को पसंद करता है । उसका विचार आदिवासियत से अलग हो जाता है । उनके जातीय गुण में परिवर्तन हो जाता है और इस परिवर्तन को उराँव/आदिवासी समाज स्वीकार नहीं करता है । इस तरह वह व्यक्ति समाज से कट जाता है । अभौतिक परिवर्तन (विचार, विश्वास, परम्परा, रीति-नीति) को समाज अच्छा नहीं मानता है । समाज से अलग रहकर व्यक्ति का अस्तित्व नहीं

है । अत: उराँव संस्कृति के परिवर्तन में उच्च शिक्षा और उच्च शिक्षा को निर्देशित करने वाली संस्था अर्थात् सरकार का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है ।

अन्तर्जातीय विवाह

विवाह एक पुरुष और एक स्त्री का वह लैंगिक सम्बन्ध है जो किसी समाज विशेष की प्रथा, परम्परा और कानून द्वारा मान्य होता है एवं समाज द्वारा स्वीकृत होता है । इस विवाह संस्था में दोनों पक्ष के सदस्य एवं उन विवाहितों से उत्पन्न बच्चों के अधिकारों और कर्तव्यों का समावेश होता है । इसे हम सामाजिक नियमों का जाल भी कह सकते हैं क्योंकि विवाह में समाज विशेष की प्रथा को पूरी तरह से करना पड़ता है । बच्चों के लालन-पालन, नातेदारी, अधिकार एवं कर्तव्य सभी शामिल हैं । अर्थात् विवाह जीवन सम्बन्धी बुनियाद का सांस्कृतिक ढांचा है । यह सामाजिक मान्यता प्राप्त ऐसी प्रथा, संस्था तथा नियम है जिसके अनुसार दो स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्ध नियमित होते हैं । इससे समाज में अनैतिक यौन सम्बन्धों को रोका जा सकता है । इस तरह विवाह के बाद घर बसाने तथा संतान के पालन-पोषण के लिए एक स्थायी आधार प्राप्त होता है । सभी समाज में विवाह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्थाकृत सामाजिक सम्बन्ध है । यह अनेक महत्त्वपूर्ण सामाजिक सम्बन्धों से जुड़ा हुआ है । समाज की निरन्तरता को बनाये रखने के लिए विवाह का बड़ा महत्त्व है । विवाह एक पवित्र, धार्मिक, संस्कार, सामाजिक शिक्षा की कसौटी, जीवन से संघर्ष लेने का व्रत और सामाजिक व्यवस्थाओं को संचालन करने वाली संस्था है ।

समाज ने विवाह पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये हैं । अपने सम्बन्धियों जैसे बहन, माता, मौसी, चाची, ताई आदि से विवाह करना या किसी रूप में लिंग सम्बन्ध स्थापित करना पाप समझा जाता है । उराँव आदिवासी में सगोत्र विवाह की प्रथा नहीं है । यह प्रथा टोटेम सम्बन्धी सभी गोत्रों में प्रचलित है । छोटानागपुर के आदिवासी बिरादरी के सदस्यों के अंदर ही विवाह सम्बन्ध स्थापित करने की प्रथा है । यह अन्तर्विवाह उराँव समाज की सबसे बड़ी विशेषता है । उराँव समाज में कुछ विशेष प्रकार की विवाह व्यवस्था है जिसे भाभी विवाह और साली विवाह कह सकते हैं । इसके अलावा भी एक और विवाह प्रत्येक समाज में अपवाद स्वरूप हो जाता है जिसे अन्तर्जातीय विवाह कहा जाता है । किसी भी जाति में सामाजिक रूप से इस विवाह को मान्यता नहीं दी जाती है लेकिन अन्तत: उसे स्वीकार कर लिया जाता है । लेकिन अपवाद स्वरूप किसी परिवार द्वारा स्वीकार नहीं भी किया जाता है इसके कई कारण है । जैसे- जाति की शुद्धता

को बनाये रखना, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक भिन्नता, दहेज न मिलना तथा समाज द्वारा कठोर दण्ड शामिल है ।

कोई भी समाज सामाजिक रूप से अन्तर्जातीय विवाह को मान्यता नहीं देता है । उराँव समाज भी अन्तर्जातीय विवाह का बहिष्कार कठोरता पूर्ण करता है क्योंकि इससे सांस्कृतिक, धार्मिक कुठाराघात होता है । इसका असर पूरे परिवार और समाज पर पड़ता है । साधारणत: देखा जाता है कि व्यक्ति का विचार, विश्वास परम्परा आदि बचपन से ही मन में घर करता जाता है एवं उम्र के साथ-साथ परिपक्व होता जाता है । अन्तर्जातीय विवाह के पश्चात् दूसरी जाति, धर्म, विचार विश्वास व संस्कृति में ताल-मेल बैठाना संभव नहीं हो पाता है । कहीं न कहीं इसका प्रभाव बच्चों पर, घर-परिवार पर और समयातंराल में समाज पर भी पड़ता है । उराँव संस्कृति के अनुसार विवाहित कन्या को पिता की सम्पत्ति पर अधिकार नहीं होता है । लेकिन अन्तर्जातीय विवाह करने वाली लड़कियाँ पिता की सम्पत्ति (भूमि) पर अधिकार की मांग कर रही है । दूसरी ओर ऐसी लड़कियों के पति, पत्नी के नाम से जमीन खरीद रहे हैं जो असंवैधानिक है । इससे आदिवासियों के हाथ से भूमि का हस्तान्तरण गैर आदिवासियों के हाथ में हो रहा है । यह सामाजिक नुकसान है । क्योंकि भूमि आदिवासी (उराँव) समाज के लिए प्राणवायु है ।

इसके साथ ही दूसरी जाति की बहू धार्मिक, सांस्कृतिक परम्पराओं को सही ढंग से नहीं निभा सकती । उराँव संस्कृति के अनुसार पूर्वजों की आत्मा ऐसी बहू का दिया हुआ अन्न, पानी ग्रहण नहीं करते हैं जिससे परिवार में अशान्ति फैलती है । इस तरह की मान्यताओं के बावजूद भी आधुनिक उराँव समाज में छिटफूट अन्तर्जातीय विवाह हो रहा है । इसके कई कारण है – जिसमें शिक्षा का प्रचार-प्रसार, यातायात के साधन की प्रचुरता, सूचना एवं संचार के माध्यम, वैज्ञानिक युग, औद्योगीकरण एवं नगरीकरण प्रमुख हैं । उराँव संस्कृति में स्त्री-पुरुष में समानता पायी जाती है लेकिन अन्तर्जातीय विवाह को इस समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता है। फिर भी अपवाद स्वरूप कुछ इस तरह की घटनायें समाज में हो ही जाती है जिसमें अधिकतर शिक्षित वर्ग के ही होते हैं। ऐसी अवस्था में माता-पिता को झुकना पड़ जाता है एवं अपनी रीति-रिवाज व परम्परा के अनुसार कन्या (अन्तर्जातीय बहू) को उराँव समाज एवं संस्कृति में नियमानुसार प्रवेश कराया जाता है ।

संदर्भ संकेत

क्र० सं०	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	पृ० सं०
1	हिन्दुस्तान - दैनिक अखबार	डॉ० राम दयाल मुण्डा	13
2	हिन्दुस्तान - दैनिक अखबार	डॉ० विक्टर तिग्गा	13
3	" "	"	13
4	परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम	डॉ० पूरन चन्द्र जोशी	67
5	परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम	डॉ० पूरन चन्द्र जोशी	101
6	परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम	डॉ० पूरन चन्द्र जोशी	101
7	भारत के यायावर	डॉ० श्याम सिंह शशि	20

षष्टम अध्याय

सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा और उत्पन्न समस्या

(क) सामान्य जन जीवन में - सांस्कृतिक परिवर्तन ने उराँव जनजातियों के जीवन में कई समस्याओं को जन्म दिया हैं । वर्तमान में समाज की संरचना और संस्कृति स्थिर नहीं है । उराँव समाज में, उनकी संस्कृति में कौन-सा परिवर्तन किन कारणों से हुआ है ? कौन-सी संस्कृति अपनी पारम्परिक और कौन-सी आधुनिकता की देन है ? इस आधुनिकता ने उनके धार्मिक विश्वास को उलट-पुलट कर रख दिया है । वे कई प्रकार की धार्मिक विचारधाराएँ हृदय में संजोये परम्परागत विचारों एवं विश्वासों की रक्षा करना चाहते हैं। वे खुराफात करने वालों को चुनौती देकर उन पर प्रहार करना चाहते हैं, जो वास्तव में आधुनिक जीवन, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक तनाव या उत्तेजना को भी जन्म देता है । इसलिए उत्पन्न समस्याओं के कारक को जानने के लिए उराँव समाज के वर्तमान स्वरूप तथा संगठन के अध्ययन के साथ पूर्व अवस्था से वर्तमान तक के उसके विकास-क्रम को समझना आवश्यक है । विभिन्न काल-अवधियों में घटित होने वाले परिवर्तनों तथा अप्रभावित स्थायी पक्षों के स्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन तथा परिवर्तन के लिए उत्तरदायी कारकों तथा परिवर्तन होने वाले पक्षों के सह-सम्बन्धों का अध्ययन सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिए अनिवार्य है ।

छोटानागपुर के राँची शहर के निकट स्थित कुछ उराँव गाँवों का सर्वेक्षण मैंने व्यक्तिगत रूप से किया । कुछ गाँवों में आदिवासी कई शताब्दी पूर्व से निवास करते आ रहे हैं। इन भोले-भाले आदिवासियों को एक साजिश के अन्तर्गत जबरन हिन्दू जाति कहा जा रहा है । सरकारी कागजात में इनकी इच्छा के खिलाफ हिन्दू जाति व धर्म लिख दिया जाता है । वर्तमान समय में इनकी इच्छा के विरुद्ध इसी रूप में पहचान दर्शायी जा रही है जो कि गलत है । उराँव क्षेत्र के कुछ गाँवों में सभी समुदाय के लोग रहते हैं। कई पीढ़ियों से एक ही गाँव में रहने के कारण विभिन्न समुदायों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान होता रहा है। न केवल भाषायी धरातल पर, बल्कि सांस्कृतिक एवं जैविकीय धरातल पर भी इन समुदायों के बीच अन्तःक्रिया होती रही है । यही कारण है कि उराँव जनजातियों की कुछ प्रथाओं, त्यौहारों तथा शब्दों का ठीक-ठीक उद्भव एवं विकास को जानना कठिन है । लेकिन यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आदिवासियों का निवास इस क्षेत्र में पहले से था ।

सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा और उत्पन्न समस्या

उराँव इस क्षेत्र में बाद में आये हैं। इससे पहले यहाँ मुण्डा आदिवासियों का राज्य था। इसलिए मुण्डा लोगों ने इन्हें शरण दिया। उराँव एवं मुण्डा आदिवासियों में धार्मिक एवं सांस्कृतिक समानता है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक यहाँ बाहरी लोगों का प्रवेश लगातार जारी है। बाहरी लोगों का लगातार प्रवेश, उनके दबाव (प्रत्येक क्षेत्र) ने यहाँ के आदिवासियों के जीवन को प्रभावित किया है। उराँव जनजाति इसमें सबसे अधिक प्रभावित हुआ है। इनका समस्त जीवन ही उथल-पुथल हो गया है। इनके सामान्य जन-जीवन में इसे आसानी से देखा जा सकता है। इनका रहन-सहन, खान-पान, दैनिक प्रयोग के सामान, भाषा, शिक्षा, इनके पर्व-त्यौहार, नृत्य, संगीत, इनका धर्म, विश्वास, मान्यताएँ, सामाजिक समानता, सामाजिक मूल्य, सभी में एक आधुनिकता की बू आती है। इस अन्धानुकरण ने स्वयं की पहचान एवं अस्तित्व को समाप्त कर दिया है। उराँव समाज ने आधुनिकीकरण के द्वारा स्वयं को आधुनिक तो बना दिया लेकिन इस आधुनिक युग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज ने साधन नहीं दिये। बल्कि उनके पास जो भी था, सबको उसने गवाँ दिया। आज इनके पास न गाँव की प्राचीन व्यवस्था है न वे पूर्ण रूप से आधुनिक बन पा रहे हैं। इनका सामान्य जन-जीवन कई कठिनाइयों, समस्याओं से जकड़ता जा रहा है। न इनके पास अच्छा भोजन है, न आवास, न तन ढँकने को वस्त्र।

(ख) सामाजिक जीवन में - उराँव जनजातियों का सामाजिक जीवन बहुत सरल था। उनकी दिनचर्या सीमित तथा आवश्यकताएँ भी सीमित थीं। भोजन, वस्त्र एवं आवास ही उनकी जरूरतें थीं। अपने सीमित कार्यों में कृषि कार्य द्वारा पेट भर भोजन की आवश्यकता थी। तन ढकने के लिए कपड़ा एवं जाड़ा, गरमी तथा बरसात से बचने के लिए आवास की आवश्यकता थी। उनमें व्यक्तिवादी विचार नहीं थे। सामूहिकता, सहयोगिता के विचार थे। तभी तो समाज में इस तरह की व्यवस्था पाई जाती थी। सुबह-शाम, उठते-बैठते सभी एक दूसरे से मिलते-जुलते थे एवं एक दूसरे के सुख-दुख में सहयोगी होते थे। पर्व-त्यौहार या शादी विवाह में लोग सप्ताह भर तक मिलजुलकर खाते-पीते थे एवं नाच-गाकर मनोरंजन करते थे। किसी को भविष्य की चिंता न थी। लेकिन आधुनिकीकरण ने उन्हें अधूरा विकसित किया एवं अधूरी शिक्षा दी। बदले में दूसरे अन्य समूह को पूर्ण शिक्षा दी। आदिवासियों को विस्थापित कर दूसरे लोगों को बसाया एवं विकसित किया गया। इस अधूरी शिक्षा एवं अधूरे विकास के कारण आज इनकी स्थिति 'न सांप न छुछुंदर' वाली हो गयी है। आज इस

अधूरे विकास ने इन्हें इस तरह दोराहे पर खड़ा किया जहाँ से वे न पीछे लौट सकते हैं और न आगे बढ़ पा रहे हैं। आज वे आगे बढ़ना चाहते हैं। लेकिन इनके सामने इतने अधिक रोड़े हैं कि इन्हें आसानी से पार नहीं किया जा सकता। आज वे अपने ही परिवार और समाज के बारे में सोच नहीं सकते हैं। घर परिवार के लोगों से बैठकर दो शब्द बात नहीं कर सकते। आखिर वो कौन सी व्यस्तता है ? किसी के सुख-दुख में भागीदार नहीं हो सकते है। पर्व-त्यौहार, शादी-विवाह सभी कुछ में परिवर्तन होता जा रहा है। निमंत्रण-पत्र ने लोगों को समेटकर रख लिया है। दिखावे के कारण खर्च में बेतहाशा वृद्धि हुई है। पहले लोग मदद करने एवं खुशी मनाने के ख्याल से समारोहों में भाग लेते थे। लेकिन अब लोग बदले की भावना एवं कर्तव्य समझ कर भाग लेते हैं। समारोहों में बैठने-उठने, बोलचाल, पहनावे-ओढ़ावे, खाने-पीने सभी कुछ में बहुत अधिक परिवर्तन को दर्शाता है जो सिर्फ दिखावा मात्र है। कहीं प्यार, आदर एवं अपनत्व नाम की कोई चीज नहीं रह गई है।

आधुनिक अन्य समाज के संपर्क में आने के कारण उराँव समाज में कई समस्याएँ उत्पन्न हो गई है।

उराँव जनजातियों में विवाह अधिक उम्र में किया जाता था। लेकिन पड़ोस के हिन्दू और अन्य समाज के प्रभाव के कारण उनमें भी बाल-विवाह की प्रथा शुरू हो गई है। रुपये की अर्थव्यवस्था ने वस्तु विनिमय प्रणाली को खत्म किया जिसके कारण इनके बीच प्रचलित परम्परागत 'वधू मूल्य' भी प्रभावित हुआ है। अब अन्न तथा वस्तुओं के बदले रुपये ही 'वधू मूल्य' के रूप में दिया जाता है। यह कहीं-कहीं बढ़ता जा रहा है जो एक बहुत बड़ी सामाजिक समस्या है। वर्तमान में आधुनिक युग ने उन्हें कई समस्यायें दी हैं। आधुनिक अन्य समाज के साथ वे स्वयं भी उसमें शामिल हो गए है। जो उनकी अपनी (उराँव) परम्परा एवं मूल्यों से टकरा रही है।

ईसाई धर्म के आगमन ने उन्हें उनके सांस्कृतिक प्रशिक्षण केन्द्र **'धुमकुड़िया'** से विमुख किया। अब धुमकुड़िया को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। उराँव समाज में धुमकुड़िया का महत्त्वपूर्ण स्थान था। यह इनके जीवन का सामाजिक प्रशिक्षण केन्द्र था जिसका विघटन उराँव समाज के विघटन का एक प्रमुख कारक है। ईसाई मिशनरियों ने इन्हें धुमकुड़िया में जाने तथा अपने परम्परागत गीत-नृत्य एवं बाजे बजाने से रोका। दूसरी तरफ हिन्दुओं के सम्पर्क ने उराँव जनजातियों को अपनी ओर आकृष्ट किया। इस तरह ये दो भागों में बंट गये। एक भाग हिन्दू

धर्म के प्रभाव में टाना भगत बन गए जिनका उठना-बैठना, रहन-सहन, पूजा-पाठ सभी अलग हो गया। दूसरा भाग ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। बाकी बचे उराँव अपनी परम्परागत व्यवस्था एवं धर्म में रह गये। इस तरह ईसाई, सरना एवं टाना भगत के बीच एक दूरी बन गई और उराँव समाज का विघटन हुआ।

सरना धर्म छोड़कर दूसरे धर्म के अनुयायी बनने के बाद उनकी सोच एवं विचारधारा बदल गई। वे स्वयं को 'सरना धर्मावलंबी' से ऊँचा एवं सभ्य समझने लगे। नतीजतन वे अपनी भाषाओं को भी हेय दृष्टि से देखने लगे। वे अपनी भाषा को छोड़कर बाहरी भाषा को अपनाने लगे जिससे उनकी भाषा 'कुड़ुख़' का ह्रास हुआ। अन्य समाज के सम्पर्क में आकर इन लोगों ने दूसरी भाषा को अधिक महत्त्व दिया। अन्य समाज से सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ इससे सांस्कृतिक मूल्यों, आदर्शों एवं भाषा का पतन हुआ।

(ग) समाज व्यवस्था में – उराँवों की अधिकांश आबादी गाँवों में निवास करती है जहाँ इनके सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन में ग्रामीण सहजता, सरलता, सादा एवं स्वच्छ जीवन देखने को मिलता है। इनकी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था अन्य समाज से भिन्न है।

उराँवों का सामाजिक जीवन गोत्र पर आधारित होता है। ये अपनी ही जाति में बर्हिगोत्रीय विवाह करते हैं। इनका परिवार अधिकतर संयुक्त होता है। इनका वंश परम्परा पिता के पक्ष में होता है। इनका आर्थिक जीवन कृषि पर निर्भर करता है। उराँव जनजातियों का धर्म 'सरना धर्म' कहलाता है। इनका मुख्य धार्मिक स्थल **'चाला टोंका'** कहलाता है। इनके सभी पर्व-त्यौहार कृषि से सम्बन्धित होते हैं। इनका मुख्य पर्व **'करम'** एवं **'ख़द्दी'** है, साथ ही **'फग्गु' 'सोहराई'** भी मानते हैं। इनके सर्वोच्च भगवान को 'धर्मेस' कहते हैं।

इनका नृत्य, गीत-संगीत मौसम के अनुसार बंटा होता है। अलग-अलग मौसम एवं पर्व-त्यौहार के अनुसार अलग-अलग गीत, नृत्य एवं बाजे होते हैं। इसका पालन समाज द्वारा किया जाता है। इनका सांस्कृतिक केन्द्र गाँव का 'अखड़ा' होता है जहाँ गाँव वाले प्रत्येक दिन एकत्र होकर नाचते-गाते हैं एवं मनोरंजन करते हैं। **'अखड़ा'** से सटकर **'धुमकुड़िया'** बना होता है जो इनका सांस्कृतिक प्रशिक्षण केन्द्र होता है। यह लड़के-लड़कियों दोनों के लिए अलग-अलग होता है। इस सांस्कृतिक प्रशिक्षण केन्द्र में इन्हें एक निश्चित उम्र में प्रवेश लिया

जाता है एवं कुछ सालों तक (निश्चित वर्षों तक) शिक्षा देने के बाद उन्हें वहाँ से छोड़ दिया जाता है । तब तक इनकी उम्र विवाह योग्य हो जाती है । वहाँ से छूटने के बाद ही विवाह योग्य माना जाता है । इस समाज में वर पक्ष द्वारा कन्या की खोज की जाती है एवं वर पक्ष द्वारा 'वधू मूल्य' देने का रिवाज है । इस समाज में विधवा-विवाह एवं विवाह-विच्छेद की भी अच्छी व्यवस्था पायी जाती है ।

उराँव समाज में महिला पुरुष में समानता पाई जाती है । कुछ कार्यों को छोड़कर समाज के सभी कामों में महिलाओं की पूर्ण भागीदारी होती है । महिलाओं में पर्दा-प्रथा, दहेज़-प्रथा एवं बाल विवाह नहीं पाया जाता है । लेकिन सम्पत्ति में पुत्री को अधिकार नहीं दिया जाता है । उराँव समाज-व्यवस्था, रीति-नीति एवं परम्परा के अनुसार पुत्री अपने पति के सम्पत्ति में पूर्ण अधिकारी होती है । हिन्दू उत्तराधिकार नियमों के अनुसार 1955 के अधिनियम के द्वारा पुत्रियों को भी पैतृक सम्पत्ति में समान अधिकार दिया जाता है । इसे आधार मानते हुए कुछ आदिवासी महिलाओं ने अपने पैतृक सम्पत्ति में हिस्से की मांग की है । उराँव समाज व्यवस्था के अनुसार यह सही नहीं है । वर्तमान में महिलाओं द्वारा यह मांग उराँव समाज एवं सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा को इंगित करता है संस्कृति की यह परिवर्तन आदिवासी समाज के लिए बहुत ही घातक है । इससे आदिवासी समाज की संरचना बिगड़ जायगी और अंततः आदिवासी समाज समाप्त हो जायगा । आदिवासी उराँव समाज के अनुसार बेटियों को पैतृक सम्पत्ति में हिस्सा माँगना उचित नहीं है । इससे समाज के में कई बुराइयाँ उत्पन्न होंगी । जैसे- कन्या भ्रूण हत्या, दहेज का प्रचलन, अन्तर्जातीय विवाह इत्यादि । इस तरह उराँव समाज के अन्दर कई समाज विरोधी व्याधियाँ आयेंगी । इस सम्बन्ध में पी० सी० बेक, पी० एन० एस० सुरीन तथा पियुस तिर्की का काथन व विचार समजोपयोगी है । आदिवासी समाज की सम्पत्ति उसकी भूमि है । भूमि के बिना आदिवासियों का अस्तित्व नहीं है । जमीन मिलने के लालच में अन्य जाति के व्यक्ति आदिवासी लड़कियों से विवाह रचाने का स्वांग रचेंगे और जमीन हड़पेंगे । इस तरह आदिवासी जमीन लूटने का एक और अच्छा हथियार लालचियों को मिल जायगा ।

आदिवासी समाज पितृवंशीय होता है । लेकिन गैर-आदिवासी पुरुषों से विवाहित स्त्रियाँ अपने बच्चों को पिता का गोत्र न देकर अपना गोत्र (माता का) देती हैं एवं गलत ढंग से चोरी छिपे सरकारी जनजातीय कल्याण का लाभ लेती हैं, जो कि बिलकुल गलत हैं । वर्तमान में इस तरह के दुरुपयोग किये जा रहे हैं । पैतृिक सम्पत्ति में बेटियों को अधिकार मिलने पर आदिवासी समाज के

संवैधानिक अधिकारों का हनन होगा तथा मायके से भी मान-सम्मान समाप्त होगा। अत: ऐसे परिवर्तन को उराँव समाज के और सम्पूर्ण आदिवासी समाज के सर्वनाश के रूप में देखा जाय एवं आदिवासी हित में होनेवाले परिवर्तन को ही स्वीकार किया जाय। उराँव आदिवासियों का अपना राजनीतिक संगठन है जिसे पड़हा के नाम से जाना जाता है। इसका गठन कई गाँवों को मिलाकर किया जाता था जिसमें पांच, सात, बारह, इक्कीस तथा कभी-कभी चौरासी गाँवों को मिलाकर किया जाता था। महतो एवं पाहन इस समाज के मुख्य व्यक्ति होते हैं। ये दोनों पद परम्परागत होते हैं। लेकिन कहीं-कहीं प्रत्येक तीन या पांच साल में चुनाव भी होता है जो परम्परागत तरीके से होता है। गाँव के प्रत्येक व्यक्ति इसके सदस्य होते हैं।

समाज द्वारा बनाये गये प्रथा, परम्परा एवं व्यवस्था को सभी व्यक्तियों को मानना पड़ता था। समाज के नियम-कानून को तोड़ने वाले को 'पड़हा' द्वारा सजा दी जाती थी। इन्हें कोर्ट-कचहरी की जरूरत नहीं पड़ती थी। सभी काम पड़हा में निपटा लिया जाता था। लेकिन अब ऐसा नहीं है। इनके परम्परागत पंचायती व्यवस्था में काफी परिवर्तन आया है। मुगल काल एवं अंग्रेजी शासन के दौरान जागीरदारी प्रथा के कारण यहाँ की स्वायत शासन व्यवस्था को काफी धक्का लगा। परम्परागत पड़हा व्यवस्था में महतो, पाहन, कोटवार का जो महत्त्वपूर्ण स्थान था, उनमें जितना समर्पण व त्याग की भावना थी, वो परिवर्तित पंचायत व्यवस्था में नहीं है। उस परम्परागत व्यवस्था में एक छोटे से क्षेत्र से सम्बन्धित होने के कारण ये व्यक्ति महतो, पाहन आदि अपने समाज की समस्याओं को समझने तथा उनका समाधान करने में अधिक समर्थ होते थे। इनके जीवन में परम्परागत नीति, रीति-विधि सभी सामाजिक होते थे। उनमें छल कपट और दिखावे की प्रवृत्ति नहीं थी जिसके कारण यह व्यवस्था आदिवासी मूल्यों तथा मनोवृतियों के अधिक अनुकूल था। किसी भी कार्यों में धन का दुरूपयोग नहीं होता था।

उराँव समाज में ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं पाया जाता है। इसलिए समानता के आधार पर 'पंचा नलख' होता है। इससे इनके बीच एक दूसरे के प्रति सहयोग की भावना प्रदर्शित होती थी। सभी कार्यों के लिए मजदूरी तय की जाती थी जिसमें अनाज के अलावे कुछ रुपये पैसे होते थे। उस निश्चित रकम से अधिक कोई भी नहीं दे सकता था। विवाह आदि में भी इस तरह के नियम तय किये गये थे जिसे अमीर-गरीब सभी वर्ग के लोग वहन कर सकें।

कुल मिलाकर इनकी समाज व्यवस्था बहुत अच्छी थी । लेकिन वर्तमान में यह व्यवस्था नहीं रही । थोड़ी शिक्षा, बाहरी प्रभाव, सरकारी व्यवस्था, वैज्ञानिक युग, औद्योगीकरण तथा आधुनिकीकरण ने इनकी समाज व्यवस्था को बदल दिया है । अब इन पुरानी परम्पराओं और व्यवस्थाओं को रूढ़िवादी और अंधविश्वास माना जाता है । आधुनिकीकरण के चकाचौंध में सभी पुरानी मूल्यवान परम्पराओं एवं व्यवस्था को रौंद दिया गया है । सभी परम्पराओं एवं व्यवस्था के पीछे जो मूल्य थे, उन्हें कुचल दिया गया है । अन्य समूहों का यहाँ प्रवेश एवं सरकारी व्यवस्था ने प्रत्यक्ष रूप से इन्हें रौंदा ही, अप्रत्यक्ष रूप से स्वयं भी उन्हें इस काबिल बनाया । ऐसी व्यवस्था उनके सामने लेकर परोस दिया गया जिससे वे स्वयं भी अपने समाज की व्यवस्था को पसंद न करें और दुनिया की चकाचौंध में शामिल होकर स्वयं के अस्तित्व को समाप्त कर दें ।

(घ) सामुदायिक जीवन में – उराँव जनजातियों का जीवन सामुदायिक जीवन है । इनके बीच व्यक्तिवादिता का कोई स्थान नहीं था । इनका आर्थिक आधार कृषि था । कृषि के लिए उपलब्ध जमीन, जल, जंगल सभी कुछ समुदाय का माना जाता है । इन सभी चीजों पर किसी का भी व्यक्तिगत अधिकार नहीं था । सभी अपने जीवन पर्यन्त इन सभी चीजों का उपयोग मात्र कर सकते थे । इन सभी सार्वजनिक चीजों की देखभाल करना, उन्हें सुरक्षित रखना पूरे समुदाय का कार्य था । इस सम्बन्ध में न्यूजीलैंड के आदिम जातियों के बारे फर्थ लिखते हैं– हल, बैल, वन, चारागाह, अस्त्र-शस्त्र आदि समुदाय की सम्पत्ति मानी जाती है। इनके पर्व-त्यौहार, पूजा-पाठ, शादी-विवाह, एवं मृत्यु संस्कार सभी कुछ में सामुहिकता देखने को मिलती है । सभी कार्यों में भी सामुदायिकता की झलक मिलती है । लेकिन वर्तमान में यह स्थिति नहीं है । सभी लोगों के मन में व्यक्तिवादी सोच विचार आ गया है किसी को सामुदायिकता की चिन्ता नहीं है । मुद्रा के प्रचलन ने मानव जीवन को जितना सुग्राह्य बनाया है, उराँव समाज को उतना ही कष्टमय एवं विघटन पर ला खड़ा किया है । आज मुद्रा के बल पर प्रत्येक व्यक्ति समाज की चिन्ता किये बगैर अपनी मनमानी करता है । उसे किसी की न चिन्ता है न समाज से डर-भय ही है । कोई भी व्यक्ति समाज की व्यवस्था को नहीं मानते हुए अपनी मर्जी के अनुसार कार्य करता है एवं मजदूरी के रूप में मुद्रा देता है । इस मुद्रा व्यवस्था ने स्त्री-पुरुष में असमानता लाया है तभी तो स्त्री को कम मजदूरी दी जाती है । पुरानी व्यवस्था में ऐसी बात नहीं थी । किसी भी काम को समुदाय द्वारा

निपटाने के बाद लोग आपस में बैठकर एक साथ खाते-पीते एवं मनोरंजन करते थे । साथ ही किये गये कार्यों की समीक्षा भी की जाती थी जिससे अगला कार्य सही ढंग से होता था ।

इस सामुदायिक व्यवस्था में गरीब-अमीर की भावना न थी । एक गाँव के अन्दर रहने वाले सभी लोगों का काम आराम से होता था जिसमें समय एवं पैसे की बचत होती थी तथा लोगों में प्रेम की भावना जागृत होती थी ।

आज सामुदायिकता की भावना खत्म होने के कारण लोगों में संवेदना नाम की कोई चीज नहीं रह गयी है । आज की सरकारी व्यवस्था ने सामुदायिकता को तोड़ने एवं समाप्त करने में आग में घी का काम किया है । ईसाई मिशनरियों के आगमन ने आदिवासियों को काफी प्रभावित किया। इनका प्रभाव आदिवासियों पर दो तरह से पड़ा। कुछ प्रभाव उनके लिए लाभदायक रहा। जैसे- शिक्षा का प्रचार-प्रसार । अंग्रेजों का सहयोग एवं प्रेम पाकर इनमें जागृति आयी वे शिक्षा की ओर अग्रसर हुए एवं भ्रष्टाचार के विरुद्ध लड़ने की लोकशक्ति जगी । स्वतंत्रता प्राप्ति तक शिक्षा का प्रचार-प्रसार काफी हो चुका था, लोगों के जीवन में अप्रत्याशित परिवर्तन आ चुका था। अंग्रेजों द्वारा दबाव या सहायता के कारण बहुत से आदिवासियों ने धर्म परिवर्तन कर ईसाई धर्म भी स्वीकार कर लिया। धर्म को लेकर आदिवासी दो खेमों में बंट गये थे । सामुदायिक भावना को पहली चोट यहीं पर मिली । लोग ईसाई और सरना धर्म में बंट गये । ईसाई हुए लोगों में श्रेष्ठता की भावना आयी । वे प्रत्येक क्षेत्र में स्वयं को सरना धर्मावलम्बी से ऊपर समझने लगे। इसका असर प्रत्येक क्षेत्र में पड़ने लगा। एक साथ उठना, बैठना कम होने लगा। सामुदायिक स्थानों में सामुहिकता कम होने लगी । धर्मान्तरित लोगों ने उन सामूहिक स्थानों को हेय दृष्टि से देखना शुरू किया। उनपर अंग्रेजी सभ्यता का रंग चढ़ चुका था। कहीं-कहीं पर अंग्रेज-मिशनरियों ने दबाव देकर इन स्थानों पर जाने और उनमें भाग लेने से रोका भी । बाहर से आये इन पादरियों को यहाँ की आदिवासी समाज व्यवस्था एवं उसकी विशेषता और सामाजिक आधार का ज्ञान नहीं था। उन्होंने इन व्यवस्थाओं को अपनी (पश्चिमी) सभ्यता की नजर से देखा और इसे अच्छा न समझ कर इसे छोड़ने को मजबूर किया। दूसरे स्तर में आजादी के बाद सामाजिक विघटन का दौर शुरू हुआ। आजादी के बाद पहली पंचवर्षीय योजना में कई विकास कार्यक्रम को प्राथमिकता दी गयी जिसमें उद्योग को पहले स्थान पर रखा गया। औद्योगीकरण ने पूरे देश

में तहलका मचा दिया । झारखण्ड का आदिवासी बहुल इलाका इसके लिए सबसे अच्छा एवं उपयुक्त स्थान चुना गया क्योंकि यह क्षेत्र खनिज पदार्थों से भरा पड़ा है । किसी भी कल कारखाने को चलाने के लिए इससे उपयुक्त जगह और क्या हो सकता है । इन क्षेत्रों में कितने गाँवों को उजाड़ कर बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना की गयी औद्योगीकरण के बाद नगर बसाये गये जिसमें बाहरी लोगों को बसाया गया । बाहरी लोगों के आने से यहाँ के वातावरण में परिवर्तन आया । बाहरी लोगों के सम्पर्क में आकर इन भोले-भाले लोगों ने इनका नकल किया । उन्हें नकल करने के लिए अप्रत्यक्ष रूप से दबाव डाला गया । उन्हें ऐसा माहौल लाकर परोस दिया गया जिसे न चाहते हुए भी आदिवासियों को स्वीकार करना पड़ा । इन भोले-भाले लोगों को इसका आने वाले दुष्परिणाम के बारे ज्ञान न था । आज स्थिति इतनी अधिक बिगड़ गयी है कि इसे संभाल पाना मुश्किल हो गया है । गाँवों को उजाड़कर नया शहर बसाया गया । उजड़ने के बाद ये आदिवासी अपनी जीविका की तलाश में इधर-उधर चले गये । लोगों का बिखराव देश के विभिन्न राज्यों में हुआ । यहाँ उनकी जातीय विशेषता, सामुदायिकता समाप्त हो गयी । थोड़े आदिवाासी जो यहाँ रहे उनपर आने वाले बाहरी लोगों के प्रति आकर्षण बढ़ा । कुछ तो आकर्षित हुए फिर उनकी आदत बन गयी और कुछ को मजबूर किया गया । आज शहरी संस्कृति से प्रभावित सभी उराँव व्यक्ति अन्य लोगों की तरह स्वयं को ढालना चाहते हैं जिसके कारण व्यक्तिवादी विचार धारा का जन्म हुआ एवं सामुदायिकता की भावना खत्म हो रही है । आज सामुदायिकता की भावना न होने के कारण पूरे समाज को आर्थिक नुकसान उठाना पड़ता है । आज **'मदइत'** और **'पंचा नलख'** का चलन खत्म हो रहा है । इसकी जगह अब मजदूरी ने ले ली है । **'पड़हा पंच'** की जगह कोर्ट-कचहरी ने ले लिया । इस तरह प्रत्येक क्षेत्र पर इसका बुरा असर पड़ा है ।

(ङ) राजनीतिक जीवन में - प्रत्येक समाज का अपना राजनीतिक संगठन होता है । यह समाज को व्यवस्थित एवं संगठित रखता है । आदिवासी समाज में भी अपना राजनीतिक संगठन होता है जो काफी महत्त्वपूर्ण होता है । आदिवासियों का राजनीतिक जीवन परम्परा, प्रथा तथा धार्मिक विश्वास पर आधारित होता है । इसका संचालन गाँव के बड़े बुजुर्गों द्वारा निर्मित पंचायत द्वारा होता है । सभी आदिवासी इसे अपनी-अपनी भाषा में अलग-अलग नामों से पुकारते हैं, लेकिन सभी का कार्य एक ही है ।

झारखण्ड के उराँव जनजातियों का सामाजिक संगठन तथा राजनीतिक संगठन सुव्यवस्थित है । यह संगठन परम्परा, प्रथा तथा धार्मिक विश्वास पर आधारित है । परम्परागत संरचना के अन्तर्गत इनके सामाजिक संगठन की इकाई परिवार तथा राजनैतिक व्यवस्था की इकाई 'गाँव-टोला' रही है । ये गाँव प्रारंभ में एकान्त तथा सुसंगठित होते थे जिनमें कोई एक गोत्र ही विकसित होकर गाँव के रूप में परिणत हो गया होता था। इसलिए इनके गाँव में एकरूपता होती थी जिसके द्वारा पूरी उराँव जाति समूह ही एक सामाजिक इकाई के रूप में अपने कार्य का संचालन करता था। इनके समाज में कुछ सामाजिक नियम होते थे । ये नियम पुराने रीति-रिवाज और कानून के रूप में होते थे । इनके प्राचीन सांस्कृतिक प्रथा तथा व्यवस्था की सुरक्षा का भार धुमकुड़िया के सदस्यों पर होता था। उराँव जनजाति के मस्तिष्क में उसके सामाजिक विकास के साथ-ही-साथ जायदाद तथा प्रशासन का विचार उत्पन्न हुआ और समाज को गतिमान रखने, उसके नैतिक जीवन के ह्रास को रोकने तथा जायदाद की सुरक्षा के निमित्त सामाजिक नियंत्रण आवश्यक हुआ। यही सामाजिक नियंत्रण आगे चलकर एक संस्था के रूप में परिवर्तित हुआ जो 'पड़हा' के नाम से प्रचलित हुआ और यही गाँव की शासन व्यवस्था को संभालता था। इस संबंध में ब्र० मिखाइल कुजूर ने अपनी पुस्तक 'उराँव संस्कृति' में कहा है - "प्रत्येक पड़हा में एक समिति कायम की गयी जो पड़हा पंचायत और प्रत्येक गाँव में 'गाँव सभा' आज भी जारी है । यही आदिवासी समाज के ग्राम्य शासन की रीढ़ है ।"[1]

इसे हम इस प्रकार से समझ सकते हैं - उराँव के शासन व्यवस्था में शासन की प्राथमिक इकाई गाँव एवं टोला होता है । प्रशासनिक दृष्टि से सुविधा के लिए कई गाँवों को मिलाकर पड़हा का निर्माण किया जाता था। टोला, गाँव एवं पड़हा को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए कई महत्त्वपूर्ण पद होते थे जो निम्नलिखित हैं - महतो, पाहन, (नयगा) पनभरा, गोल्ला तथा करताहा। ये पदाधिकारी गाँव स्तर पर पूर्ण रूप से कार्य करते थे । महतो गाँव स्तर का प्राथमिक प्रशासनिक अधिकारी होता है । महतो उराँव गाँव का एक सम्मानित नेता होता है । यह पद पारम्परिक रूप से वांशिक होता है । परम्परा से चले आ रहे इस वांशिक अधिकारी अपनी जाति समूह और गाँव के लोगों के साथ विभिन्न समयों में अन्तः क्रियाएँ करता है, विभिन्न कार्य करता है और अपनी जाति तथा गाँव के लोगों के साथ प्रेम एवं भ्रातृत्व का सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करता है । प्रत्येक उराँव गाँव में तीन प्रमुख सदस्य होते हैं । इन्हें मान, सम्मान

तथा विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं। ये तीन प्रमुख सदस्य निम्नलिखित हैं – महतो, पाहन (नयगा) तथा पनभरा।

(1) महतो – महतो ही उराँव समुदाय और गाँव का मुखिया होता है। प्रत्येक गाँव में महतो का पद वंशानुगत होता है। इसका पद दायित्वों से परिपूर्ण है। उसे अपनी संस्कृति एवं गाँव की आवश्यकताओं को देखते हुए अनेक कार्य करने पड़ते हैं। वह ग्रामीणों का मार्गदर्शक और उनमें जागृति पैदा करने वाला व्यक्ति होता है। वह पारम्परिक झगड़ों का निबटारा करने एवं विपत्ति के समय सदस्यों की सहायता करने का कार्य भी करता है। ग्रामीणों के बीच आपसी संघर्ष के समय पंच एवं मध्यस्थता का कार्य भी वही करता है, और दोनों पक्षों की सुनवाई के बाद अपना सही निर्णय देता है। वह ग्रामीण समूह में गुटबन्दी की प्रक्रिया को रोककर सामूहिक संगठन को बनाये रखता है। गाँव के सभी व्यक्ति 'पड़हा' के सदस्य होते हैं। गाँव या टोला स्तर की बैठक में महतो ही अन्य लोगों के समक्ष प्रतिनिधित्व करता है। उराँव परम्परा के अनुसार समाज के नेता या महतो का पद में पुरुष वर्ग ही होते हैं। यदि परिस्थितिवश पुरुष घर में न हो तो महिला भी इस कार्य को कर सकती है। लेकिन नेतृत्व का स्वरूप वंशानुगत ही होता है।

(2) पाहन – पाहन उराँव समाज का दूसरा प्रमुख व्यक्ति होता है। इनका कार्य गाँव के देवी-देवताओं की पूजा करना होता है। इनके पास समाज की पवित्र देन धर्म होती है। उराँवों के पर्व-त्यौहारों में पाहन की मुख्य भूमिका होती है। पूजा-पाठ का कार्य पाहन के द्वारा किया जाता है। कृषि-कार्य जैसे- धान बुनी, रोपनी आदि का शुभारंभ पाहन के खेत से होता है। इसके बाद गाँव वाले अपना कार्य आरंभ करते हैं। साथ ही गाँव के किसी भी परिवार में जन्म, मृत्यु या विवाह हो तो वहाँ भी पाहन द्वारा पूजा-पाठ होने के बाद ही अन्य कार्य का प्रारंभ होता है। गाँवों में किसी प्रकार की महामारी आने पर गाँव वाले मिलकर पुनः पाहन से पूजा कराते हैं। उनका सोचना है कि पाहन ने ठीक से पूजा-पाठ नहीं किया होगा। इस तरह पाहन और महतो दोनों ही उराँव समाज की अच्छाई के लिए संयुक्त रूप से जिम्मेवार होते हैं। ये दोनों पदाधिकारी समूह के संगठन को बनाये रखते हैं। ये पड़हा पंचायत के सदस्य होते हैं। वैसे तो गाँव का प्रत्येक व्यक्ति पड़हा का सदस्य होता है, लेकिन इन दो पदाधिकारियों महतो एवं पाहन की जिम्मेवारी अधिक होती है। ये पड़हा पंचायत के अधिकारियों एवं अन्य प्रमुख सभा तथा बैठकों में गाँव का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनकी जिम्मेदारियों एवं कार्य की महत्ता को देखते हुए उराँवों के बीच एक कहावत प्रचलित है – "पाहन गाँव

बनाता है, महतो गाँव चलाता हैं ।" अर्थात पाहन गाँव के देवी-देवताओं को प्रसन्न रखता है जिससे गाँवों में किसी तरह का दैविक प्रकोप नहीं होता है और गाँव के लोग भयमुक्त रहते हैं। तब महतो गाँवों में अपनी शासन व्यवस्था को दुरस्त रख पाता है । पाहन का पद अधिकतर गाँवों में वंशानुगत होता है । लेकिन किसी-किसी गाँवों में पाहन का चुनाव प्रत्येक तीन या पाँच वर्ष में होता है । पाहन के पद का चुनाव एक विशेष प्रक्रिया के अन्तर्गत होता है । पूर्णिमा के दिन गाँव के युवा एवं बुजुर्ग पुरुष 'चाला टोंका' में उपस्थित होते हैं। इस प्रक्रिया में कार्यरत पाहन भी उपस्थित रहता है । विधि अनुसार कार्यरत पाहन पूजा करता है । फिर किसी अविवाहित युवा को चुन लिया जाता है । उसे एक नया सूप पकड़ा दिया जाता है । इस सूप मैं पूजन सामग्री होता है । लड़के के आँख को पट्टी से बाँध दिया जाता है । 'चाला टोंका' में पूजनोपरांत पट्टी बंधा युवक गाँव की ओर आता है। पाहन के साथ और भी बुजुर्ग एवं युवक होते हैं। जो रास्ते में कुछ उच्चारण करते रहते हैं और साथ में अरवा चावल और पानी गिराते हुए जाते हैं। पट्टी बंधा युवक किसी भी दरवाजे में जाकर स्वत: रुक जाता है । युवक जिस दरवाजे में रुकता है उस घर के बड़े बुजुर्ग को पाहन बना दिया जाता है । पाहन को गाँव वाले कुछ जमीन देते हैं। जो गाँव का पाहन होता है वही इस खेत का उपयोग करता है । प्रत्येक पूजा में कुछ खर्च आता है जो इस खेत से पूरा किया जाता है साथ ही पाहन का मेहनताना भी इसी से पूरा होता है ।

(3) पनभरा - पनभरा पाहन के प्रत्येक पूजा-पाठ कार्यों में सहायक होता है। जैसे पूजा की तैयारी करना, पूजा स्थान की देखभाल करना तथा सफाई करना, कराना इत्यादि ।

(4) करताहा - जाति के नियम, कानून एवं परम्परा के विरुद्ध होने वाले कार्यों को रोकने का कार्य करताहा करता है । जैसे - उराँव जाति से बाहर या गोत्र के बीच अनैतिक सम्बन्ध इत्यादि । करताहा ऐसे गलत कार्य करने वालों को रोकने, नियंत्रित करने की कोशिश करता है फिर भी ऐसी गलती हो जाय तो पंच बैठाया जाता है जिसमें अन्य सदस्यों की सहायता से महतो इसे सुलझाने का कार्य करता है । यदि यह झगड़ा टोला या गाँव स्तर पर नहीं सुलझा पाता है तो इसे पड़हा में ले जाया जाता है ।

(5) गोल्ला - गोल्ला प्रशासनिक कार्य में अप्रत्यक्ष रूप से शामिल होता है । यह व्यक्ति अपनी जाति समाज का गाँव का सबसे धनवान व्यक्ति होता है ।

धनवान का अर्थ रुपये पैसे से नहीं बल्कि अनाज एवं पशु-धन, कृषि आदि से है। गोल्ला आर्थिक रूप से सम्पन्न व्यक्ति होता है। गाँव का व्यक्ति आर्थिक संकट के समय उससे अन्न लेता है। इस व्यवस्था की विशेषता यह है कि इसमें सूद के नाम पर कुछ भी देना नहीं पड़ता है। इसी तरह गरीब परिवार जिसके पास खेती कार्य के लिए पशु नहीं है वह अपने कृषि कार्य के लिए गोल्ला से पशु भी ले जाता है। और अपना कार्य समाप्त कर तत्काल वापस भी करता है। यह व्यवस्था इतनी अच्छी है कि आर्थिक तंगी या मुसीबत के समय सभी का काम आराम से हो जाया करता है। इसमें किसी तरह की झगड़े-झंझट की कोई गुंजाइस नहीं है। इससे गाँव वालों के बीच भाईचारा एवं सौहार्द का वातावरण बना रहता है।

धार्मिक संगठन का कार्यक्षेत्र सीमित होने के कारण प्रशासनिक दृष्टिकोण से पंचायतों का विस्तार किया गया। टोला, गाँव एवं पड़हा क्षेत्र को देखते हुए समय के अनुसार इनके राजनीतिक संगठन का विस्तार होता रहा। एक गाँव का एक पड़हा से नियंत्रण कठिन होने लगा तब इसे तीन भागों में बांटा गया।

(1) टोला पंचायत (2) पड्डा पंचायत (3) पड़हा पंचायत

(1) टोला पंचायत - उराँव जातियों का गाँव बड़ा छोटा दोनों प्रकार का होता है। छोटे गाँवों में टोले कम या नहीं के बराबर होते हैं। लेकिन बड़े गाँवों में कई छोटे-छोटे टोले होते हैं, इस तरह टोले का निर्माण, गाँव का क्षेत्र इंगित करने और विधि-व्यवस्था को ठीक तरह से चलाने के लिए किया जाता है। प्राय: टोले का नाम पेड़ के नाम या जाति विशेष के लोगों की अधिकता के कारण उस पर हो जाता है। टोला बड़ा है तो प्रत्येक टोला स्तर पर एक छोटी पंचायत की व्यवस्था होती है। टोला पंचायत के सदस्य टोला के बुजुर्ग व्यक्ति होते हैं। छोटा टोला होने पर वह गाँव के पंचायत से ही संचालित होता है। ऐसे छोटे पंचायतों में छोटे-मोटे विवादों का फैसला किया जाता है। जिस विवाद का निपटारा टोला पंचायत में नहीं हो पाता है उसे उससे आगे पड्डा पंचायत में रखा जाता है।

(2) पड्डा पंचायत - पड्डा पंचायत में पूरे गाँव का टोला सम्मिलित रहता है। इसके अन्तर्गत टोला से आने वाला विवाद तथा गाँव का विवाद शामिल होता है। जैसे- परिवार विभाजन, सम्पत्ति का बंटवारा, अत्याचार, बलात्कार, निशिद्ध यौन सम्बन्ध, भूत-प्रेत तथा डायन-बिसाही का झगड़ा आदि का निबटारा किया जाता है। इसलिए नर्मदेश्वर प्रसाद ने अपनी पुस्तक 'भारतीय समाज में जनजातिगण' में लिखा है - "पंचायतों में दिवानी, फौजदारी, और लैंगिक सभी प्रकार के मुकदमों का फैसला

होता है ।"[2] पति-पत्नी में सम्बन्ध विच्छेद और विवाहित कन्या की विदाई के विवाद में पंचायत का कोई भी स्तर हो उसमें दोनों पक्ष (दोनों गाँव) के पंच मौजूद होते हैं ।

(3) पड़हा पंचायत - उराँव समाज प्राचीन समय से ही सुव्यवस्थित समाज था । इस समाज का विस्तार अपने आन्तरिक मामलों में विभिन्न क्षेत्रों में हुआ । उराँव जनजीवन में एकता एवं शान्ति बनाये रखने के उद्देश्य से एक अन्तर्ग्रामीण परिषद का निर्माण किया गया जिसे हम पड़हा के नाम से जानते हैं । ब्र० मिखाएल कुजूर इस बात की पुष्टि करते हुए अपनी पुस्तक 'उराँव संस्कृति में लिखते हैं "खूंट कट्टी और भूंइहरी की भाँति पड़हा पट्टी भी मुण्डा और उराँव समाज की ग्राम्य व्यवस्था और शासन प्रणाली का प्रमुख अंग है । आदिवासियों ने अपने पड़हा राज्य के महत्त्व का परिचय दिया था ।"[3] 'पड़हा' पद्दा पंचायत से बड़ा होता है इसके अन्तर्गत पाँच से तीस गाँव तक होते हैं । कुछ क्षेत्रों में इससे भी अधिक गाँवों को मिलाकर एक पड़हा का निर्माण किया जाता था । कई गाँव होने के कारण क्षेत्र काफी बड़ा हो जाया करता था । इसलिए पूजा-पाठ की विधि में थोड़ी भिन्नता आ जाया करती थी जो आज भी उसी रूप में प्रचलित है । इस सम्बन्ध में पुनः ब्रदर मिखाइल कुजूर ने इसी पुस्तक में लिखा है "सभी गाँवों का ग्राम्य शासन एक ही रहा किन्तु पूजा-पाठ भिन्न हो गयी । दस बारह गाँव मिलकर एक संघ स्थापित किये जो पड़हा पट्टी कहलाया ।"[4] इनकी इसी विशेषता को देखते हुए विद्वानों, लेखकों ने प्रत्येक आदिवासी गाँवों को एक गणराज्य के रूप में देखा ।

प्रत्येक पड़हा को सम्मिलित गाँव की संख्या के आधार पर बोला - पुकारा जाता था । जैसे- पांच पड़हा, बारह पड़हा, चौबीस पड़हा इत्यादि । जो पड़हा पांच गाँवों से बना होता था उसे पाँच पड़हा कहा जाता था प्रत्येक पड़हा का एक निश्चित भूभाग होता था । इस भूभाग में कृषि कार्य, चारागाह, भूमि, वन, नदी, तालाब आदि होता था जो इनके अधिकार क्षेत्र में होता था । अपने क्षेत्र में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य होता था कि वे अपनी इन अमूल्य धरोहर की रक्षा करें । पड़हा पंच के चार प्रमुख अधिकारी होते थे - (1) पड़हा राजा (2) दीवान (3) पांडे (4) कोटवार

(1) पड़हा राजा - पड़हा राजा पड़हा का मुख्य व्यक्ति होता है । यह पद बहुत बड़ा एवं आदरणीय होता है । पड़हा राजा अपने प्रत्येक कार्य में अपने सहयोगियों-दीवान पांडे और कोटवार की मदद लेता है ।

(2) **दीवान** – दीवान मुख्य रूप से पड़हा राजा के अधिक निकट रहता है एवं पड़हा राजा के कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से सहयोगी एवं सलाहकार होता है ।

(3) **कोटवार** – कोटवार भी अप्रत्यक्ष रूप से पड़हा राजा का सहयोगी होता है। कोटवार मुख्यतः दूत का कार्य करता है । वह सभी प्रकार की सूचनायें गाँव एवं टोलों में देता है । चाहे वह धर्म, पूजा-पाठ से सम्बन्धित हो या पड़हा से सम्बन्धित हो। यह व्यक्ति टोला गाँव या पड़हा में होनेवाले मुख्य सूचना भी प्रत्यक्ष रूप से पड़हा राजा को दे सकता है। ये अधिकारी जिस गाँव में रहते हैं वह गाँव उसी नाम से जाना जाता है जैसे पड़हा राजा जिस गाँव में रहते हैं। उसे राजा गाँव, दीवान जिस गाँव में रहता है उसे दीवान गाँव कहा जाता है। हालांकि उस गाँव का अपना नाम होता है। इसके अतिरिक्त अन्य गाँव को प्रजा गाँव के नाम से जाना जाता है।

उराँव लोगों के सामाजिक, राजनीतिक जीवन को देखने से पता चलता है कि इनका सामाजिक, राजनीतिक संगठन पूर्ण रूप से लोकतांत्रिक है। उराँव लोगों के पड़हा पंचायत से उत्साहित और प्रभावित होकर आस-पास की अन्य आदिवासी समाज ने भी इसे अपनाया। उसी आधार पर मुण्डा तथा हो के बीच में मानकी होते हैं। इनके ग्रामों के समूह को 'पीर' कहते हैं। इनके गाँवों की संख्या लगभग 5 से 25 तक की होती है ।

इसी तरह संथालों में भी राजनीतिक संगठन बहुत मजबूत एवं संगठित पायी जाती है । इनके बीच राजनीतिक संगठन की इकाई गाँव मानी जाती है । इसका मुख्य 'मांझी' होता है । यही गाँव की विधि-व्यवस्था संभालता है ।

उराँव, मुण्डा, हो, संथाल आदिवासियों के साथ रहने वाली अन्य जनजातियों जैसे महली, असूर, विरहोर, नगेशिया, लोहरा, बेदिया आदि जनसंख्या में कम होने के कारण इन्हीं आदिवासियों की विधि व्यवस्था एवं पंचायत के अन्दर रहती है । इस तरह उराँवों के पड़हा पंचायत के अन्तर्गत अन्तर्ग्रामीण तथा अन्तर्जातीय (गाँव के अन्दर रहनेवाले) झगड़ों का फैसला होता है । चाहे वह विवाद किसी भी विषय पर हो । पड़हा पंचायत में हर मामला व्यक्तिगत न होकर सामुदायिक माना जाता है । अपराध प्रमाणित हो जाने पर सजा या जुर्माना अनिवार्य है जो पड़हा द्वारा सभी की सहमति से तय होता है । इस तरह से व्यक्ति और पड़हा पर समुदाय के परम्परागत, रूढ़िगत नियमों की पूर्णतया पकड़ है ।

पड़हा के किसी बैठक में पड़हा राजा की अनुपस्थिति में राजा गाँव का पाहन या भुंइहर 'पड़हा पंचायत' के सभापति का कार्य करता है । उराँव परम्परा के अनुसार भुंइहर उसे कहते हैं। जो सर्वप्रथम यहाँ के जंगलों को काटकर साफ करके बसा है । अर्थात् भुंइहर उनके गाँव विशेष में सबसे प्राचीन वासिन्दा है । वे खूंटकट्टीदार श्रेणी के होते हैं। इसलिए भुंइहर को उराँव समाज के हर पर्व-त्यौहार, शादी-विवाह या अन्य अनुष्ठान में प्रधानता मिलती है। इसके बाद ही गाँव के अन्य लोग अपना कार्य सम्पन्न कर सकते हैं। इसलिए विशेष परिस्थिति में पड़हा पंचायत का सभापति भी यह व्यक्ति कर सकता है । पड़हा पंचायत का कार्य प्रणाली, परम्परा, प्रथा तथा धार्मिक विश्वास पर आधारित होता है । इसलिए पड़हा का अर्थ बताते हुए विलियम एक्का एवं सुधांशु शेखर मिश्र ने अपनी पुस्तक 'मुड़मा जतरा' में लिखा है- पड़हा का तात्पर्य अलग-अलग गाँवों में रहनेवाले इस (उराँव) के सदस्यों का एकजुट होना है जिससे कि वे प्राकृतिक तथा अलौकिक शक्तियों का प्रभावी ढंग से मुकाबला करने के साथ ही अपनी सुरक्षा भी कर सके ।"[5]

साधारणतः पड़हा पंचायत की सामान्य बैठक वर्ष में एक बार होती है यह बैठक गर्मी में होने वाले 'विशु सेन्दरा' के तुरन्त बाद जेठ जतरा में होता है । पड़हा के सभी सदस्य इस विशु सेन्दरा में निकलते हैं । सेन्दरा से लौटकर सभी पड़हा राजा के गाँव में एकत्रित होकर विचार-विमर्श करते हैं । पड़हा पंचायत के सदस्यों के अलावा गाँव के दूसरे लोगों को भी इस बैठक में भाग लेने का अधिकार होता है । उन्हें भी अपना विचार रखने का अवसर प्रदान किया जाता है । इस बैठक में विभिन्न पड़हा, विभिन्न गोत्र के लोग अपना पड़हा चिह्न, गोत्र चिह्न या झण्डा लेकर उपस्थित होते हैं । पड़हा पंचायत के सत्र का प्रारंभ इन वाक्यों से किया जाता है - "मइंय्या परमेश्वर किय्या पंच, हे धर्मे बाबा दव नलख गे जोड़ चिई-के ।" अर्थात् ऊपर परमेश्वर नीचे पंच, हे पिता ईश्वर अच्छे कार्यों के लिए शक्ति दे । पहले पड़हा पंच की सभा में बोलने से पहले दो प्रकार का शपथ ग्रहण करना पड़ता है ।

(1) सामान्य शपथ - अपनी बात शुरू करने से पहले व्यक्ति यह शपथ ग्रहण करता है -"इमान धरम, सातो धरम, सतीम तेंगा लगदन ।" अर्थात् ईमानदारी ही सबसे बड़ा धर्म है । "मैं जो बोल रहा हूँ सच बोल रहा हूँ ।" इसके पश्चात अपनी बातों को रखता है ।

(2) विधि पूर्वक शपथ - व्यक्ति अपनी बातों को रखने से पहले विधिपूर्वक शपथ ग्रहण करता है । यह विधि प्रत्येक क्षेत्र में अलग-अलग होती है । कहीं-कहीं पर लोग किसी वस्तु को अपनी संतान मानकर उसकी शपथ खाते हैं और सोचते हैं कि यदि मैं झूठा हूँ तो मेरा बच्चा या मैं मर जाऊँगा । रेव० एडमंड केम्पियन ने अपनी पुस्तक 'My Oraon Culture' में लिखा है - "ई बाँस डुबहा दिम मोखा नेकअन ऐंगन ।"[6] इस शपथ के अनुसार व्यक्ति अपने हाथ से एक बाँस के टुकड़े को लेता है जो उसके संतान का प्रतीक होता है । साथ में एक पीतल का बर्तन भी लेता है फिर अपना दोनों हाथ बच्चे या अपने प्रियवर के सिर में रखकर बाँस के डंडे को पीतल के बर्तन में डालता है और कहता है कि यदि में झूठा साबित हुआ तो मेरा प्रियवर या संतान मर जायेगा ।

इस प्रकार पड़हा पंचायत उराँव समाज के लिए प्राचीन समय का सर्वोच्च न्यायालय था । पड़हा के प्रमुख का निर्णय सभी को मान्य होता था । वर्तमान समय में इनकी शक्ति कुछ कम हो गयी है । इस तरह उराँव आदिवासियों की न्याय व्यवस्था का संचालन सफलता पूर्वक किया जाता था । लेकिन आधुनिक युग में इसका रूप बदलता गया और यह सिर्फ किताबों में पढ़ने की चीज बनकर रह गयी है । आज उराँव इसकी याद सिर्फ जतरा में झण्डे एवं प्रतीक चिह्नों के द्वारा करते हैं । जैसे-जैसे बाहरी सभ्यता एवं संस्कृति का उराँवों पर असर हुआ इनका परम्परागत राजनीतिक संगठन छिन्न-भिन्न होता गया । अंग्रेजी शासन काल से ही परम्परागत पंचायतों का विघटन आरंभ हो गया था । अंग्रेजों ने अपना आधिपत्य जमाने एवं अधिक कर वसूलने के लिए इन पंचायतों में परिवर्तन लाया जिससे कि वे टूटकर बिखर जायें एवं कमजोर हो जायें । जब बिहार में पंचायती राज लागू किया गया तो ग्राम स्तर पर वैधानिक पंचायतों की स्थापना की गयी इसके अन्तर्गत बहुमत के आधार पर ग्राम पंचायत के मुखिया का चुनाव होने लगा । इसका परम्परागत पड़हा पंचायत पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा । वर्तमान में उराँव क्षेत्रों में परम्परागत पड़हा पंचायत का सबसे छोटा रूप टोला पंचायत एवं पद्दा पंचायत का अस्तित्व स्वयं को बचाने के लिए दुनिया के आधुनिक व्यवस्था से संघर्ष कर रहा है । परम्परागत स्वरूप एवं कार्य में बहुत परिवर्तन आ गया है । कहीं-कहीं यह समाप्त भी हो गया है । अब उराँव लोग न्याय के लिए टोला, पद्दा, पड़हा पंचायत में न जाकर इसकी अवहेलना कर सरकारी वैधानिक पंचायतों तथा अदालतों

में जाने लगे हैं । यहाँ समय और पैसे की पूरी बर्बादी होती है और न्याय भी नहीं मिलता है । साथ ही न्यायालय में जाने के बाद ग्रामीण भाईचारा का सम्बन्ध और अपनत्व खत्म हो जाता है । ऐसे परिवारों के बीच हमेशा के लिए एक दूरी एवं कटुता पैदा होती है जो समाज को तोड़ता एवं बिखेरता चला जाता है ।

डेहन के विचारों को अपनी पुस्तक 'भारतीय समाज में जनजातिगण' में लेखक नर्मदेश्वर प्रसाद ने लिखा है "जनजातीय क्षेत्रों में आत्मप्रशासन होना चाहिए और जनजातियों को अपने बारे में निर्णय करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए ।"[7] स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री स्व० जवाहर लाल नेहरू ने भी कहा था कि– उन्हें अपने तरीके से ही विकास करने देना चाहिए । वर्तमान युग में भी उन्हें अपने पारम्परिक तरीके से ही विकास करने के लिए सहयोग करना चाहिए ।

(च) पारिवारिक जीवन में – प्रत्येक मनुष्य पारिवारिक जीवन पसन्द करता है । प्रत्येक समाज में परिवार का विशिष्ट स्थान है । उराँव समाज में भी परिवार का महत्त्वपूर्ण स्थान है । प्राचीन समाज में मुख्यत: संयुक्त परिवार का प्रचलन था । उस संयुक्त परिवार में माता–पिता, बच्चे, दादा–दादी, चाचा–चाची, फूफू इत्यादि होते थे । इनकी जीविका का साधन मुख्यत: कृषि होने के कारण इस समाज में संयुक्त परिवार की परम्परा रही है । उराँव समाज व्यवस्था में भूमि एक साधन है जिसका उपयोग जीविका के लिए किया जाता था । इस साधन (भूमि) का प्रत्येक व्यक्ति के नाम पर बंटवारा नहीं किया जाता था । इसलिए परिवार भी संयुक्त होता था । वैसे भी कृषि कार्य बहुत मेहनत का काम होता है और उसमें बहुत अधिक लोगों की आवश्यकता होती है । संयुक्त परिवार में एक साथ रहकर कम खर्च में अधिक लोगों का भरण–पोषण अच्छे तरीके से हो सकता है । साथ ही सुरक्षा की भावना भी बनी रहती है, चाहे वह बाहरी सुरक्षा हो या आन्तरिक । संयुक्त परिवार में हर उम्र के लोग होते हैं । अत: आदर–सत्कार एवं प्यार का एक सुन्दर वातावरण मिलता है, जिससे नैतिक शिक्षा मिलती है । लेकिन आधुनिक वैज्ञानिक युग ने संयुक्त परिवार को तोड़ा है । उराँव आदिवासियों पर भी इसका बुरा असर पड़ा है । शिक्षा आने के बाद, बाहरी वातावरण के दबाव के कारण तथा नई सरकारी व्यवस्था ने इनके जीवन को पूर्ण रूप से परिवर्तन के लिए बाध्य किया है । आज उराँव समाज में संयुक्त परिवार का विघटन हो रहा है । लोग संयुक्त परिवार को विकास

में बाधक समझते हैं। वर्तमान में उराँव व्यक्ति शिक्षा ग्रहण करके नौकरी-पेशे से जुड़े हुए हैं। अब इनका आर्थिक आधार भी बदल रहा है। अब ये सिर्फ कृषि पर ही आश्रित नहीं हैं। नौकरी-पेशा वाले लोग एकल परिवार में रहना अधिक पसन्द करते हैं। ऐसे लोग शहरी भीड़-भाड़ तो पसन्द कर रहे हैं लेकिन घर-परिवार के लोगों का भीड़ (अधिक लोगों) को पसन्द नहीं करते। संयुक्त परिवार में अपनी शिक्षा, नौकरी, रहन-सहन, खान-पान या अन्य लोगों से सामंजस्य बिठाने में बाधा, कठिनाई का अनुभव करते हैं। प्रायः यह सुनने को मिलता है कि घर में इतनी भीड़ है कि पढ़ने के लिए एकान्त समय नहीं मिलता है। इसी तरह खान-पान, पहनावे-ओढ़ावे या घूमने-फिरने वाली बातों के साथ भी इस तरह की बातें सुनने को मिलती हैं। आज के युवा वर्ग या बच्चों को बड़े-बुजुर्गों की शिक्षा भरी बातें बेकार की लगती है, या वे इन बातों को अपने विकास के रास्ते में रोड़ा समझते हैं। पहले के संयुक्त परिवार में बड़े-बुजुर्गों का एक विशेष स्थान होता था। घर के सभी लोग उनको आदर देते थे एवं उनका कहना मानते थे। अब बुजुर्गों का वह स्थान परिवार में नहीं पाया जाता है। नाना-नानी, दादा-दादी का अपने नाती-पोतियों के साथ एक विशेष सम्बन्ध होता है। लेकिन वर्तमान आधुनिक युग ने इस सम्बन्ध को समाप्तप्राय ही कर दिया है। नयी पीढ़ी के बच्चे पहले की तरह अपने नाना-नानी, दादा-दादी का सामीप्य पाने के लिए आतुर दिखायी नहीं पड़ते हैं। पढ़ाई-लिखाई से छुट्टी के बाद उनकी अपनी दिनचर्या होती है। जिसमें टी०वी० के कार्यक्रम देखने, कम्प्यूटर द्वारा कई तरह के खेल खेलना इत्यादि शामिल होता है। इन सबके बाद उनके पास समय ही नहीं होता है कि नाना-नानी और दादा-दादी के साथ क्षण भर बैठकर कुछ सीखें, उनकी बातें सुनें या उनके साथ कुछ मनोरंजन करें। बच्चों को नाना-नानी, दादा-दादी की प्यार एवं ममता भरी गोद, शिक्षाप्रद कहानी, गीत, चुटकुले जैसे मनोरंजन का स्थान अब टी०वी० एवं कम्प्यूटर जैसे मशीनरी चीजों द्वारा छीन लिया गया।

इस नये परिवेश में, घर परिवार में रहने वाले बुजुर्गों की मनःस्थिति का सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है। शहर में नौकरी पेशा करने वाले व्यक्ति अपने माता-पिता या बुजुर्गों को अपने साथ शहरों में रखना चाहते हैं, तो बुजुर्गों का जवाब न में होता है। कुछ चले भी जाते हैं तो इस व्यस्तता और उबाऊ भरी जिन्दगी में सामंजस्य नहीं कर पाते हैं और जल्दी ही वापस आ जाते हैं या मानसिक रूप से

संतुष्ट नहीं हो पाते हैं। ये बुजुर्ग इस नये वातावरण में क्यों नहीं जाना चाहते, क्यों नहीं रहना चाहते, इस सुख-सुविधा वाले वातावरण में ? ये सब हमने कभी सोचने का प्रयास किया है ? कारण सिर्फ एक है । जिस सुन्दर समाज-व्यवस्था में उनकी जिन्दगी गुजरी है, वह समाज-व्यवस्था अब नहीं रही । नये वातावरण ने उन्हें बिल्कुल अलग और अकेला कर दिया है । दो पीढ़ियों के बीच की खाई इतनी बढ़ गयी है कि दोनों ही एक-दूसरे में सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकते हैं। दोनों एक-दूसरे के साथ क्षण भर प्यार और आनन्द का आदान-प्रदान नहीं कर सकते हैं। प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन के कारण ही ऐसी परिस्थिति उराँव जनजातीय परिवार में आयी है । इसका असर पूरे समाज पर पड़ता है । परिणामस्वरूप आज उराँव जाति का अस्तित्व खतरे में है ।

(छ) आर्थिक जीवन में : भोजन की खोज हमेशा ही मानव के क्रियाकलापों में प्रमुख स्थान रखता है । उराँव जनजाति का आर्थिक जीवन आखेट एवं कृषि पर आधारित था। वर्तमान में भी इनका मुख्य पेशा कृषि ही है । लेकिन वर्तमान आधुनिक युग में जरूरतों के बढ़ जाने के कारण प्राचीन पारम्परिक तरीके से कृषि कार्य करना एवं उससे अपनी आजीविका चलाना सम्भव नहीं है । पहले ये पूर्ण रूप से स्वावलम्बी थे । तब इनकी आवश्यकताएँ भी कम थीं। अब अन्य लोगों के सम्पर्क में आने से इनकी आवश्यकताएँ बढ़ गयी हैं, लेकिन साधन नहीं बढ़े । वे सीमित रही और इस सीमित साधनों पर दूसरे लोग हावी होते रहे हैं। उन अन्य समूहों के सम्पर्क ने आदिवासियों के आर्थिक-जीवन को काफी प्रभावित किया है । विघटन के कारण उत्पन्न हुई इस नये वातावरण ने इनके सामाजिक जीवन को अन्दर-बाहर दोनों तरह से तोड़ा है । उनकी पुरानी आर्थिक व्यवस्था- अधिक से अधिक भूमि का उपयोग, वनों के उपयोग में स्वतंत्रता थी। इस तरह वे पूर्ण रूप से कृषि पर निर्भर थे । लेकिन प्रशासन ने इस स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगा दिया । जिस आदिवासी ने जमीन बनाया, जिसने जंगल की रक्षा की, जिसने नदियों, तालाबों को प्रदूषित होने से बचाया, उसी पर तरह-तरह के आरोप लगाकर उनके प्रयोग से उन्हें वंचित किया गया। जमीन के लगान वसूले जाने लगे एवं कई वन नीति बनाये गये । इसी तरह वे प्राकृतिक जल स्रोतों का भी अपनी मर्जी से उपयोग नहीं कर सकते हैं। आज के नवीन सांस्कृतिक योजनाओं ने उनके इस 'निरंकुश' जीवन का

अन्त ही कर दिया। उनके बीच शोषक वर्ग का प्रवेश हो गया है जिसके कारण उनका सामाजिक एवं नैतिक जीवन काफी प्रभावित हुआ है। सामाजिक मूल्य, समानता को भूलकर अब वे व्यक्तिवादी लाभ की ओर बढ़ रहे हैं। क्योंकि वर्तमान व्यवस्था उन्हें ऐसा करने पर विवश कर रहा है। गरीबी, भूख, अशिक्षा एवं बेरोजगारी ने उन्हें नैतिक पतन की ओर धकेला है। सरकारी व्यवस्था उनके अनुकूल नहीं है जिससे कि वे अपनी भूमि पर साल भर खाने लायक कृषि कार्य कर सकें। तीन महीने अपने खेतों में काम करने के बाद वे बेकार हो जाते हैं। इससे बचने के लिए वे छःमसिया मजदूर के रूप में कार्य करने बाहर अन्य राज्यों में जाते हैं, जहाँ उनका हर तरह से शोषण होता है। ये बहुत मेहनती होते हैं। यदि इन्हें सिंचाई की पूर्ण सुविधा उपलब्ध करायी जाये तो वे अपनी आर्थिक स्थिति सुधार कर यहीं खुशहाल रह सकते हैं। रोजगार के लिए उन्हें भटकना नहीं पड़ेगा। अन्य राज्यों में उन्हें दर--दर की ठोकरें नहीं खानी पड़ेगी। शिक्षा नीति बनाते समय सरकार इनके परिस्थितियों के अनुसार आधुनिक शिक्षा के लिए पूर्ण रूप से आर्थिक सहयोग करे। इनकी परम्परा में दुकानदारी, व्यापार जैसा कोई व्यवसाय कभी नहीं रहा। अतः इनके लिए अपनी परम्परा से जुड़ी व्यवसाय यानी कृषि की ही सुविधा उपलब्ध कराये। सरकार कृषि सुधार से सम्बन्धित योजनाओं को इनके लिए लागू करें एवं आर्थिक रूप से सहयोग करें

शिक्षित परिवार जो अन्य व्यवसायों को स्वेच्छा से करना चाहते हैं उन्हें पूर्ण प्रशिक्षण दे ताकि वे व्यवसाय की गूढ़ बातों को समझ, सीख सकें और उनका व्यवसाय सही दिशा में अगे बढ़े। सरकार द्वारा चलायी जा रही योजनाएँ अनुसूचित जनजाति के नाम पर बनती हैं लेकिन इसका वास्तविक लाभ अन्य बाहरी एवं भ्रष्टाचारियों को मिलता है। इसके लिए पूरा सराकारी तंत्र जिम्मेवार है। किसी भी योजनाओं को आम आदमी तक पहुँचने की प्रक्रिया बहुत जटिल होती है। इससे भोला-भाला, अशिक्षित आदिवासी दलालों की चंगुल में फँस ही जाता है। इसके साथ ही इस क्षेत्र में बसने वाले बाहरी, अन्य जाति, दुकानदार, व्यापारी तथा महाजन सभी ने मिलकर इनकी आर्थिक व्यवस्था को जर्जर कर दिया है। इसके लिए कई कारक जिम्मेवार हैं। इसमें मुख्य है अंधी आधुनिकता, बाजारवादी संस्कृति, और वैश्वीकरण इत्यादि।

(ज) धार्मिक जीवन में - उराँव जनजीवन में सांस्कृतिक परिवर्तन ने उनके धार्मिक जीवन को भी प्रभावित किया है । इसकी झलक उराँवों के दैनिक जीवन में दिखाई पड़ रहा है । धर्म और संस्कृति में गहरा सम्बन्ध है । इसे अलग नहीं किया जा सकता । प्रत्येक धर्म के अपने-अपने संस्कार और विधि-विधान हैं । इसी से संस्कृति विशेष का निर्माण होता है । संस्कार एवं विधि-विधान से ही धर्म विशेष की जानकारी मिलती है ।

धर्म की उत्पत्ति एवं विकास के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं । विद्वानों के अनुसार धर्म की अत्यन्त प्राचीन और प्रचलित व्याख्या है - "धर्म ईश्वर और मनुष्य के बीच सम्बन्ध जोड़नेवाली एक कड़ी है ।"

बावेनार्क ने कहा - "ईश्वर के प्रति मनुष्य के कर्तव्य का नाम धर्म है ।"

श्लेइमाचार और फ्यूरवाक - "धर्म का आधार मनुष्य की वह आत्मानुभूति है जिसके द्वारा वह अपने आपको ईश्वर पर निर्भर अनुभव करता हो ।"

बेल - "धर्म ईश्वर और प्रत्येक मनुष्य के बीच का मामला है ।"

बेंजामिन कान्स्टन्ट - "धर्म आत्मा की आवश्यकताओं और बुद्धि के परिणामों का नाम है ।"

गोबलेट डी० एल० वी एला - "धर्म एक विशेष प्रकार का साधन है । जिसके द्वारा मनुष्य अति मानुषी और रहस्यमयी शक्तियों के साथ स्वयं को निर्भर समझता है । इसलिए वह उससे अपना सम्बन्ध स्थापित करता है ।"

ए० रिवाहल - "मनुष्य की आत्मिक इच्छा तथा रहस्यमयी शक्ति के आधिपत्य को विश्व स्तर पर स्वीकारता है और उसके साथ मनुष्य अपनी एकामता अनुभव करता है ।"

इसके पश्चात् कई विद्वानों ने पुनः धर्म की परिभाषा अपने-अपने ढंग से दी है । जिनमें जेम्स फ्रेजर, मैलिनोवस्की, टायलर, हावेल, मैरेट मजुमदार तथा मदन, बकेट तथा रेडक्लिफ ब्राउन इत्यादि हैं । इन सभी विद्वानों के द्वारा धर्म की उत्पत्ति की परिभाषा का सारांश है - जीववाद या आत्मावाद (Animism), जीवित सत्तावाद या मानावाद (Animatism) तथा प्रकृतिवाद । इनके साथ में अन्य देवताओं की संकल्पना भी बाद में आयी । अर्थात् धर्म की उत्पत्ति के मूल में इन सभी की पूजा आराधना का भाव सन्निहित है । इस तरह उराँव विश्वास एवं आस्था के अनुसार धर्म के अन्तर्गत "अदृश्य शक्तियों के प्रति कर्तव्य का एक अटूट बंधन है ।"

प्रत्येक मानव के जीवन में धर्म का गहरा प्रभाव होता है । धर्म की नींव बालपन से कोमल मस्तिष्क पर ही पड़ जाती है । यही उम्र के साथ धीरे-धीरे परिपक्व होता जाता है । मनुष्य का धार्मिक पक्ष पूरी तरह से उनके जीवन चक्र से जुड़ा होता है । मनुष्य धर्म से सम्बन्धित कई क्रियायें करता है । वे क्रियायें भौतिक एवं अभा।तिक दोनों तरह की होती हैं । जीवन में जितने भी संस्कार सदृश्य हैं उन्हें हम भौतिक रूप में सर्वशक्तिमान ईश्वर को श्रद्धापूर्वक परोसते हैं । इन संस्कारों से जुड़े चेतन और अचेतन अवस्था जो अदृश्य हैं जिसे हम सिर्फ अन्त:करण से अनुभव कर रहे हैं वह धर्म का अभौतिक रूप है । ये सभी क्रियायें मन से, बुद्धि से, चित्त से, अपनी इच्छा से स्वत: ही किसी के अन्त:करण को झकझोरता है । यह ईश्वर के प्रति, धर्मे बाबा के प्रति स्वत: स्फूर्त है । इसे हम आध्यात्म कह सकते हैं । आध्यात्मिकता किसी भी धर्म का सार भाग है । यही धर्म का सर्वस्व है, धर्म की कसौटी है, अनुभूति और साक्षात्कार है । उराँव अपने ।

इसी अनुभूति को जीवन और मृत्यु के रूप में देखते हैं । इस अनुभूति में जीवन को साक्षात्कार तथा मृत्यु को सत्य के रूप में स्वीकारते हैं । वे अपने मुक्तिदाता के रूप में धर्मे बाबा को जानते हैं । इनके बीच एक कहावत है –

"जिनगी नू एन्दरा र'ई"
"जिनगी रे चिकन परवा"

इनका सोच है कि जो कुछ भी है सभी सर्वशक्तिमान धर्मे बाबा का है । हमारा अपना कुछ भी नहीं है । इसलिए निश्चित हो, निश्चित भाव से उनका जीवन-यापन सादगी पूर्ण तरीके से होता है ।

इससे सम्बन्धित गीत – ने हूँ संगे मला कालोर
जिया कालो बीरी
अयो-बाबा संगे मला कालोर
जिया कालो ....
संग्गी-साथी संगे मला कालोर
जिया कालो ....
ख़ल्ल-उखड़ी संगे मला कालोर जिया कालो बीरी
जिया कालो ....
जिया-कया संगे संगे कालो
जिया कालो ....

अर्थात – कोई भी में नहीं जाएगा
जब शरीर प्राण त्याग करेगा
माता-पिता, संगी दोस्त,
खेत-बारी कुछ भी साथ में नहीं
जाएगा जब प्राण निकलेगा
लेकिन अपना शरीर और जीव
ये दोनों साथ-साथ ही जाएगा
जब मृत्यु होगी ।

इस गीत में दुनिया की क्षणभंगुर माया मोह एवं ममता के बारे में कहा गया है कि सभी कुछ क्षणिक हैं । इस मोह में फंसकर ही हम गलत कार्य करते हैं । अत: जब हम मरते हैं इस देह का नाश होता है तो हम अकेले ही मरते हैं । तब हमारे साथ कोई भी नहीं जाता है ।

वे अपने जीवन को एक साक्षात्कार के रूप में जीते हैं और इसलिए मंत्र, भजन, गीत, नृत्य द्वरीर अपने ईश्वर पिता पर ध्यान केन्द्रित करते हैं । मृत्यु पश्चात् उस अदृश्य जीव (आत्मा) को भटकता हुआ न छोड़कर परिवार के साथ मिलाया जाता है । वह सर्वशक्तिमान धर्मे बाबा ने ब्रह्मंड की रचना की, उत्पत्ति की । इसलिए उराँव आध्यात्म जीवन व दृष्टिकोण की प्रेरणा का वे (धर्मे बाबा) आधार हैं । अत: वे धर्मे बाबा की निषिद्धताओं का अनुपालन करते हैं । वे प्रकृति के विरुद्ध न जाने की परमेश्वर की धारणा का अनुसरण करते हैं । ये आध्यात्मिक अनुभति ही इनके जीवन का मार्ग है । यह इनके जीवन में व्यवहारिक है सिर्फ सैद्धान्तिक नहीं । ये इसे पल-पल, नित्य जीते हैं । सभी परिस्थितियों में सांमजस्य कर सकारात्मक बंधु भाव से जीवन यापन करते हैं ।

उराँव के धार्मिक जीवन में भले ही पैगम्बर व धर्मग्रंथ नहीं हैं लेकिन इनके श्रद्धा से इनके आत्मज्ञान को आंका जा सकता है । इनके पारिवारिक, सामाजिक जीवन में कुछ खास कर्तव्य व अधिकार हैं । इसे भलीभांति हृदयंगम कर लेने के पश्चात् स्वभावत: उसके अनुरूप वह आचरण करता है जो सदृश है ।

एक उराँव "अनन्त आत्मा" जिसे अपनी-भाषा में "जिया" कह सभी मनुष्य में समानता का भाव रखता है । इसलिए इस समाज में समानता, सहयोगिता, सहिष्णुता, सामुदायिकता, सामूहिकता, भाईचारा, सत्यता तथा समादर जैसे निष्ठा का पोषण होता रहा है । उराँव जीवन के धर्म दर्शन में सर्वशक्तिमान ईश्वर (धर्मेबाबा) को केन्द्र बनाकर भावाभिव्यक्ति को संतुष्ट करने वाला धर्म, आत्म शुद्धि की ओर ले जानेवाली व्यक्तिगत नैतिकता, बल और चारित्रय की कोमलता तथा लोक संग्रह अर्थात् मानव-जाति का सांमजस्य से प्रेरित जीवन को दर्शाती है । इससे आध्यात्मिक जगत की सर्वश्रेष्ठ विश्सनीयता व्यक्त होती है ।

उराँवों के धार्मिक जीवन में कई तत्वों का सम्मिश्रण है, जिसे अनुभव द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । यह इनके रग-रग में समाहित् है ।

लेकिन वर्तमान में सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा ने इनके धार्मिक जीवन में भी कई समस्यायें उत्पन्न की हैं । आज इनके मूलभूत सिद्धान्त में बदलाव आने लगा है । अन्यों की देखादेखी, आधुनिकता की होड़ ने इन्हें अपनी "अनन्त आत्मा" (जिया) की पुकार से विमुख किया है । आज वे सरना-धार्मिक (धर्म के)आदेशों के अनुसार जीवन व्यतीत नहीं कर रहे हैं । अपने जीवन को अधिक स्पष्ट और बुद्धिगम्य, मानवहित, आन्तरिक अनुभति, जो अन्तरमन से निकले हुए को भूल रहे हैं । अब वे दुनिया की देखादेखी श्रद्धा का दिखावा , धन व सत्ता प्राप्त करने तथा किसी भी तरह से जनता पर अपना प्रभाव जमाने में लगे हुए हैं । इन सबको पाने के लिए वे अपने धार्मिक मूल्यों, आदर्शों और शिक्षा की अनदेखी कर रहे हैं । जो इनके पर्व-त्यौहार और जीवन दर्शन में सहज ही दिखाई पड़ रहा है । ख़द्दी, फग्गु, करम, सोहराई जैसे पर्व अब अन्तर्मन से न मनाकर सिर्फ दिखावे की चीज, प्रदर्शनी रह गई है । अन्ततः यही कहा जा सकता है "सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा" वर्तमान परिवेश के अनुसार उराँव जन जीवन में पथ प्रदर्शक बनकर आये पथ भ्रष्ट बनकर नहीं । क्योंकि धर्म के बिना जीवन असंभव है ।

(म्क) धुमकुड़िया संगठन में – जनजातियों के बीच धुमकुड़िया संगठन बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था । धुमकुड़िया सभी जनजातियों का सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन सम्बन्धी मुख्य शैक्षिक केन्द्र था । अलग-अलग जनजातियाँ इसे अलग-अलग नामों से जानते हैं । मुण्डा आदिवासी इसे 'गिति ओड़ा' कहते हैं, सौरिया पहाड़िया इसे 'ओड़ अड्डा' तथा मध्य प्रदेश के मुरिया जनजाति 'गोदुल' कहते हैं । उत्तर प्रदेश की भोटिया जनजाति इसे ' रंग बंग' कहते हैं और जुआंग आदिवासी इसे 'दरबार' के नाम से जानते हैं । उराँव इस महत्त्वपूर्ण शैक्षणिक केन्द्र को धुमकुड़िया कहते हैं । **धुमकुड़िया की संरचना** – प्रत्येक उराँव गाँव के बीच में 'अखड़ा' होता है । इस अखड़े में ग्रामीण नाचते-गाते हैं और अपना मनोरंजन करते हैं । किसी भी पर्व-त्यौहार में नाच-गान का या जतरा इत्यादि की तैयारी के लिए यही स्थान निश्चित किया गया है । इस जगह पर गाँव के किसी प्रकार की बैठक भी बुलायी जाती है । धुमकुड़िया इसी अखड़े से सटकर बना होता है । धुमकुड़िया एक बड़ा-सा कमरा (हॉल की तरह) होता है । इसमें एक ही दरवाजा होता है । सामने की ओर बरामदा होता है । ठीक बरामदे के सामने

सटकर अखड़ा होता है । घर की चारदीवारी मिट्टी की बनी होती है । छत खपड़े या फूस की होती है । जमीन कच्चा होता है जिसे मिट्टी-गोबर से लीप कर साफ किया जाता है । दीवार को मिट्टी गोबर से चिकना करने के पश्चात् सफेद पोतनी मिट्टी से लिपाई की जाती है । सुन्दरता के लिए अर्द्ध गोलाकर धारी बनायी जाती है । इसे साफ सुथरा रखा जाता है किसी पर्व-त्यौहार के अवसर पर धुमकुड़िया को फूल, पत्तों और झंडों से सजाया जाता है ।

उराँव में धुमकुड़िया दो प्रकार का होता है (1) जोंख एड़पा । इसमें लड़के सोते हैं। (2) पेल्लो एड़पा इसमें लड़किया सोती हैं। दोनों ही एक दूसरे के धुमकुड़िया में प्रवेश नहीं कर सकते हैं। यानि जोंख एड़पा में लड़कियों का एवं पेल्लो एड़पा में लड़कों का प्रवेश वर्जित है । यदि कोई ऐसा करते पकड़ा जाता है तो गाँव वाले सभा बुलाते हैं एवं पंच के सामने उसे दण्डित किया जाता है । जोंख एड़पा में लड़कियाँ वर्ष में एक बार प्रवेश करती है । वह दिन लिपाई पुताई का दिन होता है । उसी तरह लड़के पेल्लो एड़पा में सिर्फ एक बार प्रवेश करते हैं जिस दिन पेल्लो एड़पा के छप्पर की मरम्मती की जाती है । उराँव जाति में औरतों का छप्पर-छारना निषिद्ध माना जाता है ।

धुमकुड़िया उराँव जाति का सामाजिक, सांस्कृतिक प्रशिक्षण केन्द्र था । प्राचीन व्यवस्था के अनुसार गाँव के प्रत्येक लड़के-लड़कियों को इसकी सदस्यता



उराँव जातियों का शैक्षणिक केन्द्र धुमकुड़िया

ग्रहण करना आवश्यक होता था। धुमकुड़िया में प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले लड़कों को अपनी प्रशासनिक सुविधा के लिए तीन भागों में बांटा जाता था। धुमकुड़िया में प्रवेश पाने वाले प्रथम भाग के बच्चों को 'पुना जोंखर' दूसरे भाग को "मझतुरिया जोंखर" और तीसरे भाग के सबसे बड़े लड़कों को 'कोहा जोंखर' कहा जाता था। धुमकुड़िया में प्रवेश की उम्र 8 वर्ष की थी । साधारणत: धुमकुड़िया में ये 22 वर्ष की उम्र तक रह सकते थे । लड़कियों की उम्र 18 वर्ष तक रहने की थी । उराँव समाज में धुमकुड़िया का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान था कि इसकी सदस्यता ग्रहण किये बगैर लड़के-लड़कियों की शादी नहीं होती थी । गाँव के प्रत्येक परिवार के लड़के-लड़कियों को धुमकुड़िया की सदस्यता ग्रहण करना आवश्यक था। धुमकुड़िया की सदस्यता समाप्त करने के बाद ही लड़का या लड़की विवाह योग्य समझा जाता था । इस संस्था में लड़कों को एवं लड़कियों को आने वाले भावी जीवन की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक प्रशिक्षण दिया जाता था । प्राचीन समय के अनुकूल उन्हें आर्थिक प्रशिक्षण दिया जाता था जैसे- लड़कियों को टोकरी, झाड़ु, चटाई आदि बनाना । सूत कातना, कपड़े में रंग-बिरंगे धागे से फूल काढ़ना, प्राथमिक उपचार की जड़ी बूटियां इत्यादि सिखाया जाता था। इसलिए डॉ० अजीत कुमार सिंह एवं डॉ० अवधेश प्रसाद सिन्हा ने अपनी पुस्तक 'भारत के आदिवासी' में लिखा है -"युवा गृहों में लोक कथाओं, प्रथाओं, सामाजिक कानून, कृषि कार्य, शिकार एवं सामूहिक जीवन से सम्बन्धित शिक्षा दी जाती है ।"[8] धर्म से सम्बन्धित बातें, पर्व-त्यौहार, नाचना-गाना एवं राग जो कि प्रत्येक मौसम एवं पर्व-त्यौहार के अनुसार अलग-अलग होता है इन सब बातों की जानकारी धुमकुड़िया में दी जाती थी ।

लड़कों को भी आर्थिक जीवन सम्बन्धी शिक्षा के अलावा सामाजिक, सांस्कृतिक प्रशिक्षण दिया जाता था। जैसे- कृषि कार्य के लिए उपयुक्त समय, घर बनाना, पशुओं की देखभाल करना, शिकार करना, गाँव की रक्षा करना इत्यादि । साथ ही पर्व-त्यौहारों में पूजा-पाठ या धार्मिक अनुष्ठान तथा जतरा आदि में होने वाले नृत्य संगीत की प्रतियोगिता की तैयारी आदि का प्रशिक्षण दिया जाता था। सैद्धान्तिक रूप में बताने के बाद उन्हें व्यवहार में कार्य कराया जाता था जिसमें लड़के-लड़कियों को सामूहिक कार्य भार दिया जाता था। जैसे गाँव में किसी प्रकार का धार्मिक अनुष्ठान हो या विवाह हो या किसी परिवार में रोपनी, कटनी खाद ढोना जैसे कार्यों में धुमकुड़िया के सदस्यों को आमंत्रित किया जाता था । ऐसे कार्यों में इनकी सामुहिकता एवं भाईचारे का वातावरण को देखा जा सकता था। इससे गाँव की एकता मजबूत होती थी । भाईचारा बढ़ता था साथ ही समय एवं

आर्थिक परेशानी नहीं होती थी । इन सब बातों की जानकारी माता-पिता अपने बच्चों को उतनी अच्छी तरह नहीं दे सकते थे जितना कि धुमकुड़िया में दिया जा सकता था । वर्तमान स्थिति में विद्यालय का जो कार्य है । वही कार्य उस समय प्रत्येक धुमकुड़िया का होता था ।

धुमकुड़िया में प्रवेश का मतलब घर छोड़ना नहीं होता था । बच्चे अपने घर में ही परिवार जनों के साथ रहते खाते-पीते और घरेलू कार्य करते थे । सिर्फ रात के समय सोने के लिए धुमकुड़िया जाते थे । धुमकुड़िया में सोने से पहले अपने रूटिन के अनुसार कार्य होता था । इसके बाद सभी कार्य समाप्त होने पर ही सभी को सोने की अनुमति मिलती थी । दिन के दोपहर में आराम करने का समय भी धुमकुड़िया में होता था इसके अलावा मौसम के अनुसार व्यवहारिक कार्य के लिए ग्रामवासी स्वयं उन्हें खबर भेजते थे । इसकी सूचना लड़के-लड़कियों को उनका मुख्य संरक्षक देता था । इन्हीं की देख-रेख व नेतृत्व में कार्य का संचालन होता था । इस व्यवस्था में हम एक नियमानुकुलता पाते हैं । एक अनुशासन व्यवस्था है । एवं छोटे बड़ों की कद्र की भावना का सृजन होता है । इस सम्बन्ध में उमेश कु० वर्मा ने अपनी पुस्तक 'बिहार का जनजातीय जीवन' में लिखा है- "धुमकुड़िया में बहुत कड़ा अनुशासन हुआ करता था । धुमकुड़िया के नियमों की अवहेलना करने वाले सदस्यों को धांगड़ महतो (संरक्षक) कड़ी सजा देता था ।"[9]

वर्तमान में धुमकुड़िया अपनी छवि अपनी उपयोगिता खो चुका है । बाहरी लोगों का आगमन, ईसाई मिशनरियों का पदार्पण ने उराँव और अन्य आदिवासियों के पारम्परिक व्यवस्था नीति-रीति, विधि-व्यवस्था सभी को ध्वस्त कर दिया । इतनी सारी विशेषताओं के होते हुए उसे अनदेखा किया गया । बाहरी लोग हिन्दू और ईसाई मिशनरियाँ स्वयं को शिक्षित एवं बड़े व्यक्ति समझते थे । वो भला आदिवासियों की इस सुन्दर व्यवस्था को क्यों स्वीकार करते ? जाने-अनजाने इन्होंने स्वयं के बड़प्पन को दिखाना चाहा । इनकी सामाजिक व्यवस्था को जानने की इच्छा जाहिर किये बगैर स्वयं के रहन-सहन सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था को ही सर्वोच्च बताया एवं अपनी व्यवस्था को थोप दिया । भोले-भाले आदिवासी बेचारे 'दूर के ढोल सुहाने' की तर्ज पर अपनी अच्छी व्यवस्था को नकार कर उनकी ओर आकर्षित होने लगे । आज जब वे उनकी व्यवस्था को अच्छी तरह जान चुके हैं और अपनी पारम्परिक व्यवस्था से तुलना करते हैं तो अपनी पारम्परिक व्यवस्था को लाख गुणा अच्छा पाते हैं । अब तब उराँव और अन्य आदिवासी संभलना चाह रहे हैं तो पाते हैं कि वे दल-दल में फंस चुके हैं अब वे इस

दल-दल से निकलने के लिए हाथ पांव मार रहे हैं । वर्तमान व्यवस्था में विद्यालय, महाविद्यालय, क्लब सभी कुछ धुमकुड़िया का ही रूप है ।

कुछ देशी-विदेशी लेखकों ने धुमकुड़िया संस्था को जाने बगैर इसकी गलत व्याख्या कर धुमकुड़िया की पवित्रता एवं उपयोगिता को धूमिल किया है । आदिवासियों के बीच खुली यौन सम्बन्धों जैसी गलत बातों को लिखा गया। जबकि वास्तविकता इससे परे हैं । किसी भी समाज के बारे में सही जानकारी लिए बगैर ऐसी गलत बातें लिखना लेखकों के सम्मान की बात नहीं हो सकती । उराँव के सामाजिक संरचना को जानने के लिए उनके गोत्र एवं ग्रामीण व्यवस्था को जानना अतिआवश्यक है । धुमकुड़िया उराँव के सामाजिक संरचना, गोत्र व्यवस्था, ग्रामीण व्यवस्था, गाँवों का निर्माण, इत्यादि सभी बातें एक दूसरे से गुंथे हुए हैं । इन्हें अलग करके कुछ लेखकों ने इनकी बारीकियों को समझे बगैर एक उत्तम आदर्श समाज को अपमानित किया है ।

धुमकुड़िया विघटन का उराँव समाज पर प्रभाव

धुमकुड़िया विघटन से उराँव समाज बुरी तरह प्रभावित हुआ है । आज समाज में जितनी बुराइयाँ आयी हैं, धुमकुड़िया के विघटन का ही परिणाम है ।

इसलिए नर्मदेश्वर प्रसाद ने अपनी पुस्तक 'भारतीय समाज में जनजातिगण' में लिखा है कि- "हिन्दुओं में प्रचलित बाल-विवाह का प्रसार हुआ और युवा गृहों के प्रति घृणा प्रारंभ हो गयी जिससे युवा गृहों की अवनति भी प्रारंभ हो गयी"[10]

पुनः नर्मदेश्वर प्रसाद ने ठक्कर बापा के विचारों को इसी पुस्तक में लिखा है "क्योंकि हिन्दुओं के सम्पर्क में आने से उनका शोषण हुआ और हिन्दुओं के बुरे रीति-रिवाज उनमें फैले ।"[11] इस तरह धुमकुड़िया के विघटन में दिकु, सदान, अंग्रेज, मिशनरियों का मुख्य रूप से हाथ है । आज उराँव समाज में बाल विवाह, एकल परिवार, व्यक्तिगत भावना, कृषि कार्य की अवहेलना, अन्तर्जातीय विवाह, जमा करने की प्रवृति, लिंग भेद एवं सामाजिक एकता की कमी इसी का परिणाम है । वर्तमान में उराँव समाज बिखर गया है । समाज की विशिष्टताएँ समाप्त हो रही है । उसे समेटने एवं संजोने की जरूरत है । उराँव समाज की विशिष्टताओं की शिक्षा धुमकुड़िया में ही दी जा सकती है । धुमकुड़िया ही सामाजिक सौहार्दता एवं भाईचारे को बनाकर समाज को एक सूत्र में बांध सकता है । अतः वर्तमान संदर्भ में धुमकुड़िया के पुनर्निर्माण एवं पुर्नस्थापना की आवश्यकता है ।

(ञ) वर्ण व्यवस्था पर एक दृष्टिकोण – मनुष्य की प्रकृति तथा व्यवसाय के आधार पर समाज का विभिन्न वर्णों में विभाजन हुआ। वर्ण का शाब्दिक अर्थ बताते हुए गुप्ता एवं शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतीय समाज तथा संस्कृति' में लिखा है– शाब्दिक दृष्टि से "वर्ण शब्द के तीन संभावित अर्थ लगाये गये हैं जो इस प्रकार हैं– प्रथम, वरण या चुनाव करना द्वितीय रंग और तृतीय वृति के अनुरूप।"[12] इन सभी में से पहले अर्थ को लोग अधिक महत्त्व देते हैं जिसका अर्थ चुनाव करना है। इस दृष्टिकोण से व्यक्ति अपने लिए जिस व्यवसाय का चुनाव करता है उसी के अनुसार उसके वर्ण का निर्धारण होता है। इससे स्पष्ट होता है कि वर्ण उन लोगों का एक समूह है जिनका व्यवसाय एक समान है, जो अपनी जीविका के लिए एक तरह का कार्य करते हैं। लेकिन यहाँ पर यह भी विचारणीय है कि मनुष्य स्वभाव से ही आत्माभिमानी होता है। सभी प्यार व इज्जत चाहते हैं। वर्ण–व्यवस्था में यह देखा गया है कि शूद्रों का कार्य सिर्फ हर तरह से तथाकथित उच्च वर्गों की सेवा करना है। इसमें सभी तरह की सेवायें आती है। ये वे सभी कार्य करते हैं जिससे हर मनुष्य घृणा करता है और शायद घृणा के कारण ही दूसरे लोग शूद्रों से अस्पृश्यता की भावना रखते हैं। उन्हें तरह–तरह से तिरस्कृत करते हैं। यह जानते हुए कोई भी मनुष्य स्वयं के लिए ऐसे व्यवसाय को क्यों चुनेगा ? मानवीय स्वभाव के अनुसार अपनी मर्जी से कोई भी व्यक्ति संभवतः ऐसे कार्यों का चुनाव नहीं करेगा।

विद्वानों के मतानुसार वर्ण–व्यवस्था की उत्पत्ति कई तरह से माना गया है। जैसे– ऋग्वेद, उपनिषद्, महाभारत तथा गीता।

(1) **ऋग्वेद** – ऋग्वेद हिन्दुओं का एक पवित्र धर्मग्रन्थ एवं भारतीय इतिहास का सबसे पुराना दस्तावेज भी है। इसके अनुसार कहा गया है कि परमात्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य एवं पाँव से शूद्र की उत्पत्ति हुई है और इसी आधार पर कार्य का बँटवारा हुआ है।

(2) **उपनिषद्** – उपनिषद् के अनुसार प्रारंभ में ब्रह्मा ने सबसे पहले ब्राह्मण को जन्म दिया, फिर क्षत्रिय को, फिर वैश्य को इन सभी लोगों ने समाज से सम्बन्धित कार्यों को नहीं कर सका तब ब्रह्मा ने शूद्र को जन्म दिया। शूद्रों के जन्म के बाद समाज का सभी कार्य पूरी तरह से सुव्यवस्थित हो गया।

(3) **गीता** – गीता के अनुसार समाज का चार वर्णों में विभाजन व्यक्ति के गुण के आधार पर हुआ। भारतीय दर्शन के अनुसार सत्व, रज एवं तम।

सत्व – सात्विक- आध्यात्मिक दृष्टिकोण रखनेवाला ब्राह्मण कहलाया।

रज – राजसिक- जिसमें सात्विक एवं राजसिक दोनों प्रवृति होती है वह क्षत्रिय कहलाया।

तम – तामसिक- राजसिक और तामसिक युक्त व्यक्ति वैश्य कहलाया।

शूद्र – तामसिक प्रवृति वाले व्यक्ति में अज्ञानता पायी जाती है । वह शूद्र कहलाया।

(4) **महाभारत** - महाभारत के अनुसार – इसके अनुसार प्रारंभ में एक ही वर्ण केवल ब्राह्मण वर्ण था जो बाद में चार वर्णों में बंट गया। विभिन्न वर्णों में बंटने का कारण विभिन्न गुण एवं कर्म माने जाने लगे । ब्राह्मणों का रंग सफेद, क्षत्रियों का रंग लाल, वैश्य का रंग पीला तथा शूद्र का रंग काला था। सफेद रंग पवित्रता का परिचायक, लाल रंग क्रोध, पीला रंग दोनों का मिश्रण तथा काला रंग अपवित्रता का परिचायक माना जाता था।

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति की समीक्षा

(i) पवित्र ग्रन्थ ऋग्वेद के अनुसार वर्णों की उत्पत्ति में एक ही शरीर के अवयवों में पारस्परिक आत्मनिर्भरता है। सभी अंग एक दूसरे के पूरक हैं। अत: समाज-व्यवस्था में सभी का समान महत्त्व व स्थान है यह बात सत्य भी है तो फिर वर्ण-व्यवस्था के नाम पर मनुष्य को चार भागों में बांट कर मनुष्य मन में ऊँच-नीच का भेद-भाव लाना कहाँ तक उचित है ? मुख, भुजा, जंघा तथा पाँव से मनुष्यों की उत्पत्ति विज्ञान की कसौटी पर खरा है ?

(ii) उपनिषद् के अनुसार वर्णों की उत्पत्ति सामाजिक, मानवीय आवश्यकताओं के अनुसार मनुष्य द्वारा विभिन्न प्रकार की सेवायें तथा पूर्वजन्म के कर्मों के आधार पर स्वभाव एवं गुण का बनना तथा इसी के आधार पर वर्ण विशेष की सदस्यता बताया गया है । लेकिन यह भी सत्य है कि मनुष्य का गुण एवं कर्म, समय, परिस्थिति एवं स्थान के आधार पर बदलता है साथ ही वंशानुक्रम में थोड़ा-थोड़ा परिवर्तन अवश्य होता है । इस परिवर्तन में जलवायु का भी बहुत प्रभाव पड़ता है । अत: इन कारकों के मिश्रण से जो परिवर्तन होता है उससे किसी वर्ण विशेष की शुद्धता धूमिल होती जाती है।

इन गुणों में कमी या अधिकता निश्चित तौर पर होती है । यह जैव वैज्ञानिक सत्यता है फिर वर्ण को किस आधार पर माना जाय ?

(iii) गीता के अनुसार - इसके अनुसार सात्विक, राजसिक, तामसिक तथा अज्ञानी ये सभी गुण अवगुण प्रत्येक व्यक्ति में कम या अधिक अवश्य ही पाया जाता है । चाहे वह तथाकथित किसी भी वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाला कोई भी व्यक्ति हो । इन सभी गुण, अवगुण को मापने का क्या आधार था ? मापदण्ड क्या था ? या है ? और इसके मापक कौन थे जिसके कारण किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कहा गया । इस तरह कई प्रश्न उठते हैं ।

(iv) महाभारत के अनुसार - इसके अनुसार वर्ण विभाजन का मुख्य आधार व्यक्ति का गुण एवं कर्म है । लेकिन क्या चारों वर्णों के अन्तर्गत आने वाले प्रत्येक व्यक्ति में ये सभी गुणों की कमी या अधिकता अवश्य रूप से होगी ? रंग में भी असमानता अवश्य होगी । यह आवश्यक नहीं कि ब्राह्मण श्वेत, क्षत्रिय लाल, वैश्य पीला एवं शूद्र काला ही हो । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये सभी काले एवं शूद्र भी श्वेत, लाल एवं पीला हो सकता है । इसके अलावा अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न संतान को किस वर्ण में रखा जाय ? यदि रंग को आधार माना जाय तब भी यह देखा जाता है कि भौगोलिक वातावरण और अनुवंशीय प्रभाव द्वारा रंग का निर्धारण होता है । प्रारंभिक काल में व्यवसाय (काम), स्वभाव, रंग तथा संस्कृति के आधार पर ही वर्ण को बढ़ावा मिलता गया । इस परिस्थिति में स्वयं को तेज बुद्धि, बाहुबलि तथा सामर्थ्यवान व्यापारी वर्ग ने मिलकर मानवीय मूल्यों को रौंदते हुए पशुओं की भांति शूद्रों का शोषण किया, करते रहे हैं । इन लोगों ने ही वर्ण व्यवस्था को बनाया तथा बढ़ावा दिया । वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति से कमजोर वर्गों (शूद्रों) के जीवन में सभी तरह के कष्ट उत्पन्न हुए । वे शारीरिक एवं मानसिक रूप से पिसते रहे । इसका असर उनके व्यक्तिगत, सामाजिक, सांस्कृतिक आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं भाषायिक क्षेत्र पर पड़ा । यूं कहा जाय मानव मन को हर तरह से दबा कर कुंठित कर दिया गया । उनके विकास के सारे रास्ते बंद कर दिये गये । सभी धर्मों में यह शिक्षा दी जाती रही है कि मानवीय मूल्यों का विकास हो । पर यहाँ यही धार्मिक शिक्षा देनेवाले ब्राह्मणों ने दोनों वर्णों के साथ मिलकर चौथे वर्ण

(मनुष्य) को रौंद दिया। उसे अछूत माना, कहा। उससे घृणा किया। मुख्य रूप से देखा जाय तो उस चौथे वर्ण के पास ही सभी मानवीय मूल्य हैं। जो सभी धर्मों का निचोड़ है। सभी धर्मों में मानवता की शिक्षा दी जाती है। लेकिन हिन्दू धर्म के बारे में डॉ० भीमराव अम्बेडकर के विचारों को डॉ० भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने अपनी पुस्तक 'यदि बाबा न होते' में लिखा है –"जो धर्म एक को **'विज्ञ'** बनाये रखने के लिए दूसरे को **'अज्ञ'** या अनपढ़ बनाये रखना चाहता है, वह धर्म नहीं है बल्कि लोगों को मूर्ख बनाये रखने का एक षड्यंत्र है। जो धर्म एक के हाथ में शस्त्र देकर दूसरे को निशस्त्र बनाये रखता है वह धर्म नहीं है बल्कि एक के द्वारा दूसरे को पराधीनता में रखने की चालाकी है। जो धर्म कुछ लोगों के लिए धन-प्राप्त करने का मार्ग खुला रखता है और शेष लोगों को जीवन-निर्वाह के लिए दूसरों पर अवलम्बित रहने की शिक्षा देता है, वे धर्म नहीं स्वार्थ परायणता है।"[13] ऋग्वेद, उपनिषद्, गीता, महाभारत तथा मनुस्मृति ये सभी हिन्दू धर्म से सम्बन्धित है। मनुस्मृति मनु महाराज द्वारा लिखित बतायी जाती है। इसी पुस्तक के पृष्ठ संख्या 51 में लेखक कौसल्यायन ने लिखा है कि – "इसमें सवर्णों हिन्दुओं के लिए तो कई अच्छी-अच्छी बातें लिखी हैं किन्तु शूद्रों और अछूतों के लिए एक भी अच्छी बातें नहीं पायी जाती जिसे अच्छा कहा जा सके।"[14] पुनः लेखक महोदय लिखते हैं– "एक मनुस्मृति क्या, शायद हिन्दुओं का एक भी ग्रंथ ऐसा नहीं जो किसी न किसी मात्रा में विषमता, निर्दयता तथा अन्याय का समर्थन न करता हो।"[15] इसी पुस्तक में लिखा गया है– "कि यह वर्ण धर्म ईश्वर कृत है या मनुष्य कृत। जब स्वयं ईश्वर ही भयभीत मनुष्य की कल्पना मात्र है तो यह प्रश्न ही नहीं उठता कि वर्ण धर्म ईश्वर कृत है या मनुष्य कृत। संसार में जो भी है यदि वह कृत है, यदि वह किसी की रचना है तो वह किसी न किसी प्राणी की ही रचना है और वर्ण धर्म तो निश्चयात्मक रूप से आदमी की ही।"[16]

अंततः यही कहा जा सकता है वर्ण व्यवस्था बनाने एवं इसे कार्यरूप देने का अर्थ यह था कि कुछ लोगों को हमेशा मनुष्य बल (बाहुबल), आर्थिक रूप से कमजोर (द्रव्य बल) तथा मानसिक बल से कमजोर कर दिया जाय। इन सभी के विकास में अवरुद्धता के लिए इन चार वर्णों का निर्माण किया गया जिससे आसानी से अन्य तीन वर्णों के लोग इनकी सेवा ले सके और ऐशो-आराम की

ज़िन्दगी जी सकें । इस व्यवस्था में बंधन ही बंधन है । कहीं शिक्षा का नामों-निशान शूद्रों के लिए नहीं है । कुल मिलाकर इस व्यवस्था को अच्छा या सुव्यस्थित नहीं कहा जा सकता है । प्रत्येक प्राणी स्वतंत्रता का अधिकारी है । मनुष्य तो संवेदनशील प्राणी है इसलिए बाल गंगाधर तिलक ने कहा था "स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है" चाहे वह किसी भी तरह की स्वतंत्रता है ।

आदिवासी समाज-व्यवस्था इस वर्ण-व्यवस्था से बिल्कुल ही भिन्न है । सिंगबोंगा, मरांगबुरू, धर्मेश ने इन सबको एक समान बनाया, एक-सी सीख दी । मानव-मानव के बीच समानता का पाठ पढ़ाकर ही दुनिया में भेजा । झारखण्डी आदिवासियों के बीच में वर्ण-व्यवस्था नहीं पाया जाता है । यहाँ के सभी आदिवासी प्रजातीय दृष्टिकोण से एक ही वर्ग के अन्तर्गत आते हैं । इनका रंग काला (श्याम) औसत ऊँचाई, बाल घुंघराले इत्यादि । ये भाषा और संस्कृति की दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं किन्तु इनका धर्म एक है । इन सभी आदिवासियों के बीच एक समानता है, कोई ऊँच-नीच के भेदभाव से ग्रसित नहीं है । सभी की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक व्यवस्था स्वतंत्र है । सभी अपने-अपने समाज के नियम-कानून एवं रीति-रिवाज व परम्परा को मानते हैं । ये सभी आदिवासी अपने आप में स्वतंत्र और स्वावलम्बी हैं । ये अपना प्रत्येक काम स्वयं करते हैं । काम को लेकर इनके बीच कोई बंटवारा नहीं है । 'उराँव' इसी आदिवासी समाज का एक अंग है । इनके बीच ऊँच-नीच का भेद-भाव बिल्कुल नहीं होता है । सभी एक ही 'धर्मे बाबा' की संतान है । 'धर्मे बाबा' ने उराँव को जन्म दिया था तभी सभी मानवीय गुणों सहित जन्म दिया था तथा मानवीय आवश्यकता की पूर्ति-हेतु अक्ल एवं साधन समान रूप से सभी को दिया था । वर्ण व्यवस्था की तर्ज पर अलग-अलग नहीं । इसलिए उराँव अपने जीवन-काल में अपने जरूरत के अनुसार सभी काम स्वयं करते हैं । उसे किसी जाति विशेष पर आश्रित नहीं रहना पड़ता है । बच्चे के जन्म से लेकर विवाह तथा मृत्यु तक के सभी संस्कार वह स्वयं प्रतिपादित करता है । प्रत्येक कार्य में पुरुष-महिला की समान भागीदारी होती है । गिने-चुने कुछ कार्य इस समाज़ में महिला के लिए प्रतिबन्धित है जो महिला की शारीरिक संरचना के कारण है । एक दो कार्यों में प्रतिबंध है तो दूसरी ओर विवाह जैसे पवित्र बंधन के मुख्य नेग-नियम सिर्फ महिलाओं द्वारा सम्पन्न होता है, इसमें पुरुषों के होने का कोई औचित्य नहीं है । इनकी सामाजिक व्यवस्था इसी तरह के ढाँचे में ढाली गयी है । महतो बनकर गाँव को सुव्यवस्थित रूप से चलाना, पाहन बनकर गाँव के लिए पूजा-पाठ करना, पनभरा बनकर पाहन के कार्यों में मदद करना, कोटवार बनकर इन

सबों की मदद करना एवं उराँव समाज का सदस्य होकर सभी की, सभी कार्यों में मदद करना एवं स्वयं सहभागी होना। इससे स्वयं के साथ ग्रामीण एवं पूरे क्षेत्र के लोग शारीरिक, मानसिक रूप से संतुष्ट एवं खुश रहते हैं। साथ ही सभी मानवीय मूल्यों से परिपूर्ण होते हैं। सभी एक दूसरे को समानता की दृष्टि से देखते हैं एवं एक दूसरे की मदद करते हैं। इससे मानव समाज में समानता एवं सहभागिता का विचार उत्पन्न होता है। प्रेम एवं भाईचारा की सीख मिलती है एवं सभी के लिए विकास के रास्ते खुले रहते हैं। इस व्यवस्था में शारीरिक, मानसिक विकास के अलावा पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं शैक्षणिक विकास को बढ़ावा मिलता है।

महतो, पाहन, पनभरा, कोटवार इत्यादि और भी कई पद सभी आदिवासियों के बीच में पाये जाते हैं जिसे सभी आदिवासी अलग-अलग नामों से जानते हैं। यह व्यवस्था सभी आदिवासियों के बीच सामान्य रूप से प्रचलित है। लेकिन नामकरण के अलावा इनकी सामाजिक संरचना करीब-करीब एक-सी है। इनके बीच वर्ण-व्यवस्था जैसी कोई व्यवस्था नहीं है। यही कारण है कि इनके बीच अब तक मानवीय मूल्य एवं संवेदनशीलता बनी हुई है।

ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं होने के कारण उराँव समाज अपनी ही जाति के अन्दर बर्हिगोत्रीय विवाह सम्पन्न करते हैं। अन्य आदिवासी भी इसी आधार पर विवाह सम्पन्न करते हैं। महतो, पाहन अपने कार्य के अलावा अन्य सभी कार्यों को सम्पन्न कर सकते हैं एवं किसी भी परिवार से बर्हिगोत्रीय होने पर विवाह सम्पन्न कर सकते हैं। महतो, पाहन इत्यादि पदों का चुनाव तीन या पांच या सात साल में होता है। कहीं-कहीं किसी क्षेत्र या गाँव में यह पद वंशानुगत होता है। लेकिन इसका अर्थ वह अपने समाज में अलग ऊँचा स्थान या अलग जाति का निर्माण नहीं करता है।

उराँव जाति के बीच उराँव व्यक्ति स्वयं पूजा भी करता है, स्वयं मुर्दा भी जलाता/गाड़ता है, स्वयं बढ़ई, स्वयं कुम्हार, स्वयं व्यापार, स्वयं कृषि एवं अन्य सभी कार्य करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह स्वावलम्बी है। अपनी जरूरतें वह स्वयं पूरा करता है। लेकिन मनुष्य की इच्छाएँ अनन्त हैं समय के अनुसार उनकी जरूरतों में भी वृद्धि हुई और अपनी जरूरतों को पूरा करने में वे असमर्थ रहे तब उन्होंने जरूरत के अनुसार जाति विशेष के दूसरे लोगों को अपने गाँव-टोलों में एक किनारे बसाने लगे और अपनी जरूरतों को पूरा करने लगे। उन्होंने अपने समाज को, उराँव जाति को विभक्त नहीं किया। यह उराँव एवं अन्य आदिवासी जातियों की विशिष्टता है।

संदर्भ संकेत

क्रम	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	पृ० संख्या
1.	उराँव संस्कृति	ब्र० मिखाएल कुजूर	277
2.	भारतीय समाज में जनजातिगण	नर्मदेश्वर प्रसाद	
3.	उराँव संस्कृति	ब्र० मिखाएल कुजूर	276
4.	उराँव संस्कृति	ब्र० मिखाएल कुजूर	277
5.	मुड़मा जतरा : एक परिचय	विलियम एक्का, सुधांशु शेखर मिश्र	17
6.	माई उराँव कल्चर	रेव० एडमंड केम्पियन	88
7.	भारतीय समाज में जनजातिगण	नर्मदेश्वर प्रसाद	74
8.	भारत के आदिवासी	डॉ० अजीत कुमार सिंह, डॉ० अवधेश प्र० सिन्हा	53
9.	बिहार का जनजातीय जीवन	उमेश कु० वर्मा	103
10.	भारतीय समाज में जनजातिगण	नर्मदेश्वर प्रसाद	
11.	भारतीय समाज में जनजातिगण	नर्मदेश्वर प्रसाद	74
12.	भारतीय समाज तथा संस्कृति	गुप्ता एवं शर्मा	64
13.	यदि बाबा न होते	भदन्त आनन्द कौसल्यायन	79
14.	यदि बाबा न होते	भदन्त आनन्द कौसल्यायन	51
15.	यदि बाबा न होते	भदन्त आनन्द कौसल्यायन	52
16.	यदि बाबा न होते	भदन्त आनन्द कौसल्यायन	79

सप्तम अध्याय

सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा और उससे उत्पन्न समस्याओं का विश्लेषण एवं समीक्षा

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है। सामाजिक परिवर्तन की धारणा बहुत बृहद है। स्थान, समय और संदर्भ के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक, संरचना के अन्दर होने वाले परिवर्तन की प्रक्रियाओं के पूंज को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। चूंकि यह धारणा अब इतनी बृहद है, इसलिए कुछ अस्पष्ट, अन्तरिम मूल्य-तटस्थ हैं। सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा के अतिरिक्त हमें उद्विकास, क्रान्ति, प्रगति, विकास, सामाजिक आंदोलन और सामाजिक परिवर्तन, सम्बन्धी प्रक्रियाओं की अवधारणाओं की व्याख्या आदि को ठीक से देखने की आवश्यकता है। आदिवासी सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं का विश्लेषण भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन और गतिशीलता के प्रतिमानों के संदर्भ में किया जाना चाहिए।

मानव समाज की संरचना और संस्कृति में सामाजिक परिवर्तन का सूत्रपात आंतरिक और बाह्य क्षेत्रों एवं कई स्त्रोतों द्वारा होता है। समाज की संरचना से हमारा संदर्भ अधिसंरचनात्मक सुविधाओं, लोगों में इसके वितरण और सुविधाओं तक, पहुँच से है। जबकि समाज की संस्कृति में परम्पराओं धर्म, जीवन, के मानक और पारस्परिक व्यवहार शामिल हैं।

वर्तमान में किसी भी समाज की संरचना और संस्कृति स्थिर नहीं रही है। उराँव समाज भी इसी दौर से गुजर रहा है। पूर्व अध्याय में सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा में कई कारकों की चर्चा की गयी है। वे परिवर्तन उर्ध्वमुखी या अधोमुखी, एक रेखीय या बहुरेखीय या चक्रीय हो सकती है। सामाजिक परिवर्तन उन्नति या अवनति के रूप में उभर सकती है। अतः सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एक विशिष्ट समाज की संरचना और संस्कृति में बदलाव से है। सामाजिक परिवर्तन कभी-कभी रूढ़िवादी या अतिवादी प्रकृति के सैद्धान्तिक विचारों के रूप में भी होता है। परिवर्तन विशेषतः विज्ञान और प्रौद्योगिकी के कार्यक्षेत्र में संचयी होता है।

परंपरा और आधुनिकता सहवर्ती है, निरन्तरता और परिवर्तन सामाजिक जीवन के अनुभाविक तथ्य है। परंपरा और आधुनिकता सहवर्ती इसलिए भी है क्योंकि सब समाज में स्थिरता और सामाजिक नियत्रंणों की आवश्यकता होती है।

परिवर्तन से होने वाली मांगों और चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए ज्ञान, तकनीकी जानकारी के नए स्तरों को प्राप्त करने हेतु आधुनिकता और परिवर्तन की आवश्यकता होती है । इन्हीं परिस्थितियों के कारण सामाजिक परिवर्तन होता है । सामाजिक तनाव और संघर्ष भी सामाजिक परिवर्तन के स्त्रोत है ।

छोटानागपुर के आदिवासी समाज में प्राचीनकाल से ही कुछ न कुछ परिवर्तन होते रहे हैं । स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इन परिवर्तनों की रफ्तार और अधिक बढ़ गई है । यूनेस्को के सामाजिक विज्ञान कोश के अनुसार – "सामाजिक परिवर्तन में एक समाज की सामाजिक संरचना, संस्थाओं, आदतों या साधनों में पूर्ववर्ती अवस्था से भिन्न दिखने वाले अंतरों को दर्शाता है । ये परिवर्तन (1) कानून या आचार को बाहरी नियत्रंण से रोकने के परिणाम हो सकते हैं, या (2) ये सामाजिक स्थिति या भौतिक सामाजिक वातावरण की विशिष्ट संरचना और प्रभावशाली होते हैं, में परिवर्तन के परिणाम हो सकते हैं, या (3) किसी समाज में विधिवत अपनी आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए किए गए सामाजिक कार्यों के प्रभाव से हो सकते हैं ।

मॉरिस गिन्सवर्ग के शब्दों में यह सामाजिक संरचना अर्थात् समाज के आकार, उसके अंगों की रचना, संतुलन या संगठन के प्रकार में परिवर्तन है ।

किंग्सले डेविस के अनुसार "सामाजिक परिवर्तन से हम केवल उन्हीं परिवर्तनों को समझते हैं जो सामाजिक संगठन अर्थात् समाज के ढाँचे तथा प्रकार्यों में घटित होते हैं ।"

जॉनसन ने "सामाजिक मूल्यों, संस्थाओं, सम्प्रदायों एवं पुरस्कारों, व्यक्तियों तथा उनकी अभिवृतियों एवं योग्यताओं में होनेवाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा है ।"

गिलिन एवं गिलिन का मत है कि "सामाजिक परिवर्तन जीवन की स्वीकृत विधियों में होने वाले परिवर्तनों को कहते हैं, चाहे वे परिवर्तन, भौगोलिक दशाओं के परिवर्तन से हुए हों या सांस्कृतिक साधनों, जनसंख्या की रचना या विचारधारा के परिवर्तन से या प्रसार से अथवा समूह के भीतर ही अविष्कार के फलस्वरूप हुए हों ।"

जोन्स ने सामाजिक परिवर्तन को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "सामाजिक परिवर्तन वह शब्द है, जो सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक अन्तःक्रियाओं अथवा सामाजिक संगठनों के किसी भाग में घटित होने वाले हेर-फेर या संशोधनों के लिए प्रयुक्त किया जाता है ।"

अतः मानवीय सम्बन्धों, व्यवहारों, प्रथाओं, प्रतिमानों, मूल्यों, परिस्थितियों, भूमिकाओं, संस्थाओं सहित सामाजिक संरचना एवं प्रकार्यों में होने वाला परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है ।

विभिन्न भारतीय तथा विदेशी समाज वैज्ञानिकों ने गाँव के अध्ययनों में सहायता के लिए कई अवधारणाओं का प्रयोग किया है । उनमें से प्रमुख हैं - संस्कृतीकरण, दीर्घ एवं लघु परम्परायें, पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण, लौकिकीकरण, औद्योगिकीकरण, शहरीकरण, प्रसार, सीमा प्रदेश, विस्तार जाल और क्रिया प्रतिमान आदि । इन अवधारणाओं को समझे बिना गाँव के अध्ययनों का कार्य अपूर्ण ही रहेगा । इन अवधारणाओं ने ग्रामीण जीवन और घटनाओं को समझने में बहुत योगदान दिया है ।

श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण एवं पश्चिमीकरण की अवधारणा प्रस्तुत की है । संस्कृतीकरण से तात्पर्य उस क्रिया से है जिसके द्वारा एक निम्नजाति उच्च जातियों की जीवन-विधि, देवी-देवता, रहन-सहन, खान-पान आदि को अपनाती है और अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयास करती है । श्रीनिवास के अनुसार ये दोनों मूल्य 'आधुनिकीकरण' की अवधारणा में नहीं पाए जाते हैं । और इसी कारण से श्री निवास ने पश्चिमीकरण की अवधारणा को प्राथमिकता प्रदान की । श्रीनिवास के अनुसार विभिन्न जातियाँ खासतौर पर उच्च जातियों ने ब्रिटिश लोगों की विभिन्न सांस्कृतिक प्रणालियों को अपना लिया है । संस्कृतीकरण में अनुकरण के अतिरिक्त, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, शिक्षा, वैचारिकी और मूल्यों के क्षेत्र में बहुत सी बातें स्वीकार की गई हैं ।

पश्चिमीकरण के परिणामस्वरूप, परिस्थितियों में नई दरारें और विभेद उत्पन्न हुए हैं, और वर्तमान दरारें व विभेद समाप्त नहीं हुए हैं । संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण दोनों सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ हैं । श्रीनिवास ने इनकी व्याख्या इस ढंग से की है, ताकि यह प्रतीत हो कि सम्पूर्ण सामाजिक परिवर्तन इन दोनों प्रक्रियाओं में समाविष्ट है । श्रीनिवास ने सांस्कृतिक दृष्टिकोण की सीमा में कृषि, उद्योग और राजनीतिक व्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन, धनी और निर्धन, भू-स्वामी और कृषक, ताकतवर और कमजोर के बीच बदलते हुए सम्बन्धों की व्याख्या का समावेश नहीं किया है ।

रॉबर्ट रेडफील्ड के मतानुसार सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों का आधार 'परम्परा का सामाजिक संगठन' है । भारत की 'सभ्यता' प्राथमिक या देशज है । इसपर सामाजिक परिवर्तन के विजातीय कारकों का प्रभाव नहीं पड़ा है । भारत

की प्राथमिक सभ्यता लघु परम्पराओं और दीर्घ परम्परा में विभक्त है। लघु परम्परा जनसाधारण और अशिक्षित कृषकों से सम्बन्धित है। दीर्घ परम्परा में अभिजात या कुछ गणमान्य व्यक्तियों का समावेश होता है। लघु और दीर्घ परम्पराओं में निरन्तर अंत:क्रिया रहती है। अत: हम कह सकते हैं कि जनसाधारण और अभिजात के बीच विचारों का प्रवाह और सामाजिक सम्बन्धों का आदान-प्रदान निरंतर होता है।

श्यामाचरण दूबे का मत है कि भारतीय परम्परा की संरचना की जटिलता को समझने के लिए परम्पराओं का द्विभागीकरण पर्याप्त नहीं है। दूबे ने परम्पराओं के सोपान का उल्लेख किया है। दूबे ने 'संस्कृतीकरण' और 'प्रभुजाति' की अवधारणाओं की भी आलोचना की है। वास्तव में, संस्कृतीकरण की अवधारणा द्वारा सांकेतिक सामूहिक गतिशीलता अवास्तविक दिखाई देती है। परम्पराओं के द्विभाजन की आलोचना करते हुए दूबे ने भारत में परम्पराओं के छ: परतोंवाले वर्गीकरण का उल्लेख किया है। ये परम्परायें हैं, :- (1) शास्त्रीय परंपरा, (2) उद्‌गामी राष्ट्रीय परंपरा, (3) क्षेत्रीय परंपरा (4) स्थानीय परंपरा (5) पश्चिमी परंपरा (6) सामाजिक समूहों की उप-सांस्कृतिक परम्परायें। योगेंद्र सिंह का मानना है कि संस्कृतीकरण की अवधारणा के तदर्थ आधार की तरह यह वर्गीकरण भी तदर्थ है। यह अन्वेषणात्मक है। दूबे ने भी संरचना के बजाय संस्कृति पर बल दिया है।

सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन में कारणों और परिणाम, उनकी प्रकृति और समाज के विभिन्न वर्गों पर अन्तरीय प्रभाव का विश्लेषण किया जाता है। पंचम और षष्टम अध्याय में हमने संरचनात्मक और सांस्कृतिक परिवर्तन के विभिन्न उपागमों की व्याख्या की है। हमारी व्याख्या से प्रतीत होगा कि सांस्कृतिक परिवर्तन के अध्ययन पर अत्यधिक बल दिया गया है, और अनेक कार्यक्षेत्रों जिनमें संरचनात्मक परिवर्तन हुए हैं, का विश्लेषण किया गया है। सामाजिक असमानता के परम्परागत स्वरूपों की निरंतरता, नए प्रकार की असमानताओं का अर्विभाव, और इन दोनों के बीच अंत:क्रिया के अध्ययन द्वारा उराँव समाज के संसाधनों की प्रकृति और उनके वितरण के तरीकों के बारे में समझा जा सकता है।

सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिए ग्रामीण जीवन, शहरी जीवन, जाति, परिवार एवं सामाजिक, सांस्कृतिक मानकों और मूल्यों पर नजर डालने की आवश्यकता है। 'पड़हा' महतो व्यवस्था अब उराँव जातियों के बीच प्रकार्यात्मक अंतर्निभरता की व्यवस्था नहीं है। ग्रामवासियों में चुनाव के परिणामस्वरूप बहुत अधिक राजनीतिकरण और गुटबंदी हो गई है। बृहद अर्थव्यवस्था और राजनैतिक व्यवस्था

के प्रभाव के कारण ग्रामीण जीवन बहुत अधिक परिवर्तित हो गया है । उराँव जाति आज केवल खान-पान के सम्बन्धों, विवाह के नियमों और अपवित्रता तथा पवित्रता की धारणाओं पर आधारित अंत:क्रिया प्रतिमानों के मानकों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि जाति चुनावों में एक हित समूह और सामाजिक, सांस्कृतिक गतिशीलता का एक साधन बन चुकी है ।

1951 से 1981 के बीच नगरीय जनसंख्या 6 प्रतिशत बढ़ गई है । शहर और कस्बे उच्च शिक्षा और ज्ञानार्जन के केन्द्र बन गए हैं। गाँवों से नवयुवक प्रारम्भ में शिक्षा के लिए और बाद में नौकरियों के लिए शहरों में आते हैं। गाँवों में निर्गत के अन्य कारक निर्धनता, बेरोजगारी और पर्याप्त स्वास्थ्य सेवा का अभाव है । गाँवों से प्रवर्जन के कारण शहरों पर बहुत अधिक भार हो गया है। इन परिस्थितियों एवं परिवर्तनों के कारण परंपरागत मूल्यों और मानकों की पकड़ ढीली हो रही है। फिर भी विवाह के नियमों का विशेषकर पालन किया जाता है ।

परिवर्तन की दिशा के क्रम में बिहार एवं झारखण्ड के सभी जनजातीय समूह किसी न किसी सीमा तक पश्चिमीकरण की प्रक्रिया से प्रभावित हैं तथा जनजातीय समाज एवं अन्य समुदायों के बीच सम्बन्ध बढ़ रहे हैं फिर भी अन्य समाज के लोग आदिवासियों को हेय दृष्टि से देखते हैं । जैसे-जैसे जनजातीय जनसंख्या पिछड़े क्षेत्र से नगर, उपनगर एवं शहर की ओर भाग रही है वैसे-वैसे जनजातीय समुदाय समांगी होता जा रहा है लेकिन इनकी संख्या बहुत कम है । गाँव में अभी भी अधिकांश जनजातीय आबादी कृषि कार्यों में ही संलग्न हैं । वे लोग अभी भी कुछ हद तक सरकारी, सहकारी एवं सामुदायिक क्रिया-कलाप साथ-साथ करते हैं। समाज में तांत्रिक, वैद्य तथा ओझा-मती अभी भी कुछ सीमा तक प्रभाव बनाये हुए हैं।

कालान्तर में बिहार और झारखण्ड के जनजातीय सामाजिक व्यवस्था पर परिवर्तन का प्रभाव पड़ा तो समाज के कुछ सदस्यों में चेतना तथा संगठन के एकीकृत प्रयास अपनी संस्कृति के कुछ चुने हुए पहलुओं को कायम रखने के लिए पुनर्जागृत हुए। लिंटन ने इसे साहजात्य आंदोलन की संज्ञा दी है। 19वीं शताब्दी के मध्य से बिहार का जनाजतीय इतिहास ऐसे अनेकों पुनर्जागरण आंदोलन से अंकित है । सरदार आंदोलन का पीछा करता बिरसा आंदोलन तथा टाना आंदोलन उराँव मुण्डाओं के सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक असंतोष का मूर्तरूप था ।

1913–14 में जतरा भगत के नेतृत्व में प्रारम्भ किया गया सुधारवादी आंदोलन ने एक राजनैतिक मोड़ लिया। मांसाहार तथा मद्यपान का परित्याग, ज़ादू टोना में अविश्वास, अनुष्ठानिक विशुद्धता, इस मत की प्रमुख विशेषतायें थी।

इस तरह जनजातीय समाज को पुनर्जीवन प्रदान करने वाले आंदोलनों के द्वारा छोटानागपुर की जनजातियाँ अपनी संस्कृति के अच्छे तत्त्वों को बचाने का प्रयास करते रहे तथा कुछ मामलों में शीघ्रता से उन परिवर्तनों को अंगीकार किया जो सहज एवं ग्रहण योग्य थे।

अक्सर जनजातीय क्षेत्रों में शासन करने वाले व्यक्ति उनकी संस्कृति के बारे में बिल्कुल अनभिज्ञ होते हैं। जिसके कारण उनके सामाजिक ढांचे एवं परम्परा में रुकावट डालते हैं। इसलिए जनजातियों के सामाजिक ढांचों का अध्ययन परम आवश्यक है। जनजातीय नीति को ठीक रास्ते पर लाने के लिए और उनकी समस्याओं का उचित हल ढूंढने के लिए सरकार को समाज – वैज्ञानिकों एवं सम्बन्धित जनजातियों का सहारा एवं सलाह लेना चाहिए।

ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के माध्यम के रूप में ग्रामीण नेता परिवर्तन के अन्य अभिकर्त्ताओं के बजाय स्वयं अधिक सफल भूमिका निभा सकते हैं। अत: ग्रामीण नेतृत्व के सम्बन्ध में सही–सही जानकारी प्राप्त करना और विकासोन्मुख एवं गतिशील नेतृत्व के विकास हेतु समुचित व्यवस्था करना नितान्त आवश्यक है। ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यरत विकास कार्यकर्ताओं को जब तक ग्रामीण सामाजिक संस्थाओं के सम्बन्धों में सही जानकारी उपलब्ध नहीं होगी, तब तक वे सही अर्थों में सामाजिक परिवर्तन के अभिकर्त्ता, के रूप में सफल भूमिका नहीं निभा सकते। ग्रामीण जीवन के विविध पक्ष एक दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है। किसी एक पक्ष में परिवर्तन लाने का प्रयत्न उस समय तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक कि ग्रामीण जीवन को उसके समग्र और समन्वित रूप में नहीं समझ लिया जाता।

इन सब बातों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में उराँव संस्कृति का वैज्ञानिक आधार पर विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। मैंने उराँव जीवन के विविध पक्षों के अध्ययन में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण बनाये रखने का सर्वत्र प्रयत्न किया है। साथ ही विद्वानों के अध्ययन से सम्बन्धित जिन अवधारणाओं का प्रतिपादन किया है, उनकी उराँव के सन्दर्भ में विवेचना भी की गयी है।

निष्कर्ष एवं उपसंहार

आज भारतीय समाज-परिवर्तन के जिस दौर से गुजर रहा है और जो बहुआयामी सांस्कृतिक संकट तेजी से उभर रहा है वह देश के सभी विचारशील लोगों के लिए गम्भीर चिन्ता का विषय है । इस समय भारतीय समाज अनेक समस्याओं से ग्रस्त है । साम्प्रदायिक द्वेष, भाषागत और जातिगत झगड़े, आदिवासी असंतोष, बेरोजगारी और आर्थिक विषमता, व्यापक भ्रष्टाचार और मर्यादाहीन व्यवहार ने लोकतंत्र और कानून के शासन को खतरे में डाल दिया है । हमारी सभी सस्थायें और संगठन चाहे वह राजनीतिक और प्रशासनिक हो अथवा धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक, और आर्थिक, इस मर्यादाहीन व्यवहार और भ्रष्टाचार के कारण पतनोन्मुख दिखाई देते हैं । हम एक ऐसे युग में रह रहे हैं, जब इतिहास फिर से लिखा जा रहा है । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उथल-पुथल हो रही है । हर तरफ विरोधी उद्देश्य, असम्बद्ध विचार-धारा दिखाई पड़ती है । हमारा युग अस्थिरता एवं अराजकता का युग है । परम्परा से चली आने वाली सांस्कृतिक प्रतिमान, रूढ़ियों तथा प्रथाओं का विरोध हो रहा है, आदिवासियों पर नवीन प्रभावों की वर्षा सी हो रही है ।

भारत में सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन को परम्परा, आधुनिकता और परिवर्तन के संदर्भ में समझा जा सकता है । परम्पराओं के स्त्रोत लोकगीत, लोक कथायें जिन्हें आधुनिक समाजशास्त्र ने तर्क का ही पूर्वाभ्यास मानकर उनके मूल्य को संकुचित कर दिया है जो उराँव तथा छोटानागपुर के अन्य आदिवासियों के बौद्धिक अभिजनों के लिए एक चुनौती है । यदि वे इस चुनौती को स्वीकार कर सकें तो वे न केवल अपनी आर्थिक विकास को नई दिशा दे सकेंगे, बल्कि अपनी उस अस्मिता को फिर से खोजने तथा अपनी सांस्कृतिक बहुलता को समरूपता का सुदृढ़ आधार प्रदान करने में प्रचुर योगदान दे सकते हैं ।

अनुपालन और परिवर्तन सर्वदेशीय प्रघटना है । व्यवस्था में परिवर्तन और व्यवस्था का परिवर्तन भी सर्वदेशीय है, लेकिन व्यवस्था का परिवर्तन बहुत ही दुर्लभ घटना है, जैसे कि उराँव समाज में हो रहा है । व्यवस्था में परिवर्तन, निरंतर है और लगभग सभी समाजों में सदैव पाया जाता है । सामाजिक परिवर्तन का कारक जनांकिकीय, प्रौद्योगिकीय, आर्थिक, सांस्कृतिक, कानूनी और राजनीतिक है । सांस्कृतिक परिवर्तन आर्थिक परिवर्तन से अधिक तेज है ।

लेकिन झारखण्ड राज्य आदिवासी बाहुल क्षेत्र के रूप में जाना जाता है, और सरकारी आँकड़ों के अनुसार इस आदिवासी बाहुल राज्य के विकास के लिए बहुत कुछ किया गया है एवं किया जा रहा है । लेकिन सरकार इन

आदिवासियों के उत्थान एवं विकास के लिए जो कुछ भी कर रही है, उसका लाभ आदिवासियों को नहीं मिल रहा है। छोटानागपुर के आदिवासी आज भी बेरोजगारी, अशान्ति, शोषण, अशिक्षा, गरीबी एवं भूखमरी के चंगुल में फंसे कराह रहे हैं। आजादी के छः दशक एवं नये राज्य झारखण्ड मिलने के बाद भी भूखे, नंगे बेरोजगारों की संख्या में कमी नहीं आयी और न ही अशिक्षा, शोषण एवं आर्थिक असामानता के अभिशाप को ही मिटाया जा सका।

यद्यपि भारत सरकार ने अनुसूचित जनजातियों की समस्याओं के अध्ययन हेतु एक पृथक आयोग 'अनुसूचित जाति एवं जनजाति आयोग' की स्थापना की है तथा विभिन्न योजनाओं को क्रियान्वित करके इनकी परिस्थितियों में सुधार करने का प्रयत्न किया है। लेकिन सरकारी एवं अर्द्धसरकारी संगठनों की लक्ष्य प्रदान मनोवृति के फलस्वरूप जनजातीय समूहों को इन सुविधाओं का वास्तविक लाभ प्राप्त नहीं हो पा रहा है। क्योंकि विभिन्न सुविधाओं के पश्चात् भी इन जनजातियों की सामाजिक, आर्थिक स्थिति, आज भी दयनीय है। इस स्थिति का व्यवहारिक समाधान तभी संभव है जब इन जनजाति वर्ग, आदिवासी समाज का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन करके उनकी वास्तविक परिस्थितियों एवं उत्तरदायी कारकों के सह सम्बन्धों का वस्तुनिष्ठ परीक्षण किया जाय। जनजातियों के विकास के लिए यह जरूरी है कि इनकी प्रत्येक समस्याओं को राष्ट्रीय समस्या के रूप में आंका जाय, और स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही नीतियाँ बनायीं जायं क्योंकि प्रत्येक जनजाति की अपनी कुछ सामुदायिक, व्यक्तिगत समस्यायें होती है। अतः कोई भी नीति सभी जनजातियों के लिए तब तक लाभप्रद नहीं हो सकती है जब तक कि उनमें स्थानीय समस्याओं के हल का उद्देश्य न हो।

मानवीय दृष्टिकोण से, आर्थिक उन्नति और शिक्षा की व्यवस्था जनजातियों के लिए पहली आवश्यकता है। ये दोनों प्रकार की व्यवस्थायें जब उनके सामने विकल्पों को प्रस्तुत करेंगी, तो उन्हें यह स्वतंत्रता होनी चाहिए कि जीवन के किन प्राचीन मूल्यों को वे बनाये रखना चाहते हैं, किनको नहीं। प्रत्यक्ष रूप से प्रगतिशील समूहों को उनकी संस्कृति में परिवर्तन लाने की कोई अन्य कोशिश नहीं करनी चाहिए। जब आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ एक समूह उन्नतिशील समूह के सम्पर्क में आता है, तो उसके ऊपर उन्नतिशील एवं प्रभावी समूह की संस्कृति छा जाती है। यह प्रक्रिया बिना किसी जबरदस्ती के भी होती है और इसे कोई रोक नहीं सकता। सभी जनजातियों की समस्यायें समान नहीं है, इसलिए इनका एक सामान्य हल नहीं हो सकता। प्रत्येक जनजाति की, अपने क्षेत्र और संस्कृति के आधार पर, अलग-अलग समस्यायें हैं। आर्थिक क्षेत्र में जनजातियों के शोषण को रोकना बहुत आवश्यक है।

जनजातियों के उत्थान के लिए दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनकी आकांक्षाओं, आवश्यकताओं और विचारों को यथोचित मान्यता दी जाय।

जनजातीय उत्थान की नीति के बारे में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सरकार जनजातियों को अपने विचारों और आदर्शों के अनुसार परिवर्तित करने की कोशिश न करें। उनकी संस्कृति में अनेक विशेषतायें हैं जो स्वस्थ और सुंदर जीवन के लिए आवश्यक है। आदिवासियों को भारतीय समाज का एक अंग बनकर विश्व में आगे बढ़ना है, इसलिए उनकी संस्कृति में कुछ न कुछ परिवर्तन तो होना ही है। इन परिस्थितियों में सर्वोत्तम है कि आदिवासियों की उपयोगी संस्थाओं, प्रथाओं और व्यवहारों को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए एक व्यवस्थित तरीके से अन्य संस्कृतियों के गुणों को देने की कोशिश की जाय।

घूरिये आदि विद्वानों ने जनजातीय संदर्भ में उन्नत समाजों का जिक्र किया है। लेकिन उन्नत समाज और पिछड़ा समाज किस आधार पर कहा गया है। अच्छे एवं उन्नत भौतिक साधन से ही किसी समाज को उन्नत माना जाना उचित है क्या ? यदि मनुष्य में उन्नत अच्छे मूल्य, अच्छे सोच-विचार, अच्छे संस्कार न हों। जनजातीय /आदिवासी समाज में भौतिक साधनों की कमी अवश्य रही है लेकिन उनके बीच अच्छे मूल्य, अच्छे सोच-विचार, अच्छी भावना एवं कई अच्छे संस्कार हैं। इनके धर्म-दर्शन में कोई दिखावापन नहीं है "जियो और सभी को जीने दो" का संस्कार इनके आदर्श हैं। और इन मूल्यवान आदर्श को सिखाने वाला, जीवन में सही रास्ता दिखाने वाला पैगम्बर कोई मानव नहीं बल्कि वनस्पति जगत है जिसकी (पूजा आराधना) वे करते हैं। दुनिया को ज़ीवन दान देने वाला यह पैगम्बर मानव से कुछ भी नहीं मांगता। "ढाई अक्षर प्रेम के" इनके जीवन एवं धर्म का दर्शन है। जिसके लिए आज दुनिया प्रयासरत है।

आर्थिक उन्नति पूरी दुनिया को प्रभावित करती हैं। आदिवासी, जनजातीय समाज आर्थिक रूप से पिछड़ा है। यही कारण है कि इस समाज में इतने अच्छे मूल्यों, विचारों, एवं धर्म-दर्शन के होते हुए भी आज इसे पिछड़ा एवं असभ्य कहा जाता है। इनके धर्म-दर्शन को जान बूझकर अनदेखा किया जाता रहा है एवं पिछड़ा कहा गया और इस तरह से इन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता है एवं इन्हें निम्न हिन्दू कहा जाता है। जबकि आदिवासियों, जनजातियों का अपना धर्म है जिसे (अद्दि) सरना धर्म कहा जाता है। यह हिन्दू धर्म से बिल्कुल अलग है किन्तु विद्वानों ने इन्हें पिछड़ा हिन्दू कहा है। आदिवासी विशेषकर झारखण्ड के उराँव मुण्डा, हो संतला, खड़िया आदि का अदि धर्म (सरना) है। इनके (सरना) धर्म-दर्शन को अन्दर से (गहराई तक) जाननें, समझने की इच्छा ईमानदारी से होनी चाहिए, और तभी (सरना) धर्म की गूढ़ बातों (तत्त्वों) को समझा जा सकेगा।

इससे इनके सरल स्वभाव, भोलेपन, सीधे-साधे एवं सादा जीवन को जाना जा सकता है । आज इनको (आदिवासियों को) हर तरह से नकारा जाता है । इसका मुख्य कारण आर्थिक पिछड़ापन ही है । आर्थिक रूप से समुन्नत हो जाने पर इनके धर्म-दर्शन को जानने समझने की लालसा आज के उन्नत कहे जाने वाले तथा-कथित समाज को होगी । आज "पर्यावरण बचाओ, पेड़ लगाओ" की शिक्षा एवं जनजागृति योजनाओं (कम उम्र में विवाह न करना, दहेज न लेना, बेटा-बेटी में फर्क न करना तथा पर्यावरण से सम्बन्धित कार्यों) के लिए सरकार करोड़ों रुपये खर्च करती है जो कि आदिवासियों की जीवन शैली का मुख्य अंग है । इनका जीवन सुबह से शाम तक इन्हीं पेड़ पौधों की सेवा सुश्रुषा में बीतता है अर्थात् इनकी गोद में ही आदिवासियों का जीवन है । इनका धर्म-दर्शन यही सीख देता है । अतः इनके दर्शन को समझकर सभी तरह के प्रदूषण से बचा जा सकता है ।

सांस्कृतिक आधारभूत सिद्धान्तों में क्रान्तिमूलक पुनर्व्यवस्था की अत्यन्त आवश्यकता है । यदि हमें व्यवहारिक जीवन तथा राजनीतिक क्षेत्र में एक समुचित, स्वतंत्र पद्धति की स्थापना करनी है, तो हमें अपनी संस्कृति के सुदूर अतीत की ओर दृष्टिपात करना होगा एवं अपने देश की विचारधारा को मालूम करना होगा जो सदियों से चले आ रहे हैं । हमारी वर्तमान जीवन व्यवस्था, वह कितनी ही कठोर, सख्त हो वहीं से आई है । हमारे देश में, भिन्न परिस्थितियों के फलस्वरूप तथाकथित विकसित सभ्यता हमारी अपनी सभ्यता कभी नहीं हो सकती । अपनी संस्कृति की उर्वरता को बनाये रखने के लिए हमें प्रत्येक नूतन प्रयास को अपने अतीत से सम्बद्ध कर लेना होगा ।

सांस्कृतिक परिवर्तन	–	भटकाव
	–	आकर्षण
	–	नकल
मूल स्वरूप	–	सरना / अद्दी धर्म
प्रभाव	–	हिन्दू / मुस्लिम / ईसाई → अलगाव / विखराव /विघटन
पुनर्रचना / निर्माण के विकल्प	–	एकजुटता
	–	सशक्तीकरण
	–	पुनरुत्थान – सहअस्तित्व

हम जानते हैं कि मनुष्य स्वभाव से ही गतिशील प्राणी है । अतः वह कभी भी स्थिर नहीं रहता । उसमें सदैव परिवर्तन होता रहता है । आज हम जिस अवस्था में जी रहे हैं वह भी परिवर्तन का ही एक रूप है । इसलिए डासन एवं गेटिस ने लिखा है – "क्रिया और परिवर्तन सदैव उपस्थित सर्वभौम तथ्य हैं ।" विद्वानों के मतानुसार "जो संस्कृति गतिशील नहीं होती वे विघटन और समाप्ति की ओर उन्मुख होती है ।"

इसी तरह प्राकृतिक पर्यावरण में भी परिवर्तन होता रहता है । इससे मनुष्यों के आवश्यकताओं में भी परिवर्तन होता है । इन सभी प्रकार के परिवर्तनों से मनुष्य सामंजस्य स्थापित करता है और तब संस्कृति में भी परिवर्तन होता है । इसलिए संस्कृति के गठन एवं मूल्यों में समय के साथ-साथ कुछ परिवर्तन होते रहते हैं ।

समाज और संस्कृति का एक दूसरे के साथ अटूट सम्बन्ध है । समाज के भीतर संस्कृति का निर्माण एवं उसका निर्वहन होता है । सार्वभौम है कि कोई भी संस्कृति जड़वत नहीं होती । उसमें परिवर्तन एवं गतिशीलता पायी जाती है। संस्कृति मानववीय आवश्यकताओं की पूर्ति करती है ।

समाज के अन्दर ही संस्कृति का निर्माण एवं निर्वहन होता है और संस्कृति गतिशील रहती है । मनुष्य समाज में रहकर जो भी अन्तःक्रियाएँ करता है वह सभी समाज विशेष की संस्कृति कहलाती है । संस्कृति विशेष ही समाज को पहचान दिलाती है । किसी समाज विशेष में प्रयोग की जानेवाली प्रतीकात्मक वस्तुओं, मूल्यों, प्रतिमानों तथा विचारों को मानवीय व्यवहार में ढालना संस्कृति विशेष का द्योतक है ।

उराँव समाज भी वर्तमान में परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है । उराँव समाज में सांस्कृतिक परिवर्तन का प्रभाव दो तरह से पड़ रहा है । पहला प्रभाव हिन्दुत्व की ओर से पड़ रहा है । यह कार्य सरकार के रहनुमाओं के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दुओं की संख्या बढ़ाने के लिए किया जा रहा है । इसके लिए कई प्रकार के हथकंडे अपनाये जा रहे हैं । स्कूलों में विद्यार्थियों के नामांकन के समय, भाषा गणना के समय, जनगणना के समय, धर्म गणना के समय इन सरकारी पिट्ठूओं के कार्य को देखा जा सकता है । आदिवासियों के धर्म सरना (आदि धर्म) का कॉलम न देकर सरकार भी यही कार्य करना चाहती है ।

हिन्दू संस्कृति की जड़ें उराँव समाज में गहराई तक समा रही हैं । यह परिवर्तन की प्रक्रिया अचानक नहीं हुई । इस परिवर्तन के लिए प्रयास वर्षों से किया जा रहा है । फलस्वरूप आज उराँव समाज में हिन्दू संस्कृति की झलक दिखाई दे रही है । यह परिवर्तन हमें यथार्थ से दूर ले जा रही है । हम हिन्दू संस्कृति की

बुराइयों को भी अपना रहे हैं एवं अपने समाज को प्रदूषित कर रहे हैं साथ ही कई समस्याओं को आमंत्रित कर रहे हैं । इससे आदिवासी उराँव समाज में विखराव की स्थिति उत्पन्न हो गयी है ।

दूसरा प्रभाव – ईसाई धर्म की ओर से पड़ा है । 1845 में ईसाई मिशनरियों का आगमन छोटानागपुर में हुआ । छोटानागपुर आगमन का इनका मुख्य उद्देश्य ईसाई धर्म का विस्तार करना था । इसके लिए उन्होंने स्वास्थ्य सेवा एवं शिक्षा के मार्ग को अपनाया शिक्षा ने आदिवासियों को एक स्वच्छ दृष्टिकोण दी जिससे समाज में घनात्मक तथा ऋणात्मक दोनों प्रकार के परिवर्तन हुए । शिक्षा के प्रचार-प्रसार से इनमें आत्मबल का संचार हुआ । फलतः आत्मसम्मान की रक्षा हेतु इन्होंने स्वयं आगे बढ़कर कार्य किया । ईसाई धर्म की शिक्षा हेतु आदिवासियों को विदेशों में भेजा गया जिससे इनके विचारों में एक नया आयाम जुड़ा । इन सब बातों से निश्चिय ही आदिवासी समाज लाभान्वित हुआ । लेकिन लाभ के साथ-साथ ईसाईयत ने उराँव समाज को क्षति भी पहुँचाई है ।

वर्तमान में शिक्षित और विकसित उराँव समाज का मूल स्वरूप बिखरता नजर आ रहा है । उराँव समाज के मुख्य तत्व टूट रहे हैं । उराँव संस्कृति के धर्म, दर्शन विचार और मूल्यों का ह्रास हो रहा है । वर्तमान आधुनिक परिवेश में इसे हम विकासमान अवस्था अवश्य कह सकते हैं । लेकिन विकास करने के दौरान इनका जीवन खुशहाल होना चाहिए एवं इस स्थिति में समाज को संगठित होना चाहिए । तत्पश्चात विकसित समाज के मूल्य दर्शन, धर्म एवं राजनीति की एक निश्चित दिशा तय होनी चाहिए जो उराँव समाज को उज्ज्वल भविष्य की ओर ले जाय । लेकिन अब तक उराँव समाज में दूर-दूर तक यह दिखाई नहीं देता । "नम्हैं राजी" और "आबुआ दिशुम" के सपने को हम शायद तिलांजलि दे चुके हैं । अब शिक्षित, विकसित और आधुनिक उराँव समाज सांस्कृतिक परिवर्तन के पश्चात् एक विकृत उराँव समाज का निर्माण कर रहा है ।

निष्कर्षतः यही कहा जा ıकता है कि आधुनिकीकरण और परिवर्तन के दौर से गुजर रहे उराँव समाज को शिक्षित एवं विकसित होकर जन, मन, तन, धन बुद्धि-बल सभी तरह से मजबूत बनना होगा तथा आनेवाली नई पीढ़ी को एक ऐसा संदेश देना होगा जिसमें बुजूर्गों द्वारा दी गयी पारम्परिक कानूनों, मूल्यों एवं आदर्शों का आधुनिकता के साथ तालमेल हो । इस तरह सामवेत रूप से उराँव समाज को एक नई दिशा मिले जो "एक उराँव समाज" बन कर स्वयं को वर्तमान राजनीतिक परिवेश के लिए तैयार करे । तभी हम आदिवासी "नम्हैं राजी" और "आबुआ दिशुम" की परिकल्पना को साकार रूप दे सकते हैं ।

संदर्भ ग्रंथ सूची

क्र० सं०	किताब का नाम	लेखक का नाम	प्रकाशक	प्रकाशन का वर्ष
1.	भारतीय समाज में जनजातिगण	नर्मदेश्वर प्रसाद	बिहार जनजाति शोध संस्थान, बिहार सरकार राँची	1961
2.	कोरकू जनजीवन	डॉ० अशोक द पाटिल	घनवटे चेम्बर्स सीतावर्डी, नागपुर 440012	1993
3.	आदिवासियों के बीच	श्री चन्द्र जैन	किताब घर मेन रोड गाँधी नगर दिल्ली 110031	
4.	कुर्सीनामा (मुण्डाओं का नृजाति इतिहास)	सेम टोपनो	प्र० निदेशक, भारतीय मानव विज्ञान सर्वेक्षण भारत सरकार 27 जवाहर लाल मार्ग कलकत्ता-700016	
5.	Land and people to Tribal Bihar	Narmadeshwar Prasad	Bihar tribal Research Inst. Govt. of Bihar Morabadi Rd. Ranchi Bihar India	1961
6.	The Oraon habitat: A Study in cultural Geography.	Sr. Alomani Anupa Kujur	Published with the permission of R.U. Ranchi	1986
7.	Tribal Society in India	A.K. Pandey	Manik Publication (p) Manik Publication (p) Limited G-19, Vijay Chowk, Laxmi Nagar, New Delhi-110092	1997
8.	Tribal Development in Bihar	K.B. Saxena	Tribal Development in Bihar, an apprisal, bulletin of the Bihar Tribal Welfare Research Institute, Vol. XXV. No. 1 & 2, pp. 1-23	
9.	Tribal Women and Forestry economy: Deforestation, Exploitation and status change	Walter Fernandes	New Delhi. ISI.	1987

क्र० सं०	किताब का नाम	लेखक का नाम	प्रकाशक	प्रकाशन का वर्ष
10.	विश्व के प्रमुख धर्म	पा० डॉ० जी० आर सिंह	हिन्दी थियोलोजिकल लिटरेचर कमिटि 968 नार्थ सिविल लाइन्स जबलपुर	1995
11.	Status of Tribal Women in India, Social change, Vol. 23 No. 4 pp. 15-17	Amar Kumar Singh & C. Rajyalakshmi		1993
12.	मानव जाति की समृद्धि		बहाई पब्लिसिंग ट्रस्ट, 6 केनिग रोड पो० केनिग रोड पो० बाक्स- 19 नयी दिल्ली-110001	बहाई अन्त राष्ट्रीय समुदाय जनसूचना कार्यालय द्वारा प्रस्तुत एक वक्तवय
13.	JHARKHAND MOVEMENT	Ed. By. Dr. R.D. Munda, S. Bosu mullick	International work Group for Indigonous Afairs Classen-sgade-11 E, 2100 copenhagen 0 Denmark	
14.	आदिम धर्म एक परिचय	ख्रिस्टोफर अगस्तुस विकसल तिर्की	हिन्दी थियोलॉजिकल लिटरेचर कमिटि 68 नार्थ सिविल लाइन्स जबलपुर मध्य-प्रदेश-482001	1992
15.	Tribal women and the economy, In tribal women development	Buddhadeb Chaudhuri	ed. I.P. Singh et al New Delhi, Mittal Publication	1988
16.	भारत के यायावर	डॉ० श्याम सिंह शशि	जगत राम एन्ड सन्स IX/221 मेन रोड गाँधी नगर दिल्ली 110031	1984

क्र० सं०	किताब का नाम	लेखक का नाम	प्रकाशक	प्रकाशन का वर्ष
17.	भारतीय जनगणना और झारखण्डी आदिवासी	शशिभूषण कड़वार, अलेक्स एक्का	झारखण्ड नवनिर्माण सभा, झारखण्ड, राँची	2000
18.	The spectrum of Tribal Religion in Bihar	Dr. Karma Oraon	Kishor Vidya Niketan, B- 2/236A, Bhadarini, Varanashi-221001	1988
19.	परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम	डॉ० पूरन चन्द जोशी	राजकमल प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, 1-बी० नेताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली-110002	1987
20.	बिहार के आदिवासी	जियाउद्दीन अहमद	मोतीलाल बनारसीदास बंगला रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-110007	1959
21.	The Oraon of Chotanagpur	S.C. Roy	Man In India Office, 18 Church Road, Ranchi- 834001 Bihar	1915
22.	जनजातीय विकास के चार दशक	ए० आर० एन० श्रीवास्तव	श्री ईशान शिशु, संचालक इन्डोफॉरेन ट्रेड आर्गनाईजेशन (इ०) रजिस्टर्ड (बुक डिवीजन) 537, सुभाष नगर, इलाहाबाद- 211002	1994
23.	समाज दर्शन की रूपरेखा	जे० एस० मेकेंजी तथा डॉ० अजित कु० सिन्हा,भीमराज शर्मा	राजकमल प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, 1- बी० नेताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली -110002	1962
24.	भारतीय संस्कृति और आदिवासी	बिहारी लकड़ा	ग्राम बेजवाली, डाकघर - इरगाँव, जिला- लोहरदगा	
25.	कोयल के किनारे - किनारे	महावीर वर्मा	कपिलदेव नारायण, नावाटोली, डाल्टनगंज	1979
26.	बिरसा मुंडा और उनका आंदोलन	कुमार सुरेश सिंह	वाणी प्रकाशन, 21- ए० दरियागंज नई दिल्ली - 110002	2001
27.	Cultural Jharkhand (Problem and prospect)	बी० पी० केशरी	नागपुरी संस्थान, पिठोरिया, राँची	2003

क्र० सं०	किताब का नाम	लेखक का नाम	प्रकाशक	प्रकाशन का वर्ष
28.	छोटानागपुर का इतिहास	बी० पी० केशरी	विलियम केरी स्टडी एंड रिसर्च सेन्टर, सिरामपुर (कलकत्ता), राँची शाखा	1979
29.	झारखण्ड के सदान	बी० पी० केशरी	छोटानागपुर सांस्कृतिक संघ, बी/ 205/1, जगन्नाथ नगर, राँची-1	1992
30.	English Uraon Dictionary	Ed. Rev. C. Bleses S.J.	Dharmik Sahitya Samiti, Manresha House, Ranchi	1956
31.	मुन्ता पूँप झुम्पा	दवले कुजुर	द एडुकेशन प्रेस, राँची	1950
32.	कुड़ुख़ कत्थ पण्डी	प्रो० पी० लकड़ा	प्रिन्ट- कैथोलिक प्रेस, राँची	1989
33.	छोटानागपुर सर्वे - II	ख्रिस्टोफर लकड़ा (ये० सं०)	जेवियर समाज सेवा संस्थान, पो० बॉ० नं० - 7, पुरूलिया रोड, राँची-834001	1990
34.	भारत की राष्ट्रीय संस्कृति	एस० आबिद हुसैन	नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, ए75 ग्रीन अंसारी रोड दरियागंज नई दिल्ली-110002	1987
35.	यात्रा के पन्ने	राहुल सांकृत्यायन	भारतीय प्रकाशन संस्थान, 4855/ 24, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली-110002	1995
36.	द ट्राइबल कल्चर ऑफ इंडिया	एल० पी० विद्यार्थी, विनय कुमार राय	नवरंग राय, कन्सेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी एच०- 13, बाली नगर, नई दिल्ली-110015	1976
37.	संस्कृति के चार अध्याय	रामधारी सिंह दिनकर	केदार नाथ सिंह, उदयाचल, राष्ट्रकवि दिनकर पथ, राजेन्द्र नगर पटना-800016	1956

क्र० सं०	किताब का नाम	लेखक का नाम	प्रकाशक	प्रकाशन का वर्ष
38.	भारतीय समाज तथा संस्कृति	गुप्ता एवं शर्मा	साहित्य भवन, हॉस्पीटल रोड, आगरा-282003	1987
39.	मुण्डा एवं उराँव का धार्मिक इतिहास	डॉ० दिवाकर मिंज	ओरियन्ट पब्लिकेशन्स, 114, सूर्या निकेतन, सामने आनंद विहार, दिल्ली-110092	1996
40.	तीगा चालखो-जा कुड़ुख़-अंग्रेजी-हिन्दी	डॉ० ख्रिस्त मिखाएल तिग्गा	डॉ० ख्रिस्त मिखाएल तिग्गा, कडरू, राँची	1958
41.	ग्रामर ऑफ द कुँड़ुख़ लैंग्वेज	रेव० फर्ड हॉन	मित्तल पब्लिकेशन, दिल्ली-110035	1908
42.	मानवशास्त्र की रूपरेखा	माथुर, विद्यार्थी और सिंह	केदारनाथ रामनाथ, कालिज रोड, मेरठ-250001	1908
43.	भारतीय समाज एवं संस्कृति	रवीन्द्र नाथ मुकर्जी	विवेक प्रकाशन, 7 यू० ए० जवाहर नगर, दिल्ली-7	1964
44.	उराँव सिम्बोलस	बोनिफास तिर्की, एस० जे०	एन० पी० (इंडिया) बाई द सोसाइटी ऑफ जीसस	1983
45.	उराँव संस्कृति	ब्र० मिखाएल कुजूर, एस० जे०	कृषि विकास केन्द्र, भूसाड़, पत्रालय चन्दवा, जिला-पलामू, बिहार- 829203	1983
46.	मानव शास्त्र	प्रो० रवि तोमर, सुमनेश कुमार	दत्त ब्रदर्स, अजमेर	1971
47.	भारत के आदिवासी	डॉ० अजीत कुमार सिंह, डॉ० अवधेश प्र० सिन्हा	विशाल पब्लिशिंग हाउस, एरोड्रम रोड हिनू, राँची	1987
48.	सामाजिक मानव शास्त्र	डॉ० उग्रनाथ झा, डॉ० माखन झा	नोवेल्टी एंड कम्पनी, पटना	1987
49.	खड़िया लोककथाओं का साहित्यिक और सांस्कृतिक अध्ययन	डॉ० रोज केरकेट्टा	अन्नपूर्णा प्रकाशन, 127/1100 डब्ल्यू-1, साकेत नगर, कानपुर 208014	1990

क्र० सं०	किताब का नाम	लेखक का नाम	प्रकाशक	प्रकाशन का वर्ष
50.	सांस्कृतिक एवं सामाजिक नृतत्व शास्त्र	डॉ० उग्रनाथ झा, डॉ० माखन झा	किशोर विद्या निकेतन, बी 2/236 -ए, भदइनी, वाराणसी-1	1983-84
51.	बिहार का जनजातीय जीवन	उमेश कु० शर्मा	किशोर विद्या निकेतन, बी 2/236 -ए, भदइनी, वाराणसी-1	1991
52.	भारतीय जनजातियों के विकास का ऐतिहासिक विवेचन	आर० सी० वर्मा	सरस्वती प्रकाशन महरौली, गुड़गाँव रोड, नई दिल्ली-110049	1990
53.	भारतीय आदिवासी	डॉ० ललिता प्र० विद्यार्थी	राजश्री पुरुषोत्तम दास टंडन महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ	1975
54.	आदिधर्म (भारतीय आदिवासियों की धार्मिक आस्थाएँ एक प्रारंभिक रूपरेखा)	डॉ० राम दयाल मुण्डा	झारखण्ड प्रकाशन, दिरि ओड़ा, सरनाटोली, राँची कॉलेज के पीछे राँची- 834008	2000
55.	शारीरिक मानवशास्त्र	ए० आर० एन० श्रीवास्तव	ज्ञानदीप प्रकाशन, राजेन्द्र नगर पटना-800016	1992
56.	मुड़मा जतरा : एक परिचय	सुधांशु शेखर मिश्र, विलियम एक्का	अशोक प्रकाशन, राँची	1996
57	जंगल और आदिवासी : शोषण के शिकार	मैथ्यू अरीपरमपिल	ट्राइबल रिसर्च एंड ट्रेनिंग सेन्टर चाईबासा-833201	1988
58.	झारखण्ड (विकास पर परामर्श)	घनश्याम	अभियान, मधुपुर-815353 देवघर, झारखण्ड	
59.	जनजातीय रीति-रिवाज एवं कानून	सं० डॉ० प्रकाश चन्द्र उराँव	बिहार सरकार, कल्याण विभाग, बिहार जनजातीय कल्याण शोध संस्थान मोराबादी, राँची-834008	1995

क्र० सं०	किताब का नाम	लेखक का नाम	प्रकाशक	प्रकाशन का वर्ष
60.	उराँव रिलीजन एंड कस्टमस	एस० सी० राय	ज्ञान पब्लिसिंग हाउस, दिल्ली, 29 /6 शान्ति नगर दिल्ली-110007	1928
61.	उराँव फॉकलोर	ए० ग्रिगनार्ड, एस० जे०	सुपरिन्टेन्डेन्ट, गवर्मेन्ट, प्रिन्टिंग, बिहार एंड उड़ीसा, पटना	1931
62.	उराँव लोकगीत एवं लोककथाएँ	लाला राय निरंजन श्रीवास्तव, भुनेश्वर प्रसाद अवस्थी, अहलाद तिर्की, लिविनस तिर्की	सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली-110016	1997
63.	छोटानागपुर के आदिवासी और उनके गोत्र	संग्रहकर्ता-भाई जोसेफ कन्डुलना, रोम	डोन बोस्को पब्लिकेशन्स डोन बोस्को हटिया, राँची	2003
64.	झारखण्ड के आदिवासी और उनके गोत्र	डॉ० सिकरादास तिर्की		
65.	छोटानागपुर के आदिवासी टाना भगत	गहनु टाना भगत	गहनु टाना भगत ग्राम- चिन्तामन कुरा जामटोली थाना-बसिया, जिला- गुमला	
66.	आदिवासी स्वायत शासन	फैसल अनुराग	ट्राइबल रिसोर्स रिसर्च एंड ट्रेनिंग सेन्टर (ट्रेस) 15, पुरूलिया रोड, राँची बिहार-834001	
67.	सेवार्थम्, वोल्यूम-20	एडीटर- संत अल्बर्ट कॉलेज राँची राँची, इंडिया	संत अल्बर्ट कॉलेज, फेकल्टी ऑफ थियोलॉजी,	1995
68.	सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक नियंत्रण	डॉ० रामनाथ शर्मा, डॉ० राजेन्द्र कु० शर्मा	एटलांटिक पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीव्यूटर्स बी-2, विशाल इन्क्लेव नई दिल्ली-110027	1996
69.	झारखण्डी भाषाओं की समस्यायें तथा संभावनायें	डॉ० बी० पी० केशरी	ज्योति, ज्योति संगम पथ, अपर बाजार राँची-834001	1992

क्र० सं०	किताब का नाम	लेखक का नाम	प्रकाशक	प्रकाशन का वर्ष
70.	ट्राइबल आइडेन्टीटि	श्याम किशोर टुडू, एस० जे०	आर० टी० सी० तरूणोदय, राँची-835240	1997
71.	माई उराँव कल्चर	रेव० एडमंड कैम्पियन	कैथोलिक प्रेस, राँची	1980
72.	मांदर का सुमधुर ताल	ब्र० मथियस टोप्पो	संत अल्बर्टस सेमिनरी, राँची	1977
73.	कुँड़ुख़ फोनेटिक रीडर	डॉ० फ्रांसिस एक्का	सेन्ट्रल इन्स्टीट्यूट ऑफ इंडियन लैंग्वेज मानस गंगोत्री, मैसूर-570006	
74.	कल्चरल छोटानागपुर	संजय बसु मल्लिक	उप्पल पब्लिसिंग हाउस 3, अन्सारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली-110002	1991
75.	कल्चर चेंज इन ट्राइबल बिहार	सच्चिदानन्द	मुण्डा एंड उराँव बुक लैंड पी०भी० टी० पटना	1965
76.	बिहार की जनजातियाँ	कुँवर सिंह तिलारा	प्रकाशन केन्द्र, रेलवे क्रॉसिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ-226007	1986
77.	कल्चर चेंज इन एन उराँव भीलेज	एस० बी० नन्दी	वन्य जाति वोल्यूम-8, पी० पी० 12-20	1960
78.	कुँड़ुख़ भाषा साहित्य का प्रवृत्यात्मक अध्ययन	इन्द्रजीत उराँव	जनरल ऑफ ट्राइबल एंड रीजनल स्टडीज वोल्यूम-I, जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग राँची विश्वविद्यालय, राँची	1987
79.	सोश्योकल्चर इम्पेक्ट ऑफ इन्डस्ट्रीयालाइजेसन ऑन द ट्राइबल भीलेज, अराउंड एच०ई०सी०, कम्पलेक्स, राँची	जी० एम० चौधरी	पी० एच० डी० थीसिस, राँची विश्वविद्यालय, राँची	1977
80.	सम इंडियन ट्राइब्स	निर्मल कुमार बोस	डायरेक्टर, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली-110016	1972

क्र० सं०	किताब का नाम	लेखक का नाम	प्रकाशक	प्रकाशन का वर्ष
81.	इंडियन ट्राइब्स	एम० चक्रवर्ती, डी० मुखर्जी	प्रशान्त भट्टाचार्य, सारस्वत लाईब्रेरी 206 विधान सरन कलकत्ता-6	1971
82.	ट्राइबल चेंज एंड डेवलपमेंट इन इंडिया	लुज हेजेल और राम दयाल मुण्डा		
83.	छोटानागपुर सर्वे	एफ० एस० जे० इवर्न	इंडियन सोशल इन्स्टीट्यूट, इंद्र प्रस्थ प्रेस (सी०बी०टी०) नई दिल्ली-1	1969
84.	डूयिंग थियोलॉजी विथ द पोयेटिक ट्रेडिशन्स ऑफ इंडिया	जोसेफ पाटमुरी	पी० टी० सी० ए०/साथरी	1996
85.	लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया	जी० ई० ग्रियर्सन	दिल्ली इंडिया, वोल्यूम-V	1967
86	द उराँव इकोनोमी : दैन एंड नाऊ	प्रकाश चन्द्र उराँव	बुलेटिन ऑफ बी० टी० डब्ल्यू० आर० आई, राँची, वोल्यूम XXXII नं० 1	1993
87.	बिरसा मुण्डा	महाश्वेता देवी (अनु०- डॉ० राम दयाल मुण्डा)	साईल रकब पुथी सेन्टर बीराटी, कलकत्ता-49	2000
88.	Tribal women labourers: Aspects of economic and physical exploitation.	Sushma Prasad	New Delhi, Gyan Publication Co.	1988
89.	Tribal is beautiful: Cultural, awakening in Chotanagpur, Vol., 14 No. 2. PP 34	Michel Bogaert V.D. S.j.		1984
90.	राइज अप, माई पीपुल एंड क्लेम द प्रोमिस	डॉ० निर्मल मिंज	आई०एस०पी०सी०के०, पो० बॉ० 1585, कश्मीरी गेट दिल्ली-110006	1997
91.	A Tribe in transition: A study in culture pattern	D.N. Majumdar	Logmans Green & Co., London	1937

क्र० सं०	किताब का नाम	लेखक का नाम	प्रकाशक	प्रकाशन का वर्ष
92.	इंडिजीनस आईडेन्टिटी	एस० बसु मल्लिक, एडविन जयदास, अन्तु अक्कारा, अनीता जयदास	नवदीन प्रकाशन केन्द्र, आई० एस० पी० के० पो० बाक्स–1585, कश्मीरी गेट दिल्ली–110006	1993
93.	मरांङ गोमके जयपाल सिंह	डॉ० गिरधारी राम, गोंझू 'गिरिराज'	पझरा प्रकाशन, नागपुरी प्रचारिणी सभा, राँची, झारखण्ड	2001
94.	नारी	बहाई पब्लिशिंग ट्रस्ट नई दिल्ली, भारत	बहाई पब्लिशिंग ट्रस्ट एफ–3/6 ओखला, इंडस्ट्रियल एरिया, फेज–1 नई दिल्ली–110020, इंडिया	1999
95.	भारतीय जन संस्कृति	डी० एन० मजूमदार	अपाला प्रकाशन मुद्रण सहकारी समिति, लि० ए–2 बालदा रोड कॉलनी, लखनऊ–7	1985
96.	मानव संस्कृति	श्यामाचरण दुबे	राजकमल प्रकाशन प्रा० लि० 1–बी, नेताजी, सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002	1993
97.	द अर्थ इज बट वन कंट्री	जॉन हडलसन	बहाई पब्लिशिंग ट्रस्ट, 6 केनिंग रोड, पो० बाक्स–19, नई दिल्ली–110001, भारत	1993
98.	पीटर शांति नवरंगी	डॉ० गिरधारी राम गौंझू, 'गिरिराज'	पझरा प्रकाशन, नागपुरी प्रचारिणी सभा, राँची	1990
99.	नेपाल का आदिवासी जनजातिहरू	तमला याकूब, श्याम अधिकारी	हिज मैजेस्टी गवर्मेंट ऑफ नेपाल मिनिस्ट्री ऑफ लोकल डेवलपमेंट, नेशनल कमिटि फॉर डेवलपमेंट ऑफ नेशनलिटिज अनमनगर, काठमांडू, नेपाल	2000

क्र० सं०	किताब का नाम	लेखक का नाम	प्रकाशक	प्रकाशन का वर्ष
100.	एन हिस्टोरिकल आउटलाइन ऑफ प्री-ब्रिटिश छोटानागपुर	मनगोविन्द बनर्जी	एजुकेशनल पब्लिकेशनस 26/ए जेल रोड ईस्ट, राँची-834001 इंडिया	1993
101.	राज समाज और शिक्षा	कृष्ण कुमार	राजकमल प्रकाशन प्रा० लि० 1-बी नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002	1993
102.	समय और संस्कृति	श्यामाचरण दुबे	वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज नई दिल्ली-110002	1996
103.	शिक्षा समाज और भविष्य	श्यामाचरण दुबे	राधाकृष्ण प्रकाशन, प्राइवेट लि० 2/38 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002	1994
104.	ट्राइबल लांग्वेज एंड कल्चर	डॉ० के महापात्रा	डिपार्टमेंट ऑफ उड़िया विश्व भारती शान्ति निकेतन, पं० बंगाल	1984
105.	आदिवासी क्षेत्र किस ओर ?	डॉ० ब्रह्मदेव शर्मा	सहयोग पुस्तक कुटीर ए, 37 नंगली रजापुर, पूर्वी निजामुद्दीन, नई दिल्ली-110013	1995
106.	यदि बाबा न होते	डॉ० भदन्त आनन्द कौसल्यायन	काशीनाथ मेश्राम, बुद्ध भूमि प्रकाशन बौद्ध प्रशिक्षण संस्थान, बुद्ध भूमि कामठी रोड, नागपुर-441002	1969
107.	परिवर्तनशील समाज के लिए शाश्वत मूल्य	स्वामी रंगनाथानन्द	स्वामी ब्रह्मास्थानन्द, अध्यक्ष रामकृष्ण मठ, रामकृष्ण आश्रम मार्ग घन्तोली, नागपुर-440012	1999
108.	द चेन्जेज ऑफ कल्चर्स	आर्चबिशप थॉमस मेनाम्पराम्पिल	संत पॉल्स, 23 रोड, टी० पी० एस० III, पो० बो० 9814, बान्द्रा बाम्बे-400050	1996

क्र० सं०	किताब का नाम	लेखक का नाम	प्रकाशक	प्रकाशन का वर्ष
109.	Status and role of women among the Birhor, In tribal women in India	A.K. Adhikary	Indian Anthropo-ligical Society, Calcutta	1978
110.	Tribal Law and Justice; A report on the Santhal	W.G. Archer	Concept Publishing Company, New Delhi	1984
111.	द गार्डेन लेबरर्स ऑफ नार्थ ईस्ट इंडिया	सेवस्तियन करोटेम्पर्ल, बी दत्ता राम (सम्पादक)	वेन्दराम इन्स्टीट्यूट, शिलोंग (इंडिया) 793008	1990
112.	थॉटस ऑन एवॉन-जेलाईजेशन	थॉमस मेनाम्परामि्पल	संत पॉलस, 23 रोड, टी०पी० एस० III, पो० बा० 9814, बान्द्रा बाम्बे-400050	1997
113.	इनकल्चरेशन	जूलियन सलदनहा	संत पॉल्स, 23 रोड, टी० पी० एस० III पो० बा० 9814, बान्द्रा बाम्बे-400050	1997
114.	एलीनेशन डिस्पलेस्मेन्ट एंड रीहैबीलिटेशन	एस० बसु मल्लिक, सम्यादीप चटर्जी	उप्पल पब्लिशिंग हाउस, 3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली- 110002	1997
115.	द हिन्दू रिलीजियस थॉट	वाई मसीह		
116.	ड्राफ्टिंग ए पीपुल्स फॉरेस्ट बिल	सम्पादक वाल्टर फर्नाडीस	इंडियन सोशल इन्स्टीट्यूट, 10 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003	1996
117.	आदिवासी और लरका आन्दोलन	बिहारी लकड़ा	राजा कसपूर बारह पड़हा	1966
118.	नागपुरी भाषा	डॉ० श्रवण कुमार गोस्वामी	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना	1976
119.	इम्पेक्ट ऑफ इन्डस्ट्री-लाइजेसन ऑन ए ट्राइब इन साउथ बिहार	पी० के० दास गुप्ता	कलकत्ता : एन्थ्रोपोलिजिकल सर्वे ऑफ इंडिया	1978

इन साउथ बिहार

क्र० सं०	किताब का नाम	लेखक का नाम	प्रकाशक	प्रकाशन का वर्ष
120.	Liturgical Inculturation sacramentaly religiosity and catechesis	Anscar J. Chupungco	The Liturgical press collegeville, minnesota	1992
121.	छोटानागपुर के आदिवासी	जोसेफ कन्डुलना	छोटानागपुर मुंडा संस्कृति समीति लचड़ागढ़, गुमला	1994
122.	सामाजिक कुरीतियाँ	ले० लियो टॉल्सटॉय, अनु० माधव प्रसाद मिश्र	यशपाल जैन, मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल एन-77, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-110001	1992
123.	धर्म और सदाचार	ले० लियो टॉल्सटॉय, अनु० शोभा लाल गुप्त	यशपाल जैन, मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल एन-77, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-110001	1991
124.	अबुव : राज	मैथ्यू अरीपरम्पिल	ट्राइबल रिसर्च एंड ट्रेनिंग सेन्टर पी० बी०-10, चाईबासा-833201	2000
125.	आराध्य देव वृक्ष करम	सरन उराँव	चाला अखड़ा खोड़हा, हेहल पावा टोली, नवयुवक सरना समिति हेहल, राँची	2002
126.	झारखण्ड ही क्यों	वासवी	अभियान, राँची	1998
127.	इन्डीजिनस पीपुल्स इन इंडिया	सम्पादक-सारिनि	सारिनि (सोलिडारिटि एक्शन रिसर्च एंड इन्फॉरमेशन नेटवर्क इन्टरनेशनल)	1997
128.	छोटानागपुर का भूगोल	डॉ० बी०सी० शर्मा		1996
129	धर्म समाज और संस्कृति	कृष्ण मोहन श्रीमाली	ग्रंथ शिल्पी (इडिया) प्रारवेट लिमिटेड बी - 7, सुभाष चौक लक्ष्मी नगर दिल्ली 110092	2005

पत्रिकाएँ

क्र० सं०	पत्रिका	सम्पादक का नाम	प्रकाशक का पता	प्रकाशन का वर्ष
1.	सरना	मनोरंजन बोदरा	सरना समाज, बोकारो इस्पात नगर	1991
2.	वन्य जाति वर्ष 44, वोल्यूम-XLIV नं० 4	जे० एच० चिन्चलकर, डॉ० भूपिन्द्र सिंह, डॉ० पी० एस० मेनन, डॉ० एस० एस० शशि, श्याम मनोहर, डॉ० ए० पी० मंगला	भारतीय आदिम जाति सेवक संघ	1996
3.	नाम कुँड़ख़त खण्डा-1, गन-3	डॉ० ए० तिर्की	जीवन विकास मैत्री, पो० पत्थल गाँव, जिला-जशपुर म० प्र०-496118	1998
4.	नाम कुँड़ख़त खण्डा-2, गन-4	डॉ० ए० तिर्की	जीवन विकास मैत्री, पो० पत्थल गाँव, जिला-जशपुर म० प्र०-496118	1999 (अक्टूबर, दिसम्बर)
5.	नाम कुँड़ख़त खण्डा-2,	डॉ० ए० तिर्की	जीवन विकास मैत्री, पो० पत्थल गाँव, गन-1 जिला-जशपुर म० प्र०-496118	1999 (जनवरी, मार्च)
6.	अखिल झारखण्डी आदिवासी सम्मेलन	बी० लकड़ा	कैथोलिक प्रेस, राँची-1	1998
7.	जनहूल	ज्योत्सना शीला डांग	जनहूल प्रकाशन ट्रस्ट, पुरूलिया रोड, राँची	2002 (सितम्बर)
8.	सरना फूल (सरहूल विशेषांक)	हरि उराँव केन्द्रीय कार्यालय, राँची	सरना नवयुवक संघ,	
9.	सरना फूल, वर्ष-16, अंक-18	हरि उराँव	आदिवासी कॉलेज छात्रावास, राँची	2003
10.	दस्तूर नं०-1	पी० एन० एस० सुरीन	सेन्ट्रल जोन, आई०सी०आई० टी०पी० 62, न्यू गार्डेन सिरोमटोली, राँची	

क्र० सं०	पत्रिका	सम्पादक का नाम	प्रकाशक का पता	प्रकाशन का वर्ष
11.	अखड़ा	वंदना टेटे	झारखण्डी भाषा, साहित्य, संस्कृति अखड़ा, 14-चेशायर होम रोड, बरियातु, राँची, झारखण्ड-834009	2004
12.	स्मारिका	डॉ० एस० बी० महतो	झारखण्डी भाषा साहित्य परिषद समाज विकास केन्द्र, पुरूलिया रोड, राँची-1	1997
13.	आदिवासी, वर्ष 2003, अंक-2	मुकूल लकड़ा (सम्पादक)	सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, राँची, झारखण्ड	2003 (15 अगस्त)
14.	आदिवासी, वर्ष 2004, अंक-5	प्रेम कुमार (सम्पादक)	सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, राँची, झारखण्ड	2004 (15 अगस्त)
15.	जनहूल	ज्योत्सना शीला डांग	जनहूल प्रकाशन ट्रस्ट, पुरूलिया रोड, राँची	2002 (मई)
16.	जनहूल	ज्योत्सना शीला डांग	जनहूल प्रकाशन ट्रस्ट, पुरूलिया रोड, राँची पुरूलिया रोड, राँची	2002 (अक्टूबर)
17.	आदिवासी आवाज (स्थापना अंक)	श्री सीरत कच्छप	कार्तिक उराँव आदिवासी कॉलेज छात्रावास, राँची-1	2001 (जुलाई)
18.	नारी संवाद, वर्ष-1, अंक-3	सम्पादन- डॉ० रेणु दिवान	नारी संवाद, पो० बैग नं०-12 जमशेदपुर-831001	1996 (दिसम्बर)
19.	नारी संवाद, वर्ष-4, अंक-1	सम्पादन- डॉ० रेणु दिवान	नारी संवाद, पो० बैग नं०-12 जमशेदपुर-831001	1999 (जून)
20.	जोहार, जिल्द-1, अंक-2		बिहार सरकार कल्याण विभाग	1980
21.	जनहक, अंक-17	फैसल अनुराग (सम्पादक)	हजारीबाग रोड, थड़पखना, राँची-834001	1998 (मई)
22.	आदिवासी, वर्ष 2003, अंक-3	मुकुल लकड़ा (सम्पादक)		2003 (15 नवम्बर)
23.	हम दलित, वर्ष-9, अंक-11	कृष्णा सोमन (मु० सम्पादक)	सोशल एक्शन ट्रस्ट, 10 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003	1998
24.	स्वशासन का झारखण्डी दावा	स्टेन लूर्द स्वामी	बिंदराय इन्स्टीट्यूट फॉर रिसर्च, स्टडी एंड एक्शन, चाईबासा, झारखण्ड	1998

क्र० सं०	पत्रिका	सम्पादक का नाम	प्रकाशक का पता	प्रकाशन का वर्ष
25.	विश्व दृष्टि,	जेम्स डब्ल्यू, आयर	लिविंग लिटरेचर सेन्टर 42, खान मार्केट, नई दिल्ली-110003	1990 (जून)
26.	राजी पड़हा की अनमोल कड़ियाँ		भिखराम भगत सजी पड़हा, घाघरा, गुमला बिहार	
27.	करम,	मंगरा कुजूर	श्री विद्यालय प्रेस, तेलिनीपाड़ा, हुगली-712125 (पं० बंगाल)	2000
28.	बेंजा	राम कुजूर उराँव	केन्द्रीय आदिवासी सरना आश्रम सरस, पो० देवगाँव, लापुंग, राँची	
29.	श्रद्धा, अंक चार		चंदन मिश्र वनवासी कल्याण केन्द्र झारखण्ड, 32, आरोग्य भवन-1, बरियातु रोड, राँची-834009	2002
30.	भारतीय आदिवासी		डॉ० लक्ष्मण प्र० सिन्हा भारतीय भाषा संस्थान, बी-36, मजिस्ट्रेट कॉलोनी, आशियाना नगर पटना-800025	1999 (अप्रील-जून)
31.	जनहूल	ज्योत्सना शीला डांग	जनहूल प्रकाशन ट्रस्ट, पुरूलिया रोड, राँची	2002 (फरवरी)
32.	जनहूल	ज्योत्सना शीला डांग	जनहूल प्रकाशन ट्रस्ट, पुरूलिया रोड, राँची	2002 (मार्च)
33.	जनहूल	ज्योत्सना शीला डांग	जनहूल प्रकाशन ट्रस्ट, पुरूलिया रोड, राँची	2002 (जून)
34.	जनहूल	ज्योत्सना शीला डांग	जनहूल प्रकाशन ट्रस्ट, पुरूलिया रोड, राँची	2002 (जुलाई)
35.	जनहूल,	ज्योत्सना शीला डांग	जनहूल प्रकाशन ट्रस्ट, पुरूलिया रोड, राँची	2002 (मई)
36.	डहर महली (जनजाति विशेषांक)	डॉ० राम प्रसाद	छोटानागपुर सांस्कृतिक संघ B/205, जगन्नाथपुर राँची-4	1996 (जुलाई)
37.	सिनगी दई, अंक-2	लिवीनस तिर्की	BA/11-D, Munirika DDA, New Delhi - 110067	1999 (अप्रैल-जून)

सांकेतिका

भूमिका

I. पीड़ – पवित्र स्थान, खेत का वह टुकड़ा जो पूवर्जों द्वारा सबसे पहले बनाया गया था।

खूंटकट्टी – जंगल झाड़ को साफ कर तैयार की गई जमीन।

VII. ससन – विशेष पत्थर (बड़े आकार का) कब्र पर गाड़ा जाने वाला।

हड़गड़ी – मृत्यु से सम्बन्धित एक संस्कार (मृत व्यक्ति के अस्थि को गाड़ना)।

कुण्डी – मृत्यु के पश्चात् (हड़गड़ी से पहले) आत्मा को रखने का स्थान।

देवस्थान – पवित्र स्थान जहाँ देवी–देवता स्थापित किये जाते हैं।

देशावली – एक देवी का नाम।

सरना – सरना आदिवासियों का धर्म, पवित्र, पूजा स्थल।

प्रथम अध्याय

ओ रम्फ – ओ (एक सम्बोधन), रम्फ – सूर्य की किरण।

चिच्च – आग।

कुड़आ – माँस को डण्डे या लोहे में गूंथना।

अख़ना – जानना।

अक्खर – जानना (बहुवचन)।

कुड़ख़र – उराँव का मुख्य नाम कुँड़ुख़ है। कुड़खर बहुवचन शब्द है।

धांगड़ – धांगड़ मुण्डारी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ युवा पुरुष होता है।

धांगड़ी – युवती। (मुण्डारी शब्द)

आल – आदमी।

तुड़ुक – कुँड़ुख़ भाषा में दुश्मन या बाहरी व्यक्ति (जिसे हेय दृष्टि से देखा जाता है)।

मुड़मा जतरा – मुड़मा–स्थान का नाम, जतरा– एक त्यौहार। मुड़मा जतरा उराँवों के लिए विशेष महत्त्व रखता है। यह सबसे बड़ा जतरा है।

दिकू – मुण्डारी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ बाहरी लोग या दुश्मन के अर्थ में किया जाता है।

द्वितीय अध्याय

अखड़ा – उराँवों का नृत्य एवं बैठकी स्थल। यह गाँव के बीच में अवस्थित रहता है ।

धुमकुड़िया – शैक्षिक, प्रशिक्षण केन्द्र। यह अखड़ा से सटकर बना होता है ।

पड़हा – उराँवों को सामाजिक संगठन।

गोत्र – प्रत्येक परिवार को अलग पहचान देनेवाला माना गया संस्कारित चिह्न।

टोटेम – पूर्व-पूर्वज, जिनके नाम पर गोत्र का निर्माण हुआ।

जवनख़दी – दामाद।

बालना – जेठ।

बालनी – जेठानी, जेठसास (पति की बड़ी बहन, पत्नी की बड़ी बहन)।

नवठा – हंसी-मजाक में दिया गया नाम।

बबु तम्बस – बाबू के पिता।

बबु तंग्गियो – बाबू की माँ।

डाली ढिबा – वधू मूल्य के रूप में दिया जाने वाला रुपया।

अगुवा – विवाह के लिए दोनों (वर-कन्या पक्ष) से शुरुआत करने वाला व्यक्ति।

पेल्लो एड़पा– पेल्लो-युवती, एड़पा-घर, युवतियों का घर (धुमकुड़िया)।

जोंख एड़पा – जोंख-युवक, एड़पा-घर, युवकों का घर (धुमकुड़िया)।

मायसारी – विवाह प्रसंग में वर की ओर से कन्या की माँ, चाची, मौसी, बड़ी माँ या अन्य माँ रिश्तेवाली को दिया जाने वाला कपड़ा (साड़ी)।

आजी लेदरा – दादी, नानी को वर पक्ष से मिलने वाला विशेष कपड़ा।

बरकी – आजी लेदरा।

सांगहा – एक प्रकार का विवाह।

सारा धोती – वर पक्ष की ओर से साला के लिए धोती दिया जाता है ।

डंडा खिर्रना – विवाह में मेहमानी से सम्बन्धित एक नियम।

डंडा किर्तआना – विवाह में मेहमानी से सम्बन्धित एक नियम।

सन्नी पाही – विवाह तय होने से पहले वर कन्या के पारिवारिक सदस्यों द्वारा (एक दूसरे के घर) में आना-जाना।

कोहा पाही – घर के मुख्य व्यक्तियों द्वारा वर-कन्या (एक दूसरे) के घर आना-जाना।

घरबरी – विवाह तय होने से पहले अन्तिम रूप से मेहमानी जो वर पक्ष में सम्पन्न किया जाता है।

मड़वा – मंडप।

सरात – लड़की पक्ष वाले।

तृतीय अध्याय

अचरैल – जन्म से सम्बन्धित एक संस्कार। (गर्भवती महिला के लिए)

नाद – देवी-देवता, भूत।

खूँट – पीढ़ी।

नामें पिंज्जना – शिशु का नामकरण या छठी करना।

सोड़ा – सखुवा पत्ते का बड़ा दोना।

धर्मेश – उराँव जाति का सर्वोच्च देवता।

साखी – शिशु का नाम, जो दादा-दादी या नाना-नानी के नाम पर रखा जाता है।

मेहमानी – विवाह के पहले कन्या-वर के घर में होने वाले रस्म के लिए दोनों पक्ष के रिश्तेदारों, संगे-सम्बन्धियों एवं दोस्तों का आना-जाना।

ख़द्दी – उराँवों का सबसे बड़ा एवं प्रमुख त्यौहार।

मसड़ा – श्मशान।

ख़द्द मसड़ा – बच्चों का श्मशान।

मसान – श्मशान।

कोठा एड़पा – घर का सबसे भीतरी हिस्सा।

एख़ मन्खना – मृत व्यक्ति के आत्मा को विशेष संस्कार के द्वारा घर में लाना।

कोहा बेन्जा – हड़गड़ी संस्कार को कोहा बेन्जा भी कहा जाता है।

धर्मे बाबा – धर्मेस को धर्मे बाबा कहकर पुकारा, प्रार्थना किया जाता है।

ससन दिरी – ससन-कब्र में गाड़ने वाला पत्थर, दिरी-पत्थर।

सोत बोड़आ – उराँव जाति में ख़द्दी पर्व के पहले नये फल एवं नये सब्जियों को खाना निषिद्ध है। इस नियम का पालन न करनेवाला व्यक्ति सोत बोड़आ कहलाता है। ऐसे व्यक्ति से ख़द्दी पर्व बीतने तक अछूत/अपवित्र माना जाता है। ऐसे व्यक्ति के घर जाना और उन्हें किसी के घर जाना निषिद्ध है।

चाला टोंका – चाला – उराँवों की शक्तिशाली देवी माँ

टोंका – खेत, स्थान (चाला माँ का निवास स्थान)।

जवा पूँप - सात या पाँच प्रकार के बीजों को मिलाकर उगाया गया नन्हा पौधा जिसे करम पूजा में चढ़ाया जाता है ।

भेलवा - एक प्रकार का पौधा जिसे उराँव शुद्ध मानते हैं ।

सिन्दवार - यह भी एक प्रकार का पौधा है जिससे कीटाणु एवं कीड़े-मकोड़े मर जाते हैं ।

तहड़ी - बलि में दिये गये माँस से बनी खिचड़ी ।

गोड़ा धान - टाँड़ (ऊपरी खेत) में उपजने वाला हल्का धान ।

मुक्का सेन्दरा - मुक्का - औरत ।

सेन्दरा - शिकार खेलना (औरतों द्वारा शिकार)।

छछड़ा बेचना - एक प्रकार का शिकार ।

शिकरा - एक शिकारी पक्षी का नाम ।

डंडा कट्टना - किसी भी शुभ कार्य के शुरुआत या अन्त में यह पूजा उराँव परिवार द्वारा किया जाता है ।

हंड़िया - उराँवों का एक पेय पदार्थ तथा पूजा में अर्पित किया जाने वाला प्रसाद (चावल से तैयार किया हुआ) ।

रानू - हंड़िया बनाने की एक दवा ।

गुइया - वर और कन्या के भाई-बहन एक दूसरे को गुइया से सम्बोधन करते हैं ।

सइहा - (1) गुइया को ही कुँड़ुख़ भाषा में गुइ और सइहा कहते हैं ।

सहिया - (2) दूसरे परिवार या जाति के लोगों से एक नेग-नियम के तहत सम्बन्ध जोड़ना ।

कड़सा - विवाह के दिन बारात आने से पहले का एक नियम ।

बड़पहाड़ी - एक प्रकार की पूजा जो प्रत्येक 12 वर्ष में किया जाता है ।

ओटंगा - नर-बलि देने वाला व्यक्ति ।

टोड़ंग-परता - जंगल-पहाड़ ।

एड़पा नाद - घर का देवता ।

चतुर्थ अध्याय

सीलहट – सील (मसाला पीसने वाला पत्थर)।
जुवांठ – हल जोतने के लिए बैल बांधने का एक लकड़ी का सामान।
मदइत – किसी भी परिवार में बड़ा काम (जैसे धान रोपना, छप्पर छारना) होने पर गाँव वाले मिलकर करते हैं। इसके बदले मैं पैसा न देकर सम्बन्धित परिवार सभी व्यक्तियों को खाना खिलाते हैं।
पंचा – गाँव में युवक-युवतियों द्वारा किसी परिवार के लिए सामूहिक कार्य करना।
खटवा – आदिवासी छोड़कर कोई अन्य जाति।

पंचम अध्याय

पटवा – युवाओं के लम्बे बाल समेटने के लिए बना बेल्ट।
टैईया – बगुले के पंखों का बनाया गया गुच्छा (श्रृंगार)।

षष्टम अध्याय

पड़हा पंच – पड़हा – सामाजिक राजनीतिक संगठन।
पंच – पड़हा के सदस्य
भुंइहरी – खूंटकट्टी जमीन को ही भुंइहरी कहा जाता है ।
पद्दा पंचायत – गाँव का पंचायत।

चित्रावली

बला भेंट – 'बलैरा' अर्थात् 'बला एरा' मुण्डारी शब्द है जिसका अर्थ समधिन होता है । विवाह सम्बन्धी रस्मों में पुरुष वर कन्या के पिता समधी जोड़ते हैं। उसी तरह वर कन्या की माताएँ भी एक रस्म के द्वारा समधिन बनती हैं। इसे बला भेंट कहते हैं। यह रस्म मुख्य रूप से शहरी क्षेत्र के उराँवों के बीच में पाया जाता है ।



जन्म संस्कार : (क) नामकरण (नामे पिंज्जना) संस्कार में उराँव महिलाएँ ।



(ख) बच्चे का मुण्डन करते उराँव ।



विवाह संस्कार : (क) विवाह के पश्चात् उराँव वर-वधु



(ख) विवाह पश्चात् एक रस्म (बला भेंट) करती उराँव महिलाएँ



मृत्यु संस्कार : (क) मृत शरीर को जलाने के पश्चात् अस्थि चुनने से पहले का रस्म करता हुआ उराँव युवक एवं महिलाएँ



(ख) नदी में अस्थि प्रवाहित करने जाने से पहले घर में रस्म करता हुआ युवक एवं महिलाएँ ।



पर्व-त्यौहार : (क) करम पूजा के लिए करम पेड़ की डाल लाते हुए युवक ।



(ख) करम पूजा करती हुई युवतियाँ ।

नाम	:	डॉ० शान्ति ख़लख़ो
पिता	:	स्व० कइला उराँव
माता	:	स्व० लखी लकड़ा
ग्राम	:	हनहट जिला – लोहरदगा
वर्तमान पता	:	करमटोली चौक, मोराबादी रोड, राँची – 8 फोन – 0651 – 2550599, 9905328984 (मो०)
शिक्षा	:	एम० ए० (कुड़ुख़) पीएच०डी०
	:	यू० जी० सी०, जे० आर० एफ० (नेट) नेशनल फेलोशिप अवार्ड, नई दिल्ली ।
वृत्ति	:	अध्यापन
कृति	:	1. पुना डहरे 2. उराँव संस्कृति : परिवर्तन एवं दिशाएँ 3. कुड़ुख़ तोड़न अख़आ (यंत्रस्थ)
अन्य	:	विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं एवं शोध-पत्रिकाओं में अनेकानेक लेख प्रकाशित ।
	:	आकाशवाणी एवं दूरदर्शन केन्द्र राँची से कहानी, कविता एवं वार्ताएँ प्रसारित ।
विदेश यात्राएँ	:	राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार / गोष्ठी / कार्यशाला में सहभागिता ।
	:	ब्राजील – 1996, फिलीपिन्स – 1997, जिम्बाब्वे – 1998, थाईलैंड – 2000, स्वीटजरलैंड – 2001
सम्प्रति	:	भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर के ऑनलाइन प्रोजेक्ट – लांग्वेज इन्फोरमेशन सर्विस के लिए कुड़ुख़ की भाषा संरचना का निर्माण कार्य ।
	:	डी०लिट० की उपाधि के लिए "कुड़ुख़ का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन" विषय पर राँची विश्वविद्यालय, राँची में पंजीकृत ।
सदस्य	:	कुड़ुख़ लिटररी सोसायटी, नई दिल्ली ।
	:	कुड़ुख़ (उराँव) उन्नति समाज, राँची, झारखण्ड ।
	:	कुड़ुख़ विकास समिति, राँची, झारखण्ड ।
	:	झारखण्ड सरना मसना विकास समिति, राँची, झारखण्ड ।
	:	दलित सॉलिडारिटी पीपुल्स, नई दिल्ली ।
	:	झारखण्ड सद्भावना मंच, राँची ।

